ALOCHNA HINDI

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GKV

P R
२४
पि. ३६ आ
अि - ८७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ACC N 49424 49425 079580

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या
पुस्तक संख्या
आगत पंजिका संख्या

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

GULZAR BOOK BINDING HOUSE

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

स्टाक प्रमाणीकरण १९८४-१९८५

Stock Verification-20[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ॰ धर्मवीर भारती
सम्पादन डॉ॰ रघुवंश
समिति डॉ॰ ब्रजेश्वर वर्मा
श्री विजयदेवनारायण साही

079580

२६ आलोचना

079580

...यित्व और स्वातन्त्र्य :
... अविच्छिन्न मूल्य (२) — सम्पादकीय
...ारणीकरण का नवीन स्तर — रमाशंकर तिवारी
...ा, प्रगति और परम्परा — लक्ष्मीकान्त वर्मा
...दी-उपन्यास में नये प्रयोग — ब्रजविलास श्रीवास्तव
यूगोस्लावियन साहित्य की वर्तमान समस्या — स्वेतोज़ार पेत्रोविच
लेखक का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है — डॉ॰ शम्भूनाथसिंह
साहित्यिक 'अश्लीलता' का प्रश्न — विजयदेव नारायण साही

K
२८
३७आ
२६,प्र-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

राजकमल प्रकाशन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्रैमासिक आलोचना

अङ्क १ पूर्णाङ्क १७ जनवरी, १९५६

वार्षिक मूल्य १२) इस अङ्क का ३)

सूची

◆ सम्पादकीय

—दायित्व और स्वातन्त्र्य : अविच्छिन्न मूल्य --- १

◆ निबन्ध

—साधारणीकरण का नवीन स्तर : **रमाशंकर तिवारी** --- ७

—प्रयोग, प्रगति और परम्परा : **लक्ष्मीकान्त वर्मा** --- १४

—हिन्दी-उपन्यास में नये प्रयोग : **ब्रजविलास श्रीवास्तव** --- ३२

—यूगोस्लावियन साहित्य की वर्तमान समस्या : **स्वेतोज़ार पेत्रोविच** --- ४०

◆ प्रस्तुत प्रश्न

—लेखक का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है : **डॉ० शम्भूनाथसिंह** --- ४९

—साहित्यिक 'अश्लीलता' का प्रश्न : **विजयदेव नारायण साही** --- ६५

—व्रीडाजुगुप्सामंगलव्यंजकत्वात् : **डॉ० हरदेव बाहरी** --- ७३

◆ अनुशीलन

—रामानन्द-सम्प्रदाय में योग : **डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव** --- ७९

◆ मूल्यांकन

—नया साहित्य : नये प्रश्न : **बच्चनसिंह** --- ८२

—अतिमा : आधुनिक और पुरातन का संतुलन : **बालकृष्ण राव** --- ८९

—वर्तमान कविता में नये गीति-स्वर : **डॉ० रामरतन भटनागर** --- ९६

—रीति, गीति और नई कविता : **प्रयागनारायण त्रिपाठी** --- १०१

—मानस की 'रूसी' भूमिका : **डॉ० कामिल बुल्के** --- १०४

—संत्रस्त पात्रों की घटनाहीन कथा : **लक्ष्मीकान्त वर्मा** --- १०९

—एण्टन चेखव : एक इण्टरव्यू : **मोहन राकेश** --- ११६

—संस्कृति-संघर्ष और वैयक्तिक सम्बन्ध : **रामस्वरूप चतुर्वेदी** --- ११८

—संवेदनात्मक तत्त्वों की एकसूत्रता : **शिवप्रसादसिंह** --- १२४

—नये समाज का उदय : **डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल** --- १२८

—निकष : नवीन दृष्टिकोण का प्रतीक : **गिरिजाकुमार माथुर** --- १३०

◆ परिचय --- १४०

—समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें --- १४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

आलोचना

सम्पादकीय

दायित्व और स्वातन्त्र्य : अविच्छिन्न मूल्य[1]

अन्ततः सामाजिक दायित्व का अर्थ यह नहीं है कि समाज का व्यक्ति के निर्माण के प्रति क्या दृष्टिकोण है, वरन् यह है कि व्यक्ति समाज की मूल्यगत उपलब्धियों के प्रति क्या भाव रखता है या रखना चाहता है। फिर इसलिए भी यह व्यक्ति का दायित्व है कि वह अपनी स्व-प्रकृति तथा व्यक्तित्व में स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने उद्देश्य के अनुकूल निश्चय तथा निर्णय करके कार्य करने वाला प्राणी है। इसी तर्क-पद्धति से यह अपने-आप सिद्ध हो जाता है कि दायित्व आरोपित कर्तव्य नहीं है। हमको यह करना है, ऐसा करना ही है, वह चाहे समाज के हित के लिए ही क्यों न हो—दायित्व नहीं है, विवशता है, नियन्त्रण है। इस प्रकार सामाजिक दायित्व का अर्थ है वैयक्तिक दायित्व, जिसके अन्तर्गत सामाजिक सापेक्षता निहित है। कहा गया है कि समाज के रूप में व्यक्ति कभी परिवार के प्रति, कभी पास-पड़ोस के प्रति, कभी जाति-बिरादरी के प्रति, कभी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति और कभी राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व की बात सोचता है। पर यह परिवार इसलिए है और इसी सीमा तक है कि वह हमारा है अर्थात् व्यक्ति से भिन्न उसकी स्वीकृति नहीं। इस भावात्मक अभिन्नता के बिना व्यक्ति के लिए दायित्व का निर्वाह आरोपित रह जायगा और ऐसे आरोपित दायित्व के मध्य परिवार भले ही चलता रहे पर पारिवारिकता की कल्पना असम्भव हो जायगी। यही बात समाज के प्रत्येक रूप के विषय में समान रूप से लागू है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी उपलब्धि से सामाजिक उपलब्धि को भिन्न नहीं मानता, साधारण स्तर पर अपने हितों और स्वार्थों से सामाजिक हित को अलग नहीं मान पाता। व्यक्ति की प्रगति इसीमें है कि वह सामाजिक समष्टि को गतिशील कर सके, उसका कल्याण यही है कि वह सामाजिक कल्याण में योग-दान दे सके। साथ ही उसको इसका अनुभव भी न हो कि वह कुछ दे रहा है या पा रहा है, क्योंकि समाज उससे अविच्छिन्न है और वह समाज की पूर्णता है।

पुनः इस प्रश्न पर एक दूसरे दृष्टिकोण से

1. १६वें अंक का शेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार करना भी अनिवार्य है। दायित्व का सवाल व्यक्तित्व का इसीलिए है कि सामाजिक चेतना में वह सचेष्ट इकाई के रूप में उद्देश्य की आकांक्षा करने में समर्थ है। सामाजिक अर्थ में दायित्व मात्र उपलब्धि है उस मर्यादा की, जो अपने-आपमें कार्य-कारण की अपेक्षा स्थिति ही अधिक है। उदाहरण के लिए साहचर्य, प्रेम, सहानुभूति अथवा सौन्दर्य आदि ऐसे किसी भी दायित्व को जो सामाजिक कहा जा सकता है, वास्तव में मूल्य ही माना जाना चाहिए जो व्यक्ति की किसी अपेक्षा की अपने-आपमें सार्थक प्रक्रिया है। जब तक दायित्व व्यक्ति के लिए समाज को देने की शर्त है अथवा समाज के लिए पाने की बात है, तब तक यह उसकी चेतन-प्रक्रिया न होकर कार्य-परिणाम के रूप में अधिक संगत जान पड़ता है। यदि व्यक्ति सहानुभूति रखना समाज के प्रति अपना दायित्व मानता है अथवा समाज व्यक्ति से सहानुभूति की माँग दायित्व रूप में करता है, तो ऐसा जान पड़ता है सहानुभूति ऐसा कृत्य है जो व्यक्ति को करता है अर्थात् वह कुछ ऐसा है जो उससे अलग है। इस प्रकार का दायित्व व्यक्ति की स्वकीय इच्छा का प्रतिफलन न होकर आरोपित कार्य की दिशा का संकेत-मात्र देता है। वस्तुतः सहानुभूति, प्रेम या कल्याण की भावना जब व्यक्ति का स्वभाव बन सके तभी वह उसके दायित्व का सहज रूप है। इस रूप में दायित्व उसके व्यक्तित्वकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है, क्योंकि उसकी अपनी स्वीकृति है। इसका अनुभव वह अलग आरोपित वस्तु के समान नहीं करता, वह तो उसकी अपनी प्रकृति, अपने स्वधर्म का अङ्ग बन जाता है।

× × ×

यहाँ से दायित्व का प्रश्न एक ऐसी सीमा निर्धारित कर लेता है, जहाँ वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का अङ्ग नहीं बन जाता, वरन् उसके स्वातन्त्र्य की व्याख्या भी करता है। व्यक्तित्व यदि निर्माण की स्थिति है तो दायित्व उस प्रक्रिया की दिशा है। पर इस दिशा को निर्धारित कौन करेगा? इस निर्माण की प्रक्रिया का साक्षी कौन है, उसकी सापेक्षता क्या है। इन प्रश्नों का उत्तर ऊपर की व्याख्या में अन्तर्निहित है। इस निर्माण की प्रक्रिया की सापेक्षता निश्चय ही मानवता के रूप में जिस समाज की व्याख्या की गई है, उसीसे निर्धारित होती रही है, क्योंकि मानव-मूल्यों की उपलब्धि इसका उद्देश्य है। अपनी निर्णय करने की विवेक-शक्ति के कारण व्यक्ति इसका साक्षी है। परन्तु दायित्व जब स्वधर्म है, तब उसका निर्धारण 'स्व' (Person) की अपनी प्रेरणा करेगी, किसी बाहरी आधार की अपेक्षा उसे नहीं होगी। यह स्वधर्म वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के रूप में उद्भासित होगा। इस विवेक-स्वातंत्र्य से ही व्यक्ति अपनी परम्परा, अपने पक्षपातों, पूर्वग्रहों के बीच अपने दायित्व (स्वधर्म के रूप में) के वास्तविक अर्थ को ग्रहण करता है। यहाँ स्वातन्त्र्य का अर्थ है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में अन्तर्निहित मानवीयता को (मानव-मूल्यों के अर्थ में) समस्त संस्कारों से मुक्त होकर अर्थवान करता है और क्योंकि उसका व्यक्ति समस्त सामाजिक व्यक्तित्वों की समष्टि में ही गतिशील है, इस कारण इस स्वातन्त्र्य के अन्तर्गत अन्य सभी व्यक्तियों के स्वातन्त्र्य का भाव समन्वित है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वातन्त्र्य दूसरे के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य से इस प्रकार बाधित न होकर उसका पूरक ही सिद्ध होता है और स्वातन्त्र्य व्यक्ति के अपने स्वातन्त्र्य के साथ दूसरों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की स्वीकृति भी है। इस प्रकार आन्तरिक स्वधर्म को अनुभूत सत्य के रूप में स्वातन्त्र्य ही उपलब्ध कराता है, इस कारण इसे मौलिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवीय प्रतिमान (अर्थात् समाज के गत्यात्मक प्रतिमान) के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

इस बात को अधिक स्पष्ट रूप में सामने रखना अपेक्षित है। अनेक बार व्यक्तिवादी (Individualistic) स्वतन्त्रता और वैयक्तिक (Personel) स्वतन्त्रता को समान अर्थ में समझने का भ्रम किया जाता है।[1] पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता का विकास हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत महत्त्व का आग्रह बढ़ा है। इस स्वतन्त्रता में दूसरे अनेक व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का अपहरण भी सम्मिलित था। नये प्रतिमान के रूप में स्वीकृत वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अर्थ है समाज के प्रत्येक व्यक्ति की मुक्ति। इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की मुक्ति में अपनी मुक्ति को पा सकेगा। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति यह प्रयत्न करने के बजाय कि दूसरे व्यक्ति उसका मत स्वीकार करें, उसके विचार को ग्रहण करें, उसका अनुकरण करें, अथवा उसके प्रभाव में रहें, उसका प्रयत्न होगा कि प्रत्येक दूसरा व्यक्ति स्वयं स्वतन्त्र रूप से सोच-समझ सके, निर्णय ले सके, और स्वयं अपना स्वधर्म निर्धारित करने में समर्थ हो सके। व्यक्ति अपने विचार में स्वतन्त्र है, उसको प्रकट करने में उस सीमा तक स्वतन्त्र रहेगा, जिस सीमा तक दूसरों की विचार करने की पद्धति को कुण्ठित न करे। पर कार्य रूप में परिणत करने के पूर्व उसे दूसरों की इच्छाओं, आकांक्षाओं, विचारों तथा भावनाओं का समादर करना होगा, क्योंकि उसे दूसरों के व्यक्तित्व के स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा करनी है। वस्तुतः जिस गतिशील समाज की स्थापना की गई है, उसमें समष्टिगत भावना के साथ वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की यह निर्बाध स्थिति सहज है, क्योंकि दायित्व (स्वधर्म) के रूप में यह स्वतः मानवता का मौलिक प्रतिमान है, जिसमें विरोध की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार दायित्व और स्वातन्त्र्य एक ही प्रक्रिया की (अथवा मूल्य की) दो स्थितियाँ भर हैं और उनके साथ 'वैयक्तिक' लगाना उतना ही निरर्थक है जितना 'सामाजिक', वे एक-दूसरे से अविच्छिन्न मूल्य हैं।

× × ×

अन्त में साहित्यकार के दायित्व का प्रश्न आता है और इसके साथ ही उसके व्यक्तित्व तथा स्वातन्त्र्य का प्रश्न भी सन्निहित है। पूछा जा सकता है कि साहित्यकार के प्रश्न को इस प्रकार अलग क्यों रखा गया है। दायित्व के क्षेत्र में अथवा व्यक्तित्व की दृष्टि से उसका विशिष्ट महत्त्व क्या है? उसके महत्त्व के लिए तर्क देना कि साहित्य का प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत है, अधिक तर्क-संगत नहीं है। इस दृष्टि से अन्य अनेक व्यक्ति हैं (धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नेता) जो बहुत बड़े जन-समाज को प्रभावित और नियंत्रित करते हैं। पर इस प्रकार की व्यक्तिगत महत्ता के विषय में काफ़ी

१. बर्डेव के अनुसार "व्यक्तिवाद (Individualism) एक सीमित मनोवृत्ति है जो असंस्कृत, असामाजिक, अन्ध प्रेरणाओं से या एक विशेष सामाजिक स्थिति के प्रति मानसिक प्रक्रिया के रूप में हमारे व्यक्तित्व में उद्भूत हो जाती है और हमारे अपने स्वार्थों और सीमाओं की ओर उन्मुख करती है। वैयक्तिकता (personalism) व्यक्ति का आन्तरिक धर्म है, विकासोन्मुखी सर्जनात्मक वृत्ति है जो स्थायी व्यापक मानवीय मूल्यों को उनकी सम्पूर्ण पूर्णता में पहचानकर, उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार करके अपने व्यवहार को मर्यादित करती है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा जा चुका है। सामाजिक जीवन के अर्थ में साहित्यकार के व्यक्तित्व की समस्या व्यक्ति-मात्र की समस्या से भिन्न नहीं मानी जा सकती। वह अपनी प्रकृति से ही व्यक्तिवादी महत्त्वाकांक्षा से पीड़ित नहीं होता, इस कारण उसमें शासक, अधिनायक अथवा नियन्ता होने की सम्भावनाएँ नहीं रहतीं। पर साथ ही उसकी स्थिति विशिष्ट अवश्य है और उसके व्यक्तित्व की यह विशेषता उसकी रचनात्मक प्रक्रिया की है। वह सामाजिक जीवन का भोक्ता है, साथ ही उसका स्रष्टा भी है और यहीं से प्रश्न एक नवीन मोड़ लेता है। इसी स्थल से उसके दायित्व की व्यंजना और उसके स्वातन्त्र्य का अर्थ किंचित् बदलता है।

कहा गया है कि व्यक्ति महत्त्वपूर्ण होकर (शक्ति, प्रभाव अथवा प्रतिभा की दृष्टि से) समस्त समाज को शासित, मर्यादित अथवा नियन्त्रित करने का अधिकार चाहते हैं। वे वस्तुतः विवेक तथा संयम से हीन ही रहते हैं, क्योंकि उनके लिए विधि-विधानों का महत्त्व है, उनमें अपने मत को प्रतिपादित करने का आग्रह होता है और दूसरों को मनो-नुकूल प्रेरित करने की वांछा विद्यमान रहती है परन्तु साहित्यकार अपनी रचनात्मक प्रक्रिया में इस प्रकार के पक्षपातों से सहज ही अलग रह सकता है, क्योंकि वह समस्त जीवन (मान-वता) के प्रति आस्थावान है। वह अपने रचनात्मक क्षणों में यह नहीं सोचता कि उसका क्या मत है, उसका क्या पक्ष है, उसका क्या वर्ग है। वह बुद्धि से अधिक अपने आन्तरिक विवेक से जीवन को ग्रहण करता है। यदि वह अपनी आन्तरिक संवेदना से हटकर बौद्धिक स्तर पर वस्तु-स्थिति के सत्य को ग्रहण करेगा तो वह जीवन को उपलब्धि के रूप में प्राप्त न करके अपने समस्त पक्षपातों तथा पूर्वग्रहों को व्यक्त करने के लिए विवश हो जाता है। यह सर्जना की प्रकृति का सत्य है कि साहित्य-कार अपने जीवन के स्थान पर दूसरों के क्षणों में जीवित रहता है। वह वस्तुतः अपनी वैय-क्तिक सीमा में समस्त समाज को आत्मसात् करने की प्रक्रिया में ही साहित्य-सर्जन करता है।

ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति और समाज एक ही गत्यात्मक प्रक्रिया के रूप हैं, इस कारण उनकी उपलब्धियाँ एक हैं, उनके मूल्य एक हैं। साहित्यकार सामाजिक जीवन की इसी गति को ग्रहण करता है, इस कारण वह मानव के दायित्व अथवा स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी मौलिक प्रतिमान को अनिवार्यतः महत्त्व देगा। यह स्थिति उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि साहित्य मनुष्य के सांस्कृतिक मूल्यों की उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है। साहित्यकार उसके प्रति तभी ईमानदार रह सकता है, जब वह स्वतन्त्र विवेक अर्थात् आन्तरिक संवेदन से अपने दायित्व की जाँच करे। इस स्थिति में स्पष्टतः दायित्व (साहित्यिक) उसकी सर्जनात्मक प्रक्रिया का अंग बन जायगा। आत्मोपलब्धि के बिना प्रक्रिया का अंग कुछ नहीं बन सकता, ऐसी स्थिति में साहित्यकार के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह समस्त सामाजिक दायित्व को आत्मोपलब्धि के रूप में ग्रहण करे।

वाल्मीकि, कालिदास, होमर, गेटे, शेक्स-पियर, मिल्टन, तुलसी या सूर किसी को भी लें, वे अपनी-अपनी सामाजिक परिस्थिति में जीवन बिताते हुए भी अपनी रचना-प्रक्रिया में अपने सीमित संस्कारों, अनुराग-विराग, ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठकर ही अपने युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों के अनुकूल मानव-हृदय को चित्रित कर सके हैं। मानव-मूल्य के इसी महत्त्व के कारण आज भी उनके साहित्य में हमारे लिए आकर्षण है। ऐसी नहीं है कि समस्त साहित्य और सारे साहित्यकार अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्षपातों और पूर्वग्रहों से मुक्त हो जाते हैं। पर धर्म, सम्प्रदाय पर लिखा गया, राजाश्रय में राजा की प्रशंसा में तथा शृंगार की नाना-विधियों और उद्दीपनों पर लिखा गया और विभिन्न मतवादों के प्रचार के लिए लिखा गया साहित्य वस्तुतः साहित्य की संज्ञा का अधिकारी नहीं रहा है। इसी प्रकार कल्पना को उद्दीप्त करने वाला और व्यक्तिगत वासनाओं को उत्तेजित करने वाला साहित्य भी साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता, क्योंकि यह समस्त साहित्य लेखक की विचार-परतंत्रता, संयमहीनता तथा स्वार्थपरता का द्योतक है और यह दूसरों को भी इसी प्रकार की प्रेरणा देता है। यह साहित्य वास्तव में साहित्य नहीं माना जाता, परन्तु हमने इस कारण इस पर विचार किया है कि अनेक विचारकों ने इस प्रसंग में अश्लीलता तथा उच्छृङ्खलता आदि के प्रश्न को उठाया है। इस प्रकार का साहित्य न तो साहित्यकार के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का द्योतक है और न यह दूसरों की मुक्ति में किसी भी रूप में सहायक हो सकता है, क्योंकि ऐसा साहित्य व्यक्ति की कुण्ठाओं, वासनाओं तथा आवेगों को आक्रान्त करके उसे निष्क्रिय करता है। पर इस प्रकार के साहित्य के लिए सामाजिक चेतना ही सबसे बड़ा प्रतिरोध होती है।

जो साहित्य समय की कसौटी पर खरा उतरा है, या जो युग-युग का साहित्य हो गया है, वह निश्चय ही लेखक की आत्मोपलब्धि का साहित्य है। इन साहित्यकारों ने अपने युग के सामाजिक जीवन को सांस्कृतिक चेतना के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने मात्र राजाओं का वर्णन, घटनाओं का चित्रण तथा विभिन्न अवस्थाओं का दिग्दर्शन नहीं कराया है और न मात्र मतों, सम्प्रदायों तथा विश्वासों का प्रवर्त्तन किया है। उन्होंने युग-जीवन को आत्मगत सत्य के रूप में ग्रहण किया है और अपने साहित्य को युगीन सांस्कृतिक उपलब्धियों का वाहक बनाया है। साहित्यकार की आन्तरिक संवेदना उसके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की शर्त है और इसीके माध्यम से वह मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो पाता है। इस संदर्भ में यदि हम आज के साहित्यकार के व्यक्तित्व के प्रश्न को रखें, तो निश्चय ही उसके स्वातन्त्र्य का आग्रह उसके दायित्व की माँग सिद्ध होगा। उसके इस विवेक-स्वातन्त्र्य को अस्वीकार करने का अर्थ होगा कि हम उसकी आन्तरिक संवेदनशीलता को नियन्त्रित करना चाहते हैं, अर्थात् उसकी रचना-प्रक्रिया को शासित करना चाहते हैं। स्पष्ट ही जिसका अर्थ है कि उसको समाप्त करने की आग्रह प्रकट करते हैं। इस स्वातन्त्र्य को दायित्वहीन, अराजक, उच्छृङ्खल तथा समाज-विरोधी कहना व्यक्ति और समाज के गत्यात्मक सम्बन्ध को अस्वीकार करने के साथ साहित्यकार की रचनात्मक प्रक्रिया न समझना है।

साहित्य की सर्जन-प्रक्रिया की विशिष्ट स्थिति के कारण प्रत्येक युग में यह सम्भव हो सका है कि साहित्यकार धार्मिक मतवादों, दार्शनिक चिन्तन-पद्धतियों तथा राजनीतिक संघर्षों के विरोध के बीच भी सामञ्जस्य और समन्वय का मार्ग प्रशस्त करता आया है। उन सभी पिछले युगों में जिनमें व्यक्ति की सत्ता अपने व्यक्तिवादी रूप में सारे समाज को नियन्त्रित करती रही है (राजा, पुरोहित, पूँजीपति अथवा अधिनायक के रूप में), साहित्यकार ने अपने वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की रक्षा की है और सामाजिक (मानवीय) मूल्यों को गति प्रदान की है। इसका कारण यह है कि साहित्यकार का साहित्यिक-सर्जन के क्षेत्र में व्यक्तिगत कुछ नहीं रहा है। साहित्य उपलब्धि के रूप में भी प्रेषणीय है, इसलिए उसके साथ समष्टि का प्रश्न चिरन्तन है। साहित्यिक व्यक्तित्व और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका स्वातन्त्र्य रचना की प्रेषणीयता के कारण व्यक्तिवादी होकर अपने-आपको कुण्ठित ही कर लेगा। उसके लिए स्वातन्त्र्य मात्र-दायित्व की चेष्टा है और वह समाज (वर्गगत नहीं) की आन्तरिक मर्यादा की सापेक्षता में प्रतिफलित होता है। मानवीय जीवन के अन्य क्षेत्रों में जो-कुछ सांस्कृतिक उपलब्धियों के रूप में स्वीकृत होता रहा है, वह भी इसी आधार पर कि वह मानवीय प्रतिमानों की परम्परा को अग्रसर करने में अविरोधी तत्त्व है। उसने मानवीय मर्यादा को खण्डित न करके इतिहास के क्रम में आगे ही बढ़ाया है। मानवता को खण्डित रूप में मानने वाले धर्म, दर्शन और नीतियाँ हमारे सांस्कृतिक विकास में बाधक ही रही हैं। परन्तु साहित्य ने, निरन्तर मानव-संस्कृति को वहन किया है, युग-विशेष की उपलब्धियों को आगत युगों के लिए सुरक्षित रखा है और यह स्वातन्त्र्य का प्रतिमान साहित्य की रचनात्मक प्रक्रिया की आन्तरिक प्रकृति से उद्भूत है।

साहित्यकार जीवन के अन्दर से जीवन का साक्षात्कार करता है। वह अन्य ज्ञानी-विज्ञानियों के समान मानव-जीवन को वस्तु नहीं मानता और विश्लेषण करके उसकी परीक्षा नहीं करता। इन अनुभूत क्षणों को वह दूसरों के लिए प्रेषणीय बनाता है। इस संवेदन और संप्रेषण की स्थिति में साहित्यकार का व्यक्तित्व इस सीमा तक सामाजिक गत्यात्मकता का अंग बन जाता है कि शायद दूसरा व्यक्ति अपने किसी क्षण में कम ही उस सीमा तक पहुँच सकता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति तथा समाज की सीमा अभिन्न हो जाती है, वह सामाजिक जीवन के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को व्यंजित करता है। इस कारण यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि साहित्यकार का व्यक्तित्व सामान्य होकर भी, अपनी सर्जनशील प्रकृति के कारण विशिष्ट है ऐसी स्थिति में उसके स्वातन्त्र्य की आकांक्षा उसके दायित्व की सबसे बड़ी स्वीकृति है, वस्तुतः यह स्वतन्त्रता उसके लिए सबसे महान् दायित्व है; क्योंकि उसका दायित्व किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र आदि देश-कालगत स्थिर रूपों के प्रति न होकर सम्पूर्ण मानवता के प्रति है, जिसका निर्णय उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही कर सकता है।

ऐसी स्थिति में साहित्यकार (कलाकार) के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का प्रस्ताव मानव-मूल्यों और प्रतिमानों की स्वीकृति तथा उसकी मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए महत्त्वपूर्ण शर्त है। यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि यह स्वातन्त्र्य उसके व्यक्तिगत सामाजिक जीवन की स्वतन्त्रता से अभिन्न होकर भी विशिष्ट अवश्य है। परन्तु साहित्यकार का रचनात्मक परिस्थिति के सम्बन्ध में स्वातन्त्र्य का प्रश्न मौलिक (Basic) और अनिवार्य है, क्योंकि जैसा कहा गया है कि इसका सम्बन्ध साहित्य की मूल प्रकृति से है। समाज का सांस्कृतिक जीवन मानवीय मूल्यों की श्रेष्ठतम अनुभूतियों से संचालित और उन्हींकी उपलब्धियों पर आधारित और विकसित होता है। साहित्य इस सांस्कृतिक संचरण का समर्थ और महत्त्वपूर्ण वाहक है। अतः यदि साहित्यकार मानवीय स्वाधीनता को अपनी साहित्य-रचना का मौलिक प्रतिमान स्वीकार करता है तो यह उसकी रचना-प्रक्रिया (Creative Process) के मुक्त होने की स्वीकृति के साथ अपने गम्भीर दायित्व के प्रति जागरूक होने की घोषणा भी है। इस प्रकार उसके लिए दायित्व और स्वातन्त्र्य अविच्छिन्न मूल्य हैं, एक का भाव दूसरे में आ जाता है, एक में ही दूसरे की स्वीकृति हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

रमाशंकर तिवारी

साधारणीकरण का नवीन स्तर

काव्य जीवन और जगत् से 'मार्मिक छवियों' का संकलन करता है। सत्य एवं सौन्दर्य की जो झलक कवि को प्राप्त होती है, उसे वह अविलम्ब लोक में विकीर्ण कर देने के लिए छटपटाने लगता है। उसकी अनुभूतियाँ, उसकी कामनाएँ और अभिलाषाएँ उसे इतनी प्यारी होती हैं कि वह उन्हें छिपाकर रखने में असमर्थ हो जाता है। कृपण की तरह वह उनके प्रति एक गाढ़ी ममता रखता है, किन्तु कर्ण की तरह वह उन्हें विश्व में बिखेर देना भी चाहता है। बात यह है कि वह अपनी 'व्यक्तिगत' संकीर्ण सीमाओं का अतिक्रमण करके अपनी अनुभूतियों एवं प्रतीतियों के लिए लोक-मान्यता चाहता है। अभिव्यक्ति में उसे अपनी अस्मिता की तृप्ति होती है और वह 'व्यक्ति' से 'विश्व' बन जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जिस मार्मिक छवि का चित्रण कवि करता है, वह भावक अथवा सहृदय को कैसे प्रभावित करती है, और स्वयं उसका दृष्टिकोण क्या रहता है? दूसरे प्रश्न का उत्तर अत्यन्त स्पष्ट है—कवि ने सौन्दर्य अथवा सत्य का साक्षात्कार किया है 'व्यक्ति' के रूप में, किन्तु वह उसे दूसरों तक पहुँचाना चाहता है 'मानव-प्रतिनिधि' के रूप में। उसकी समस्त कला, उसका समग्र शिल्प-विधान इसी चरम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त नियोजित होता है कि उसकी अनुभूतियाँ व्यक्ति का सम्बन्ध विसर्जन करके सामान्य मनुष्यता की सम्पत्ति बन जायँ। कवि के इस दृष्टिकोण से प्रथम प्रश्न का उत्तर भी प्राप्त हो जाता है—कोई चित्र, अपने विशिष्ट वैयक्तिक सम्बन्धों से समन्वित होते हुए भी, भावक के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव में सार्वजनीन स्वरूप ग्रहण कर लेता है। मनोवैज्ञानिक तथ्य भी यही है कि जो वस्तु दूसरे की है, जिससे हमें कोई सम्बन्ध-सरोकार नहीं उसका गहरा प्रभाव हमारे ऊपर क्योंकर पड़ सकता है? कवि द्वारा अंकित चित्र हमें इसीलिए आकर्षित करता है कि उसमें हम कुछ अपनी वस्तु पाते हैं, अपनी ममता का कोई आलम्बन पाते हैं। सभी सहृदय व्यक्ति उस चित्र में अपनी-अपनी अन्तरात्माओं का अनुरणन लाभ करते हैं। वे भूल जाते हैं कि वह संगीत किसी अन्य के हृदय से सम्भूत है, तथा उन्हें यही अनुभव होता है कि वह तान उनकी अपनी ही अन्तर्वीणा की झंकार है। अतएव, जब सभी सहृदय कवि द्वारा चित्रित मनोरम मूर्ति पर अपने निसर्ग-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध अधिकार की भावना से अनुप्राणित होते हैं, तब उसकी वैयक्तिकता का विसर्जन हो जाता है और वह सामान्य सहृदय-मात्र की सम्पत्ति बन जाती है। अभिनव गुप्त के "सकलसहृदयसंवाद-भाजा" में इसी सत्य की स्वीकृति विद्यमान है। उस भाव-मूर्ति की विश्वजनीन ममता प्राप्त करने की सामर्थ्य ही, शास्त्रीय शब्दावली में, 'साधारणीकरण' की शक्ति है।

वस्तुतः आचार्यों ने जब आश्रय एवं आलम्बन के साधारणीकृत होने का सिद्धान्त निरूपित किया, तब उनके समक्ष, समीक्षा के लिए केवल ऐसे काव्य उपस्थित थे जिनमें वर्णित चरित्र आसानी से मनुष्य-जाति के प्रतिनिधि हो सकते थे। उनमें ऐसे मोटे, स्थूल गुणों की प्रतिष्ठा हुई रहती थी कि वे 'व्यक्ति' न होकर 'टाइप' ही अधिक होते थे। उनके प्रेम में और घृणा में, हास्य में एवं रुदन में, कहीं कोई उलझन नहीं रहती थी। फलतः सभी प्रेमी-प्रेमिकाओं अथवा नायक-नायिकाओं को एक ही मापदण्ड से एक ही कसौटी पर रखकर, नापा जा सकता था। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की गहराई के अभाव में, न तो कवि और न भावक ही, ऐसे चित्रों अथवा चरित्रों की कल्पना कर सकते थे, जो सामान्य की सीमाओं को लाँघकर, कुछ जटिल अथवा अपरिचित-से लगें। अतएव, सर्व-स्वीकृत ढाँचे में ढले होने के कारण, काव्यगत पात्र अथवा चरित्र अधिकांशतः सामान्य ही होते थे। जिन काव्यों में आदर्श चरित्रों की सृष्टि होती थी, उनमें आपाततः कुछ असाधारणता दृष्टिगोचर हो सकती थी; लेकिन वहाँ भी ऐसे ही गुणों की अतिरंजना-पूर्ण प्रतिष्ठा कवि का लक्ष्य होता था जो सामान्य मानवता की ममता के भाजन होते थे। इस प्रकार काव्य-वर्णित विभावादिकों का साधारणीकरण मानने में पुराने आचार्यों को कोई मानसिक उलझन नहीं हो सकती थी। यदि सीता या शकुन्तला में सामान्य कामिनीत्व, और राम या दुष्यन्त में सामान्य प्रेमीत्व की कल्पना की गई तो इसमें क्या आपत्ति उठाई जा सकती थी? आचार्यों ने विभावादि के साथ स्थायी भाव का भी साधारणीकरण स्वीकृत किया। वस्तुतः जब भाव निर्वैयक्तिक हो गया हो तो उस भाव को धारण करने वाला व्यक्ति अथवा पात्र अपनी वैयक्तिकता क्योंकर बनाए रख सकता है? भावों में विशिष्टता होने से ही व्यक्तित्व में विशिष्टता आ सकती है। 'व्यक्तित्व' को 'व्यक्ति' से अलग नहीं किया जा सकता। अतएव, व्यक्तित्व के साधारणीकृत हो जाने पर व्यक्ति का भी साधारणीकरण सम्पन्न हो जायगा। परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने विभावादि के साधारणीकरण के साथ ही, भावक का आश्रय के साथ तादात्म्य ('अभेद') मानकर प्रश्न को थोड़ा उलझा दिया है। साधारणीकरण का अभिप्राय यह नहीं है कि आश्रय के साथ पाठक या प्रेक्षक सदैव आत्मीयता का अनुभव करे। प्रेम के मधुर प्रसंगों में तो यह सम्भव हो सकता है, लेकिन अप्रिय आश्रय अथवा कटु भाव के प्रसंग में उसकी संभावना नहीं हो सकती। पुनः, जहाँ आश्रय मनुष्य न होकर कोई इतर प्राणी होगा, वहाँ आश्रय के साथ भावक के तादात्म्य-स्थापन की बात असंगत प्रतीत होगी। 'शाकुन्तलम्' में भयग्रस्त हरिण का जो चित्र दिया गया है, उसमें हरिण के साथ पाठक का तादात्म्य क्या अर्थ रख सकता है? भट्टनायक और अभिनव गुप्त ने आश्रय के साथ अभेद का कोई उल्लेख नहीं किया। अतएव, आश्रय के साथ भावक का तादात्म्य अनेक कारणों से सर्वदा सम्पन्न नहीं हो सकता। तथापि, इस तादात्म्य के अभाव में भी कुछ ऐसे विभावादिकों का साधारणीकरण सम्पन्न हो सकेगा जो सामान्य मनुष्यता अथवा उसके किसी एक अंग-विशेष या समुदाय-विशेष के प्रतीक-रूप में कल्पित एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रित किये गए हैं। आश्रय के साथ तादात्म्य की तर्कना का सहारा लेकर ही, कतिपय आधुनिक विद्वानों ने आश्रय के साधारणीकरण की मान्यता का प्रत्याख्यान किया है[1] जो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। मेरी समझ में, साधारणीकरण के मूल में विभावों की प्रातिनिधिक प्रकृति की स्वीकृति ही सन्निहित थी। उनकी देश-कालादि की सीमाओं के अतिक्रमण की कल्पना का संकेत इसी ओर था। वास्तव में, यह साधारणीकरण तभी सम्पन्न नहीं होगा जब काव्य-वर्णित विभावादि जटिल एवं असाधारण ढंग के रहेंगे। अतएव, इसके आधार पर, विभावादिकों का साधारणीकरण नहीं माना जाय तो यह उचित ही कहा जाना चाहिए; क्योंकि स्थापना ऐसी होनी चाहिए जो सभी परिस्थितियों में ग्राह्य हो।

आलम्बन का साधारणीकरण भी उपर्युक्त तर्कनाओं के आलोक में बाधित हो जाता है। कथा-काव्यों के अतिरिक्त, किसी आत्मनिष्ठ, प्रगीतात्मक अथवा प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करने वाली आधुनिक रचना पर विचार करने से बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। 'दिनकर' की प्रसिद्ध कविता 'हिमालय' हमारी अनेक स्मृतियों को उद्बुद्ध करती है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उससे सभी समानरूपेण उत्तुङ्ग पर्वतमालाओं का भाव हमारे हृदय में उदित हो जाता है, अथवा यह कि विश्व के वैसे ही गगनचुम्बी गिरिशिखर हममें वैसी ही चेतनाएँ जाग्रत करने में समर्थ हो सकेंगे। इसी प्रकार अँगरेजी कवि कीट्स की अत्यन्त प्रसिद्ध रचना 'ओड टु दि नाइटेंगेल' को लीजिए। उसमें उस बुलबुल के मधुर एवं तीखे स्वर के आलम्बन से कवि के अन्तर में जो विषादमयी भावनाएँ प्रादुर्भूत हुई हैं, वे क्या सभी समय, सभी परिस्थितियों में, सभी बुलबुलों के स्वर को सुनने से पैदा हो सकती थीं? स्पष्ट है कि यहाँ उस बुलबुल का साधारणीकरण कोई अर्थ नहीं रखता। जैसा ऊपर कहा गया है, सर्वसामान्य ढाँचे में ढले होने के कारण शकुन्तला इत्यादि साधारण कामिनी के रूप में प्रतिभासित हो सकती हैं; किन्तु आधुनिक काल में जैसे चरित्रों की कुतूहलमूलक सृष्टि हुई है या हो रही है, उनका साधारणीकरण कठिन ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए, हार्डी के उपन्यासों के नारी-पात्रों को लीजिए। ये नारियाँ या तो अनेक से प्रेम करती हैं या अनेक द्वारा प्रेम की भाजन बनाई जाती हैं, या अनेक को प्रवंचित एवं प्रतारित कर, किसी एक से, और बाद को दूसरे से, विवाह कर लेती हैं। इन नारियों को साधारणीकृत स्त्रियों के रूप में क्योंकर समझा जा सकता है; क्योंकि अन्ततोगत्वा सामाजिक का मानस ही तो साधारणीकरण सम्पन्न करता है? इन कठिनाइयों से बचने के लिए आचार्य शुक्ल की यह तर्कना साधारणतः स्वीकार्य प्रतीत होती है कि काव्य का अनुशीलन करते समय 'कल्पना' में मूर्ति तो विशेष की ही होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगा सके जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है—तात्पर्य यह कि आलम्बन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलंबन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं'—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के

१. डॉ० नगेन्द्र : 'रीतिकाव्य की भूमिका', पृ० ४६-५०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।[1] डॉ० नगेन्द्र का यह कथन कि 'शुक्ल जी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है,'[2] युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। शुक्ल जी उसी प्रसंग में आगे कहते हैं "साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं।" अर्थात्, सभी सहृदयों में प्रस्तुत आलम्बन के प्रति लगभग एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया ('रेसपान्स') का प्रदुर्भाव होता है; अर्थात्, सहृदयों की मानसिक प्रतिक्रियाएँ साधारणीभूत होती हैं, उनकी चित्त-वृत्तियों का साधारणीकरण होता है। शुक्ल जी के निरूपण की दुर्बलता वस्तुतः है, "आलम्बनत्व धर्म" का भी साधारणी-करण, अर्थात् आलम्बन में लोक-सामान्य धर्मों की स्थापना मानना जिससे ही—वे सोचते प्रतीत होते हैं—सभी भावकों के मानस पर लगभग समान प्रभाव पड़ सकेगा। लेकिन, आलम्बन में असामान्य एवं असाधारण धर्मों की प्रतिष्ठा होने पर भी, भावकों में समान प्रति-क्रियाएँ उत्पन्न हो सकती हैं यदि उनमें काव्यानुशीलन के दीर्घ अभ्यास के कारण 'तन्मयी-भवनयोग्यता' का विकास हो गया हो।

अब तक हमने देखा है कि आश्रय तथा आलम्बन का साधारणीकरण अप्रतिहत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतएव, कवि की अनुभूति तथा भावक के स्थायी भाव का साधारणीकरण ही अब विवेचनीय ठहरता है।

किसी भी काव्य-कथित प्रसंग में दो प्रकार के चित्रों की प्रतिष्टा होती हैं। पहला चित्र 'स्थूल' होता है जिसकी प्रतीति कवि द्वारा नियोजित शब्द-विन्यास के सहारे होती है। नाटक में नटों की वेश-भूषा इत्यादि से भी इसी स्थूल चित्र के प्रकाशित या व्यंजित होने में सहायता मिलती है। लेकिन, कवि का वास्तविक अभीष्ट वह 'भाव-चित्र' हुआ करता है जिसकी संवेदनीयता के हेतु उसकी समस्त कला अयोजित रहती है। यह भाव-मूर्ति ही साधारणीकरण की अपेक्षा रखती है तथा इस प्रक्रिया में कवि एवं सहृदय, दोनों ही परस्पर सहयोग करते हैं। भारतेन्दु-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' में श्मशान-भूमि में पुत्र-मरण के शोक से अभिभूत होकर विलाप करने वाली शैव्या पर विचार कीजिए। शैव्या को मर्मस्पर्शी अश्रु बहाते हम देखते हैं। प्रथमतः प्रसंग का स्थूल-चित्र, अपने व्यक्तिगत भौतिक आवेष्टन के साथ, हमारी कल्पना में या नेत्रों के समक्ष, उतर आता है। हम शैव्या की वास्तविक परिस्थिति से अभिज्ञता प्राप्त करते हैं। कवि अपनी कला-निपुणता से, अपनी कुशल शिल्प-योजना से, ऐसी स्थिति प्रस्तुत कर देता है कि विलाप करने वाली शैव्या का अत्यन्त मर्म-द्रावक चित्र सामाजिक के मानस में अंकित हो जाता है। अभी तक हम 'स्थूल-चित्र' को ही, उसकी समग्र पूर्णता के साथ, हृदयंगम कर चुके हैं। रंगमंच पर अभिनय की माया अग्रसर है। खुमारी धीरे-धीरे उत्पन्न हो रही है और चित्र की स्थूलता क्रमशः सहृदय प्रेक्षक के मानस से कपूर की नाईं उड़ती जा रही है। कुछ समय के पश्चात् कवि की अभीप्सित भाव-मूर्ति, आध्यात्मिक या मानसिक सूक्ष्मता से आवेष्टित होकर हमारी अन्तरात्मा को अभिभूत कर लेती है। उसी क्षण हममें उस "ब्लेसेड मूड" का आविर्भाव होता है जब हम भूल जाते हैं कि शैव्या की वेदना, शैव्या

१. 'रस-मीमांसा', पृ० ३१२-१४।

२. 'रीतिकाव्य की भूमिका', पृ० ४८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अपनी निजी वेदना है। उस समय हमारे अन्तःकरण का वासनात्मक वेदना-भाव वैसे ही फूट पड़ता है जैसे मृत्तिका-पात्र में जल-स्रवण से उसकी अव्यक्त गंध अथवा परशु के आघात से चन्दन वृक्ष का नैसर्गिक सौरभ। इसी 'स्टेज' पर कवि का 'संवेदन' अथवा अनुभूति (क्योंकि शैव्या को रुलाने के पहले कवि स्वयं रो चुका है।) सामाजिक की संस्कारगत अनुभूति को अतिशयतापूर्वक उद्दीप्त करती है। इसका फल यह होता है कि वह भी मर्म व्यथा के आँसू बहाने लग जाता है, शैव्या की वेदना उसकी वेदना बन जाती है तथा अन्त में, उसकी व्यथा-विह्वल अन्तरात्मा विश्वात्मा के साथ मिल जाती है, 'एकरस हो जाती है'—अर्थात्, उसकी व्यथा का विस्तार हो जाता है, साधारणीकरण (Universalisation) हो जाता है। तदनन्तर यदि कोई विघ्न नहीं हुआ तो उस 'मूड' में अपेक्षित घनत्व का उदय हो जाता है और सामाजिक रसोद्रेक की चर्वणा में तल्लीन हो जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि कवि की अनुभूति भावक की अनुभूति के साथ, दूध-चीनी की तरह मिल जाती है और उस अनिर्वचनीय भाव-माया का जनन करती है जिसमें कवि भी, 'व्यक्ति' की परिधियों का अतिक्रमण करके, मनुष्य-मात्र का प्रतिनिधि हो जाता है। ऐसी दशा में कवि की अनुभूतियों का भी साधारणीकरण सम्पन्न होता है। पहले हमने कहा है कि कवि को, अपनी अनुभूतियों की विज्ञप्ति करने में अपने 'अहं' अथवा 'अस्मिता' के प्रसार का स्वर्ण-संयोग मिलता है। आदिकवि वाल्मीकि के अन्तःकरण पर कामासक्त क्रौंच के निर्मम वध से जो गहरा आघात पहुँचा, उससे उनका समग्र संवेदनात्मक अस्तित्व ही हिल उठा। उस समय जो मर्मस्पर्शी अनुभूति उनकी अन्तरात्मा में आविर्भूत हुई, वह "मा निषाद···" के वाग्निर्झर में निखिल विश्व में विज्ञापित कर दी गई—अब वह निष्करुण कृत्य केवल महर्षि की आत्मा द्वारा ही अभिशप्त नहीं हुआ, प्रत्युत समस्त विश्व के अन्तःकरण की भर्त्सना का भाजन बना। अतएव, कवि की भावनाओं को सार्वजनीन बनाना प्रत्येक कला-कृति का मूल उद्देश्य हुआ करता है अथच उसकी अनुभूतियों की सान्द्रता एवं सचाई के संघर्ष में आकर, भावक के वासनामूलक भाव-स्रोत, उचित कला की योजना से, प्रस्फुटित हो जाते हैं। अतएव, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि और भावक, दोनों की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है। अर्थात् और आगे बढ़कर, हमें यह कहना चाहिए कि किसी 'व्यक्ति' या 'सत्ता' का नहीं, अपितु 'भाव-तत्त्व' का साधारणीकरण घटित होता है जिसमें कवि एवं सहृदय, दोनों बराबरी के साझीदार होते हैं।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि काव्य-चित्रित भाव मानव-जगत् के परम प्रिय एवं सर्वसाधारण-गृहीत भाव ही नहीं होते, यद्यपि यह सच है कि ऐसे भावों का साधारणीकरण अधिक आसानी से हो सकता है। काव्य को लोक-हित से समन्वित करने के कारण शुक्ल जी ने "लोक-सामान्य भाव-भूमि" का उल्लेख किया है। मेरा विचार है कि यह 'लोकसामान्यता' उतनी ही दूर तक स्वीकार की जानी चाहिए जितने से काव्य की संप्रेषणीयता को बल मिलता है तथा उसमें घोर, उद्दाम वैयक्तिकता के निर्बाध विकास की संभावना नियन्त्रित होती है। वर्ड्सवर्थ ने सर्व-साधारण में व्याप्त राग-विरागों ('Joys in the widest commonality spread') के चित्रण की संस्तुति की है। इससे शुक्ल जी की 'लोक-सामान्य भावभूमि' को अनुमोदन मिलता है। तथापि, यह समझ लेना कि कवि की सम्पूर्ण अनुभूतियाँ इस भाव-भूमि तक पहुँच जायँगी, भ्रान्तिपूर्ण होगा। काव्य वस्तुतः हमें अपने क्षुद्र स्वार्थों एवं संकीर्ण प्रयोजनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की परिधि से बाहर ले जाता है। जीवन की सामान्य दिनचर्या में हम 'स्व' से बहुत ऊपर नहीं उठ पाते। हमारे समस्त कार्य-कलाप, हमारी समग्र चिंतन-धारा, हमारा सत्य, हमारा सौन्दर्य, हमारा शिव, सभी प्रयोजन-सापेक्ष होते हैं। सामान्य जीवन की कुण्ठाओं से विमुक्त करने का मंगलमय अनुष्ठान कवि द्वारा सम्पन्न होता है। उस समय वह उच्चतर सत्य, श्रेष्टतर सौन्दर्य और गम्भीरतर शिव का हमें दर्शन कराता है। जितनी योग्यता एवं प्रभविष्णुता के साथ वह उस लोकोत्तर सृष्टि का उन्मीलन करता है, उसी परिमाण में वह अपने व्यक्तित्व की सीमाओं को लाँघकर विश्वात्मा से तादात्म्य स्थापित करने में सफल होता है। काव्य हमें इसी प्रयोजनातीत सौन्दर्य एवं सत्य की अनुभूति कराता है। इसी अर्थ में काव्य विश्वजनीन बनता है और इसी अर्थ में काव्य के भाव-तत्त्व का साधारणीकरण मानना उचित होगा। 'कामायनी' की दार्शनिक भाव-भूमि लोक-सामान्यता की परिधि में नहीं आ सकती; वर्ड्सवर्थ का 'इमॉर्टेलिटी ओड', शेली का 'स्काइलार्क' तथा 'वेस्टविंड' और छायावादी कवियों की अनेक रचनाएँ लोक-सामान्य भाव-भूमि का अनुमोदन प्राप्त नहीं कर सकतीं। गेटे का 'फॉस्ट' तथा दाँते की 'डिवाइन कॉमेडी' लोक सामान्य के धरातल पर नहीं घसीटे जा सकते। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी भावभूमियों का साधारणीकरण नहीं होता। एक सुदीर्घ काल तक इन रचनाओं को जो सम्मान मिलता आया है, उसका रहस्य इस बात के अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि इनमें काव्यानुरागियों ने अपनी ममता के लिए कोई-न-कोई आलम्बन प्राप्त किया है? यह दूसरी बात है कि सामान्य पाठकों के बीच ये काव्य बहुत लोक-प्रिय न हों। साधारणीकरण के लिए परमाश्यक यह है कि काव्यगत भावों में यथेष्ट सचाई, गहराई एवं ज्वलनशीलता रहे तथा उनकी अभिव्यंजना भी मर्मस्पर्शी रहे जिससे हमारे अनुरूप वासनात्मक भाव-स्रोत सबलतापूर्वक उद्वेलित हो सकें। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि केवल कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण मानना एकांगी स्थापना कही जायगी, क्योंकि सहृदता के सहयोग के बिना काव्य के आस्वादित होने की कल्पना की ही नहीं जा सकती। इसीलिए, अभिनव गुप्त ने कवि एवं प्रमाता, दोनों के अनुभवों के साधारणीकरण का निरूपण किया है।

उपर्युक्त स्थापना से एक महत्त्व का निष्कर्ष यह निकलता है कि कवि के साथ भावक का तादात्म्य होना चाहिए— (स्मरण रहे कि कवि के साथ तादात्म्य का अर्थ सर्वदा यह नहीं होगा कि काव्य-वर्णित आश्रय के साथ भी हमारा तादात्म्य हो।) जब कवि और सहृदय, दोनों की अनुभूतियाँ या वासनात्मक भावनाएँ, साधरणीकृत अवस्था में, एक-दूसरे में लय हो जाती हैं, तब यह मानने में कोई संकोच अथवा बाधा नहीं होगी कि कवि और भावक, दोनों का पूर्ण तादात्म्य रसानुभूति के स्तर पर सम्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से पाश्चात्य पंडित भी साधारणीकरण के अनुमोदन के अत्यन्त निकट पहुँच जाते हैं। 'Einfuhlung' अथवा Empathy का सिद्धान्त इस स्वीकृति का निरूपण है कि भावक अपनी स्वतन्त्र सत्ता का विस्मरण करके काव्यगत वस्तु, चित्र अथवा चरित्र से (अपनी मानसिक प्रवृत्तियों का प्रक्षेपण करके ही सही) पूर्ण तादात्म्य उपलब्ध कर लेता है।[1] क्रोचे ने भी यह माना है कि काव्य के रसास्वादन में कवि तथा भावक, दोनों के अलौकिक व्यक्तित्व मिल जाते हैं और वे दोनों एक

१. "Empathy connotes the state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self-consciousness and is identifying himself with some character in the story or screen."— A. E. Mander.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही बन जाते हैं।[१] अपने लौकिक (Empirical) व्यक्तित्व में, वे व्यक्तिगत प्रयोजनों की परिधि को अतिक्रमित करने में असमर्थ होते हैं। किन्तु, अपने सहज या आदर्श (Spontaneous or ideal) रूप में उनकी चित्तभूमियों का एकतान मिलन हो जाता है जहाँ वे विश्वात्मा से अभिन्नता प्राप्त कर लेते हैं। यही अवस्था साधारणीकरण की अभीष्ट दशा है।

वर्तमान कविता में बौद्धिकता के विस्फोट से सशंक होकर अनेक विद्वानों को साधारणीकरण के सामर्थ्य में सन्देह होने लगा है। लेकिन, यह ध्यान में रखने की वस्तु है कि प्रत्येक 'विचार' के साथ कोई-न-कोई 'रागात्मक प्रसंग' अवश्य संलग्न रहता है तथा उस विचार से अभिन्न होने पर सम्बद्ध 'भाव-क्षेत्र' निश्चय ही जाग्रत हो जाता है।[२] अतएव, बौद्धिकता का जितना ही अतिशयतापूर्ण पल्लवन कविता में क्यों न हो, यदि वह कविता की परिधि में परिगणित होने योग्य होगी, तो उसमें कोई 'भावमूर्ति' अवश्य छिपी होगी; वही सहृदय पाठक को आकृष्ट करेगी और उसीके माध्यम से कवि एवं प्रमाता, दोनों की अनुभूतियों का साधारणीकरण सम्पन्न होगा। सम्भव है, सम्प्रति हम रसास्वाद की 'वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यता' में विश्वास न करें, किन्तु वह दूसरी बात होगी। हाँ, यहाँ पर यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रयोगवादी कुछ कविताओं का साधारणीकरण कदाचित् कभी सम्भव न हो सके क्योंकि ऐसे कवि छन्द के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु सौन्दर्य अथवा भाव के क्षेत्र में भी अनगढ़ प्रयोग करने के लिए लालायित हो उठते हैं। निम्न पंक्तियों का 'सत्य' अथवा 'सौन्दर्य' निश्चय ही कवि की व्यक्तिगत सम्पत्ति-मात्र रह जायगा :

(१) "निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
सूत्रसिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नतग्रीव
धैर्य-धन गदहा।"

(२) "सरग था ऊपर,
नीचे पाताल था।"
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था,
दिल दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था।"

मानो कवि काव्य के चिराचरित कोमल, उदात्त एवं शालीन व्यवहार से ऊब गया है अथवा उस धरातल तक उठने की अपनी आभ्यान्तरिक अक्षमता का अनुभव करके नीचे के तलदेश में ही अपना मनबहलाव कर रहा है। अर्थात्, वह स्वयं नहीं चाहता कि उसकी धारणाएँ सार्वजनीन स्वीकृति प्राप्त करें। व्यक्तित्व के एक विशिष्ट स्तर पर ही, सात्त्विकता के एक विशिष्ट उद्रेक के फलस्वरूप ही कवि उस स्पृहणीय 'मधुमती भूमिका' को उपलब्ध कर सकता है।

---

१. "In order to Judge Dante, we must raise ourselvs to his level. Let it be understood that empirically neither we are Dante nor Dante we; but in the moment of Judgement and Contemplation, our spirit is one with that of the poet and in that moment we and he are one single thing."—B. Croce.

२. "Poetry will, therefore, be words which do communicate a 'thought' and the 'emotional field' which it excites, from the mind of the poet to the mind of the reader."— J. Middleton Murry.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्मीकान्त वर्मा

प्रयोग, प्रगति और परम्परा

नई कविता को लेकर इधर जो कुछ भी विभिन्न आलोचकों द्वारा कहा-सुना गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश धारणाएँ काव्यगत सौन्दर्य एवं उसकी मार्मिक संवेदनाओं पर आधारित नहीं की जातीं वरन् नई कविता को केवल बाह्यारोपित मतवाद के कटघरे में बन्द करने का प्रयास किया जाया है। इन सबका परिणाम यह है कि आज जहाँ और प्रकार की आलोचनाएँ नई कविता के सम्बन्ध में प्रस्तुत की जाती हैं वहाँ विशेष रूप से इस बात पर बल दिया जाता है कि नई कविता प्रयोगशील है इसलिए न तो वह प्रगतिशील हो सकती है और न ही परम्परा का अनुकरण ही करती है। काव्य के गुण-दोष, और दायित्व-निर्वाह पर विचार-विमर्श न करके सारा विवाद 'प्रयोगवाद', 'प्रगतिवाद' और 'परम्परावाद' पर ही केन्द्रित कर दिया जाता है और जब कोई भी आलोचक रूढ़िवाद में किसी भी मतवाद को स्वीकारता है, चाहे वह प्रयोगवाद हो, प्रगतिवाद हो अथवा परम्परावाद हो, तो वह सदैव विषय-वस्तु का मूल्यांकन न करके अपने पूर्वग्रहों की रक्षा को ही अपना ध्येय मान बैठता है। कहीं-कहीं यह सारा विवाद अनर्गल प्रलाप की सीमा तक ही रह जाता है, क्योंकि सिवा इसके कि पूर्वग्रहों के कारण वह असन्तुलित, असंगत और अनुचित रूप में काव्य और उसके प्रतिमानों को विकीर्ण करें और दूसरा रचनात्मक दृष्टिकोण न तो वह स्वयं मान पाते हैं और न ही उसके विकास में विश्वास ही प्रदर्शित कर पाते हैं। फलस्वरूप आज यह आवश्यकता अधिक संगत मालूम पड़ती है कि प्रयोग, प्रगति और परम्परा की वास्तविक मर्यादा को गलत प्रकार के पूर्वग्रहों से पृथक् करके सोचा जाय, उसका मूल्यांकन किया जाय, और उनके विश्लेषण के आधार पर वह सारा सब-कुछ, जो असंगत और असन्तुलित व्याख्या के रूप में आज प्रतिपादित किया जा रहा है उसका वास्तविक रूप जाना और समझा जाय।

प्रत्येक नई प्रवृत्ति से चौंककर जो-कुछ भी प्रगति और परम्परा के नाम पर कहा जाता है उसमें केवल उन सड़े हुए तीखे अंशों की झलक-मात्र प्रदर्शित होती है जो समय के विकास के साथ विकसित नहीं हो सके हैं और इसीलिए निर्जीव प्रेत-से केवल आतंक फैलाने में सक्रिय हैं। यदि प्रगतिवाद केवल गति की लकीर पीटकर आज की नई प्रवृत्ति को गलत सिद्ध करना चाहता है तो परम्परा का अनुयायी उस गति के विकास में अनावश्यक रूढ़ियों की इतनी दुहाई देता है कि इतिहास, सभ्यता, संस्कृति और मानवता के समस्त विकासशील तत्त्व कुण्ठित हो जाते हैं और इतनी निर्मम पंगु स्थिति का भास होने लगता है कि उसके बाद न तो प्रगति ही सम्भव है और न प्रयोग। लेकिन इस सारी स्थिति का जीवन्त मजाक यह है कि प्रगति और परम्परा-जैसे दो विरोधी तत्त्व एक साथ मिलकर प्रयोग पर आक्रमण करने लगते हैं। प्रगतिवाद आधुनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग को इसलिए भी बुरा कहता है क्योंकि प्रयोग में सहानुभूति की सशक्त स्वीकृति है और यह स्वीकृति भी ऐसी कि जिसमें दलगत अथवा सम्प्रदायवादी मान्यताओं के विरोध में नये बिन्दुओं को विकसित करने की सम्भावना निहित है। परम्परावादी इसलिए प्रयोग का विरोध करता है क्योंकि उसकी स्थिति ठीक उस योग्य पिता के अयोग्य पुत्र के समान बन जाती है जो अपनी अकर्मण्यता के कारण पैतृक सम्पत्ति की रक्षा ही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य मान बैठा है, उसके पास अपना कुछ नहीं है, वह जीना चाहता है केवल उस पूँजी पर जो कि पूर्वजों ने अपनी मानसिक एवं आत्मिक अनुभूतियों के आधार पर एकत्र की है। संकीर्ण प्रगतिवादी भी परम्परा की दुहाई महज जनमत को अपने वश में करने के लिए देता है। उसका मोह या उसका आकर्षण किसी के प्रति नहीं है। विशेषतया अपनी सांस्कृतिक थाती के प्रति तो है ही नहीं। तुलसी से लेकर पंत तक में वह वर्गचेतना से आक्रान्त पलायनवादी साहित्य की परम्परा सिद्ध कर सकता है बशर्ते कि सम्प्रदायवादी दल उसको ऐसा करने की छूट दे और जब यह छूट मिली है तब उसने ऐसा किया भी है।

जहाँ तक परम्परावादी का प्रश्न है वह भी वह गहन अन्तर्दृष्टि नहीं रखता जो उसे अपने पूर्वजों से मिली है इसलिए वह केवल आँख बन्द करके शब्द-वेध पर अग्रसर होना चाहता है। परम्परा की रक्षा पर जोर देने वाले परम्परा की वृद्धि के प्रति विश्वास नहीं रखते। वह केवल उसकी रक्षा से सतुष्ट हो लेते हैं; क्योंकि उस सम्पति के आधार पर आगे बढ़ने की शक्ति उनके पास नहीं है। इसलिए योग्य पिता के निकम्मे पुत्र की तरह वह अपने पूर्वजों के पुराने यश को सस्ते दामों गिरवी रखकर अपनी लाज ढकने का प्रयास करना है।

लेकिन इन प्रगतिवादी और परम्परादी आलोचकों से भिन्न एक तीसरा वर्ग भी है जो नई प्रवृत्ति को स्वीकार करने में सर्वथा नया ढंग अपनाता है। इस वर्ग की स्थिति अजीब है। वह प्रयोग अथवा नई प्रवृत्ति की खुलकर भर्त्सना भी नहीं करता लेकिन वह उसे स्वीकार करता हो ऐसा भी नहीं है।[१] अतिवादी परम्परावादी के समान वह परम्परा का पूर्ण समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाता है। प्रगतिवादी वह इसलिए नहीं हो पाता, क्योंकि वह स्वयं अन्तर्मन में प्रयोग से प्रभावित है, प्रयोग का समर्थन वह इसलिए नहीं करता क्योंकि उसमें इसका दृढ़ विश्वास नहीं है। यह वर्ग इसलिए तटवर्ती नगर के नागरिक की भाँति नदी की गति देखता है, बाढ़ में खतरे के बिन्दु पर आँख गड़ाये तट से दोनों का रस लेता है, उनका भी जो अभियान के क्षणों में हर लहर के साथ नये प्रतिमान स्थापित कर रहे हैं, साथ ही उनका भी जो नदी में दूध-डाली का तर्पण देकर पितरों को संतुष्ट करने के नाम पर हिंसक बछुओं को पिंडदान खिला रहे हैं। यह वर्ग बहुत ही निर्लिप्त होकर वस्तुस्थिति पर पैंतरे बदलता है, लेकिन हर पैंतरे के बाद अनुभव करता है कि वह कहीं किसी दिशा में एक सूत भी नहीं बढ़ा है, जहाँ था वहीं है, यह बात और है कि परिस्थिति बदल गई है, मूल्यों और दृष्टिकोणों में परिवर्तन आ गया है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है—

---

१. देखिए, 'नयी कविता का भविष्य' : गिरजा कुमार माथुर : आलोचना।
देखिए, 'नयी कविता : मूल्यांकन' : बालकृष्ण राव : आलोचना।
देखिए, 'प्रयोगवादी कवि : एक चेतावनी' : डा० देवराज 'नयी कविता' २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग की सार्थकता किसमें है ? उसकी मर्यादा क्या है ?
परम्परा का महत्त्व क्या है ? उसकी सीमाएँ क्या हैं ?
तथाकथित प्रगति और वास्तविक प्रगति में अन्तर क्या है ?

प्रयोग प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार की सहज प्रकृति है। प्रतिभा की मूल प्रवृत्ति है कि वह नई अनुभूति और आत्मबोध के नये स्तरों को विकासशील दृष्टि से, नये माध्यम और नई पृष्ठभूमियों से, देखने की सजग प्रेरणा दे। जो-कुछ दूसरों ने देखकर, समझकर अथवा अनुभव करके हमें दिया है वह आज के प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार का भी आत्म-सत्य होगा ही, ऐसा स्वीकार करना अवैज्ञानिक एवं रूढ़िगत चेतना का परिचय देता है। जो कुछ हमारे पूर्वजों नें अनुभव किया है उसके साथ उनकी सापेक्ष अनुभूति सम्बद्ध थी और उनके सापेक्ष सत्य के साक्षात्कार को अपने सापेक्ष सत्य से पृथक् न करना देश-काल की मर्यादा को अस्वीकार करना है, साथ ही ह्रास एवं आत्महीनता का भी परिचय देना है। इसलिए जब हम किसी भी सत्य को अपनी सापेक्ष दृष्टि से अनुभव करते हैं और उन अनुभव के क्षणों का आत्म-साक्षात्कार करके व्यक्त करते हैं तो फिर उसमें से अधिकांश ऐसा होता है जो दूसरों की सापेक्षता से भिन्न हो। यह भिन्नता सदैव साहित्य का अंग रही है; क्योंकि इस भिन्नता में लेखक का, युग का, एवं अनुभूतियों का विवेक, उनकी मार्मिकता एवं सहजता भी प्रदर्शित होती रही है। देश, काल के भिन्न आयाम भी इन्हींके माध्यम से अंकित होते रहे हैं और यही नया प्रयोग भी माना जाता रहा है। इसमें न तो किसी को आपत्ति रही है और न होनी चाहिए। यदि इस भिन्नता को न स्वीकार किया जाता तो आज का समस्त साहित्य पुनरावृत्ति-मात्र बनकर रह जाता।

पुनरावृत्ति यदि वह साहित्य में हो अथवा किसी अन्य क्षेत्र में, यह सिद्ध करती है कि मौलिक प्रतिभा का ह्रास हो रहा है। दृष्टि (vision) में रुकावट पैदा हो गई है।[1] इसके विपरीत प्रयोग प्रबुद्ध चेतना को परिलक्षित करता है; जिसके आधार पर नये मूल्यों, नये आयामों और नई प्रवृत्तियों का विकास होता है। जिस कला में कृतिकार का व्यक्तित्व रचना से सम्बद्ध नहीं होता अथवा जो जीवन को एक परिधि में बाँधकर देखने को ही कला की मर्यादा समझता है। उसके सामने केवल दो ही रास्ते शेष बचते हैं—प्रथम तो यह कि वह विगत पीढ़ी की समस्त रचना-विधि एवं अभिव्यंजना को ज्यों का-त्यों स्वीकार कर ले अथवा उनके अतिरिक्त नया रास्ता ढूँढे, नये प्रयोग करे। जो नये अन्वेषण को अपराध समझते हैं वे परम्परा की खोखली खाल ओढ़कर पुनरावृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं। जहाँ तक नई कविता का सम्बन्ध है वह पुनरावृत्ति के दोष से मुक्त है, मिथ्या रूप-आकर्षण से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए वह प्रयोगशील होती है। प्रयोगशील वह इसलिए और भी है क्योंकि वह आत्मभुक्त (Self realised) क्षणों को, वाह्यरोपित श्रुतिधर्मा

---

१. Art only begins where imitation ends, but something must come into my work of fuller memory of words, perhaps, of richer cadences, of more curious effects of simpler architectural order, of some aesthetic quality at any rate."
—Oscar wilde : De Profoundis.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति से, अधिक श्रेयस्कर समझती है अर्थात् अपने आत्मसात् सत्य को अपनी अनुभूति की गहराई के साथ अपने ढंग से व्यक्त करना अपना नैतिक धर्म मानती है। जहाँ पुनरावृत्ति कला का दोष है वहाँ प्रयोग उसके भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष को व्यक्त करने की मुक्त प्रक्रिया है, विवेक रखते हुए भिन्नता को स्वीकार करने की क्षमता है, नये अनुभव-क्षेत्रों को उद्घाटित करने की शक्ति है, और इस सबसे भी बढ़कर उसके पास वह अन्तर्दृष्टि (vision) है जो हमें जीवन को नये माध्यमों से देखने की प्रेरणा देती है।[१] जो लोग सत्य के अमूर्त, निरपेक्ष (Absolute) होने के हामी हैं और उसकी अनेकता में अविश्वास करते हैं वे सत्य के पहचानने में भ्रम पैदा करते हैं; क्योंकि सत्य केवल निरपेक्ष रूप में कोई भी महत्त्व नहीं रखता। उसकी असली कसौटी उसकी सापेक्षता में है। व्यक्ति, समाज, आदर्श, यथार्थ, परम्परा, विकास, इन सबकी सापेक्षता में सत्य के रूप भी बदलते रहते हैं, अनुभव-स्तर में परिवर्तन भी आता रहता है, अनुभूतियों की गहराई में अन्तर प्रस्तुत होते रहते हैं और जब हम उस बदले हुए रूप को स्वीकार करते हैं, उनके विभिन्न पहलुओं के अस्तित्व को मान लेते हैं, देश, काल की मर्यादा को अंगीकार करते हैं तो निश्चय ही हम उन लोगों से, जो सत्य को निष्क्रिय, जड़, एवं गतिहीन मानते हैं, उनसे पृथक् सोचते हैं, लिखते हैं और चलते हैं। जैसे-जैसे नई अभिरुचि और नया दृष्टिकोण रूढ़ियों को छोड़कर आगे बढ़ने की चेष्टा करते हैं, उसीके अनुपात में परम्परावादी पुनरावृत्ति को एक-मात्र सत्य मानने लगता है और पुरानी जड़ों को इतने जोर से पकड़कर बैठ जाता है कि स्वयं उसकी बाह्य और आन्तरिक जर्जरता उनमें अविश्वास पैदा करके उन्हें उपहासास्पद बना देती है। प्रयोग प्रबुद्ध चेतना की विकास-प्रवृत्ति का परिचायक है, जहाँ प्रयोग नहीं है, लीक छोड़कर चलने की परम्परा नहीं है वहाँ निष्क्रियता जन्म लेती है, भोंडापन और खोखलापन विकसित होने लगता है। इसीलिए प्रयोग की नवीनता में वे सम्भावनाएँ निहित रहती हैं जो परम्परा और रूढ़ि के प्रति विद्रोह करके अपना नया रास्ता बनाने में समर्थ होती हैं।

लेकिन प्रयोग जैसे पुनरावृत्ति से पृथक् है, परम्परा की रूढ़ि को अस्वीकार करता है ठीक उसी प्रकार से वह मूलतः प्रगति के प्रति आस्थावान होते हुए भी तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न है। प्रगति में उसकी आस्था इसलिए है क्योंकि प्रगति प्रयोग की सहज गति है, अन्तर केवल इतना है कि यह गति स्वचालित, आत्मानुभूति पर आधारित है उसके ऊपर कोई बाह्यारोपित आडम्बर अथवा सम्प्रदायवाद नहीं है, इसीलिए प्रगतिबद्ध होते हुए भी वह तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न है, उसकी आत्मा को सन्तुष्ट नहीं करता। प्रयोग मानवीय चेतना के नये स्तर विकसित करने की निष्ठा है, इसलिए वह प्रत्येक अनुभव जो जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है और अपनी जिज्ञासु दृष्टि से सम्पूर्ण चेतना को दृष्टि प्रदान करता है उसमें मतवाद से अधिक व्यक्तिगत अनुभूति के प्रति अधिक आस्था है।[२] प्रगति मानव-यात्रा की गति की ही परिचायक

१. The work of art is in some sense a liberation of personality, normally art feelings are inhibited and repressed. Art is the economy of feeling, Emotion cultivating good form.– Herbert Read 'The Meaning of Art'.

२. No one can be a great thinker who does not recognize that as a thinker it is his first duty to follow his intellect to whatever conclusion it may lead.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है वह अन्तर्मन और अन्तश्चेतन में विचारों की विद्रोहमयी परम्परा का प्रतिनिधित्व भी करती है। प्रयोग प्रगति की दृष्टि से परिचालित होता है। यदि प्रगति की भावना न हो, आगे बढ़ने की चेष्टा न हो, तो प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। प्रयोग तो विचारों की नवीन क्रियाशीलता की सजग अभिव्यक्ति है। सजग, प्रबुद्ध और व्यक्तिगत अनुभूति की ईमानदारी में विश्वास रखने के नाते ही वह तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न है, क्योंकि प्रगतिवाद में सजगता कला अथवा कलाकार की चेतना की नहीं होती वह शास्त्रीय होती है, उसकी प्रबुद्ध सत्ता विचार-स्वातन्त्र्य से अंकुरित नहीं होती वरन् दलगत स्वार्थ से परिचालित होती है, उसमें व्यक्ति-अनुभूति का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वह एक निर्धारित समाजवाद की चेतना के फ्रेम में कसी हुई स्वतन्त्रता होती है। फ्रेम के भीतर, उसके वृत्त में जितनी चीजें आती हैं वे स्वीकार की जाती हैं, उस फ्रेम के बाहर की चीज उनके लिए अस्पृश्य है। यही कारण है कि प्रयोगवाद की प्रगति-आस्था में और तथाकथित प्रगतिवाद में एक स्वाभाविक विरोधाभास दिखलाई पड़ता है। जो भी कला-विशेषज्ञ किसी भी कला-कृति में कलाकार की इस मूल मनः-स्थिति पर बाह्यारोपित मतवाद को देखने की चेष्टा करता है वह निश्चय ही प्रयोग की प्रगति-निष्ठा से प्रभावित नहीं होगा; क्योंकि वास्तविक प्रगति और प्रगतिवाद में उतना ही अन्तर है जितना कि किसी भी कला की तीव्रानुभूति में और उसके ऊपर लादे हुए रूप और शिल्प के आडम्बर में। प्रयोग की प्रगति, कलाकार की अनुभूति की प्रगति से परिचालित होने के नाते सौन्दर्य-बोध के स्तरों में मानव-प्रज्ञा को सन्तुलित करने की क्षमता रखती है। यह सन्तुलन बाह्यारोपित न होकर आत्म-नियन्त्रित ही होगा, इसीलिए ऐसे मतवादी जो साहित्य की प्रगति को उपज और खपत के सैद्धान्तिक मानदण्डों से देखने की चेष्टा करते हैं वे निश्चय ही अन्यथा आरोप लगाकर किसी अन्य मन्तव्य को सिद्ध करने की इच्छा रखते हैं। प्रयोग में अन्तर्मन की संवेदनशीलता उपजेगी, उसमें ईमानदारी होगी और तभी वह ग्राह्य हो सकेगा। किसी भी साहित्य में किस सीमा तक गति देने की शक्ति है, किस सीमा पर जाकर वह मात्र नारे में बदल जाने के कारण अनूदित भावस्थिति है, इसका भी पता इस प्रयोग, प्रगति और परम्परा के स्पष्ट दृष्टिकोण से ही लगेगा। प्रयोग का आधार दृष्टि की नवीनता है (Navwision)। जिस भी कला-कृति में यह नवीनता नहीं है, अथवा जिसमें जूठन है, अथवा जो केवल उपदेशक की गाथा है, वह ललित साहित्य तो हो ही नहीं सकता, और चाहे जो हो।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्रयोग पूर्वग्रहों से अधिक अनुभूति और रागात्मक अनुभव में विश्वास करता है और कला में इस रागात्मकता की गहराई सिवा कलाकार के कोई दूसरा नहीं दे सकता; क्योंकि रागात्मक बोध में व्यक्तित्व की ऊँचाई ही दृष्टि प्रदान कर सकती है। उस अनुभव के क्षण को कोई भी उपदेशक, कलाकार के लिए नहीं अनुभव कर सकता इसलिए वह कोई भी बाह्य-आरोप लेकर उसकी अनुभूति को अच्छा या बुरा कहने का अधिकारी भी नहीं हो सकता। रागात्मक बोध व्यक्तिगत अनुभव होने के नाते परम्परा से भी उतना ही

Truth gains more even by errors of one who with due study and preparation thinks for himself than by the true opinions of those who only hold them because they do not suffer themselves to think.

—John Stuart Mill

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न हो सकता है जितना कि किसी भी पूर्वनिर्धारित मतवाद से। इसीलिए प्रयोग, उस आत्म सत्य की प्रतिष्ठा का हेतु है वह स्वयं पूर्ति नहीं है। वह मात्र शिल्प-सज्जा भी नहीं है, वह देश-काल के वातावरण से उत्पन्न हुआ प्रयोग है। इसी कारण से यह कहना उचित होगा कि प्रयोग केवल चमत्कार की अनुभूति नहीं है, इसमें युग का ध्येय लक्षित हुआ है। इसमें देश-काल से सम्बन्धित जीवन की, व्यापक मानव-जीवन की ग्रहणशीलता का प्रयास मिलता है, क्योंकि :

जीवन है कुछ इतना विराट् इतना व्यापक
उसमें है सबके लिए जगह, सबका महत्त्व
ओ मेजों ! की कोरों पर माथा रख-रखकर रोने वाले
यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सबका है
....
हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दो
(ठण्डा लोहा : पृ० ६१)

: ३ :

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगति अपनी वस्तुस्थिति में प्रयोग की सहज मनोवृत्ति है जो प्रयोग से अलग नहीं की जा सकती; लेकिन प्रगतिवाद प्रयोग की प्रतिक्रिया है, जो अनावश्यक ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति का परिचय देता है। जहाँ कहीं भी विचार-धारा में, मूल्यों में और मर्यादाओं में विकास होगा वहाँ प्रयोग[1] में वह विकासशील तत्त्व व्यक्त होगा। प्रयोग साहित्यिक अभिरुचि और विकास का मुख्य अंग है।

लेकिन तथा कथित प्रगतिवाद प्रयोग को असामाजिक घोषित करके उसको उद्देश्यहीन सिद्ध करना चाहता है। मूलतः ऊपर की व्याख्या के बाद वह स्वयं विरोधाभास का भागी बन जाता है; क्योंकि सत् साहित्य जहाँ प्रयोग के माध्यम को शक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अपनाता है वहीं वह उस भाव-स्तर को भी व्यक्त करना चाहता है जिसमें साहित्यिक दायित्व के साथ सामाजिक दायित्व भी निहित है। किन्तु प्रयोग के माध्यम से व्यक्त सामाजिक दायित्व में और तथाकथित प्रगतिवाद द्वारा व्यक्त सामाजिक दायित्व में एक महान् अन्तर है। वह यह कि प्रयोग में यह दायित्व कलाकार के व्यक्तित्व से उभरकर व्यक्त होता है जब कि प्रगति के माध्यम से वही सत्य खण्डित व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त होने के नाते स्थायी एवं ग्राह्य नहीं हो पाता। ऐसा होने का भी एक कारण है। प्रयोग में व्यापक मानव का विराट् रूप व्यक्त होता है, खण्डित सामाजिक सत्य नहीं; क्योंकि प्रयोग कला को प्रचार का यन्त्र नहीं मानता वरन् उसे वह व्यापक मानव की करुणा और पीड़ा को आत्मसात् करने का माध्यम मानता है। जब साहित्यिक स्तर पर सामाजिक दायित्व की बात आती है तो प्रयोग उस समस्त चेतना को केवल सीमित परिधि में बाँधकर रखने में अपने को असमर्थ पाता है। वह मानवात्मा की मूल समस्या को अंकित करने के साथ एक वर्ग-विशेष की बात नहीं कर

१. Style conists in adding to a given thought all the circumstances calculated to produce the whole effect that the thought ought to produce.

J. Middleton Murray.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाता। उसके लिए समस्त मानव-समाज ही अपना है। उसकी विराट् सम्भावनाओं के प्रति वह अपनी वैयक्तिक अनुभूति को किसी भी साम्प्रदायिक अनुभूति से अधिक स्पष्ट और ईमानदार पाता है क्योंकि वह व्यक्ति अनुभूति और बाह्य स्थिति के बीच सीधा और अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करके रचना करता है। सत्य को दूसरों की आँखों से देखना प्रगितवाद की अपनी विशेषता है, उसके पास अपनी दृष्टि नहीं है इसीलिए उसके माध्यम से ऊँचे-ऊँचे नारे भले ही सुनने को मिलें, उसमें उसका व्यक्ति कहीं भी नहीं है। सम्प्रदायवाद का आधार मानव-व्यक्ति नहीं बनता बल्कि सामूहिक मतवाद उसका आधार सहज रूप में ही बन जाता है। यही कारण है कि कोई भी सामूहिक व्यवस्था कला और साहित्य के क्षेत्र में, समस्त जीवन के उपकरणों में अन्वेषण और आत्मसात् को प्रश्रय देने में असमर्थ रहती है; क्योंकि "मानव की समूह-चेतना" की यह व्यवस्था केवल निर्धारित वस्तुस्थिति को नियन्त्रित रूप में देखने के लिए बाध्य करती है, केवल उतनी ही सीमा तक ज्ञान-वृद्धि की सीमा मानती है जहाँ तक जाना जा चुका है अथवा जो सामूहिक व्यवस्था में साम्प्रदायिक मतवाद जानने की आज्ञा देता है। इसके विपरीत आत्मविश्वासी कलाकार जानी हुई संचित थाती को साभार ग्रहण करते हुए उसके आगे बढ़ने की चेष्टा में प्रयोगशील होना पसन्द करता है। वह नये खतरे पैदा करता है, पुरानी धारणाएँ तोड़ता है, नई धारणाएँ बनाता है; क्योंकि वह सजग है, सचेत है और जीवन्त रुचियों से ओत-प्रोत है।[1]

अस्तु, प्रगतिवाद और प्रयोग में संघर्ष है 'सामूहिक मानव' और 'व्यक्ति मानव' का। 'संख्यावादी मतवाद' का और 'सगुण सचेत मानव-प्रतिमा' का। जो व्यापक मानवता की अपेक्षा समूह में विश्वास करता है वह यथार्थ को आत्मसात् नहीं कर सकता है। इसीलिए समूहवादी चेतना मानवीय व्यापकता को अपना ही नहीं सकती और 'समूह' अधिनायकवाद, फासिस्टवाद को विकसित करता है, स्वतन्त्र सचेत मानववाद को व्यापक आस्था स्पष्ट करती है। 'समूह' व्यापकता में विश्वास ही नहीं कर सकता और जो व्यापकता में विश्वास रखता है वह निश्चय ही समूह की बँधी हुई सीमा से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। तथाकथित प्रगतिवाद समूह की संकीर्णता के साथ सम्बद्ध है जिसमें न तो व्यक्ति का महत्त्व है, न व्यापकता का। इसके विपरीत आज की नई कविता अथवा नया प्रयोग व्यापक मानवता के प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में विश्वास रखता है—उसकी संवेदना की कोई सीमित परिधि नहीं है। वह उसे व्यापक मनुष्य-परम्परा से ग्रहण करता है और व्यापक मानव सम्भावनाओं को प्रतिक्षण सौंपता चलता है। प्रगतिवाद समूह की प्रशासित ध्वनि होने के नाते आत्महीन, विवेक-रहित समूह-सत्ता की स्वीकृति है। प्रयोग इस प्रकार की मान्यता के विरोध में ही जन्म ले सकता है। किन्तु वह व्यापकता के प्रति आस्थावान है; क्योंकि उस व्यापकता में ही वह अपनी और व्यक्ति की मर्यादा की रक्षा कर सकता है, अपने स्वातन्त्र्य को अर्थ दे सकता है।

१. इसी बात को टामस मैन ने एक स्थान पर बड़े सुन्दर ढंग से कहा है: "My writings are full of all vices abhored by communism such as formalism, psychologism, Scepticism a weakness for truth. For, love of truth is a weakness according to any absolutist partisan......I have not much faith nor much faith in faith. I put more faith in goodness which can exist without faith and may indeed be the product of doubt."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज जिस मोड़ पर साहित्यिक विचारों की अन्तर्दृष्टि पहुँचती है वह यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देती है कि किसी भी कथित स्वप्न (Utopiam dream) के लिए आज मनुष्य घुट-घुटकर मर जाय, यह संगत नहीं है। मार्क्सवाद की परिणति इधर जिस रूप में तथाकथित प्रगतिवाद में व्यक्त हो रही है उसमें एक नया स्वर फूटता दीख रहा है और वह यह कि आज की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को समूह को समर्पित कर दो, कल व्यापक निष्ठा की रचना के लिए यह आवश्यक है। यहीं वह सन्देह होता है कि जिसका संकेत पिछले तीस वर्ष के इतिहास में मिलता है। यही तर्क फ़ासिस्टों का भी था। यही तर्क कम्यूनिज्म का भी है। व्यापक दृष्टिकोण 'समूह' की संकीर्णता से पनपेगा यह केवल भ्रम है और इसीलिए यह नरमेध यज्ञ वांछनीय नहीं प्रतीत होता।

029580

प्रगति का वास्तविक अर्थ मानव की विकासशील प्रवृत्ति में निहित है। इसीलिए प्रगति की वास्तविक मर्यादा मनुष्य की 'आन्तरिक' मर्यादा है।[1] यह 'आन्तरिक' मर्यादा बाह्यारोपित मतवाद के आधार पर नहीं विकसित हो सकती। उसके लिए कला की मूल आस्था के प्रति विश्वास विकसित करना पड़ेगा। किसी भी पैम्फलेट में और किसी भी साहित्यिक कृति में जहाँ और अन्तर हैं वहाँ उन दोनों की विकास-प्रक्रिया में भी एक मौलिक भेद है। व्यक्ति की, समाज की, मानवता की मर्यादा के अतिरिक्त एक कला की स्वतःविकसित मर्यादा भी है जो साहित्य और उपदेश में, प्रगति और प्रयोग में, रूढ़ि और परम्परा में एक नियन्त्रित विवेक पैदा करती है। कलाकार की रचनानुभूति और उसकी आत्मग्राह्यता ही किसी भी कृति को केवल प्लेटिट्यूड की सीमा तक लाकर छोड़ सकती अथवा उसे व्यापक रूप दे सकती है। प्रगतिवाद इस रचनानुभूति में विश्वास नहीं करता, प्रयोग इस रचनानुभूति की ईमानदारी में विश्वास करके चलता है। प्रयोग की आधारभूत भावना रचनानुभूति की प्रेरणा में प्रश्रय पाने के कारण कला को सजीव और नवीन शक्ति प्रदान करने में समर्थ होती है इसीलिए वह वाद से मुक्त है, प्रयोग करते हुए भी वह प्रयोग के तथाकथित वाद से भी मुक्त है; क्योंकि उसका वास्तविक सत्य आत्म-सत्य है जो हर वाद-विवाद से ऊँचा है।

प्रगतिवाद आत्म-सत्य को स्वीकार नहीं करता वह बाह्य सत्य को ही सर्वस्व मानता है किन्तु जैसा कि स्पष्ट है कोई भी बाह्य सत्य निरपेक्ष हो ही नहीं सकता इसलिए प्रगतिवाद की मूल धारणा को कला कृति की अपेक्षा बाह्य दर्शन, सम्प्रदायवाद एवं नारों का माध्यम स्वीकार करना पड़ता है। प्रगतिवाद जिस बाह्य सत्य अथवा वस्तु-सत्य की चर्चा करता है वास्तव में वह असम्भव है; क्योंकि प्रत्येक बाह्य सत्य व्यक्ति से रागात्मक सम्बन्ध रखे बिना प्रभावित ही नहीं कर सकता, रचना की प्रेरणा दे ही नहीं सकता। जो लोग इस सम्बन्ध की वास्तविकता नहीं

---

१. 'साहित्य की नई मर्यादा'—डा० धर्मवीर भारती, आलोचना ११।

१. "निरे तथ्य और सत्य में, यह कह लीजिये वस्तु-सत्य और व्यक्ति-सत्य में यह भेद है कि सत्य वह तथ्य है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है। बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो तद्वत् काव्य में स्थान नहीं पा सकती। लेकिन जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है।

—अज्ञेय : 'तार सप्तक'-२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझ पाते, उसकी अनिवार्यता नहीं मानते, वे साहित्य के मर्म को भी नहीं समझ पाते। वे तो और भी नहीं समझ सकते जो इन रागात्मक सम्बन्धों के परिवर्तन में विश्वास नहीं रखते; क्योंकि वे स्वयं विकास नहीं कर पाते, देश-काल की सीमाओं को समझ नहीं पाते। इस दृष्टि से प्रयोग इसीलिए बाह्य सत्य और व्यक्ति-चेतना के एकाकार होने की प्रक्रिया है, जो सत्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को एक सापेक्ष मूल्य प्रदान करती है। यही कारण है कि प्रयोग केवल उस रागात्मक सम्बन्ध को अभिव्यक्ति देने का साधन है, लक्ष्य नहीं।

प्रगतिवाद और प्रयोग के विषय में एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है; वह यह कि प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक मतवाद का लक्ष्यपूर्ण आन्दोलन है जिसका सम्बन्ध साहित्यिक मानदण्ड से निर्धारित नहीं होता वरन् राजनीतिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं द्वारा संचालित होता है। उनका सामाजिक दायित्व भी उन्हीं राजनीतिक मन्तव्यों से प्रकाशित होता रहता है और इसीलिए उसके विधान का बहुत बड़ा अंश साहित्यकारों द्वारा निर्धारित न होकर दलगत राजनीतिक व्यक्तियों द्वारा संचालित होता है। जीवन का यथार्थ अंकन भी इसीलिए अनेक दाँव-पेच के साथ साहित्य में व्यक्त किया जाता है। उसका अधिकांश उस बाह्य सत्ता के मार्ग-प्रदर्शन का फल है जो साहित्यिक रुचि से अनभिज्ञ और अपरिचित है। इसका उचित प्रदर्शन हमें स्वयं प्रगतिवाद के विभिन्न मतों द्वारा समय-समय पर होता रहा है। इस संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण ही प्रगतिवाद आज के व्यापक यथार्थ को वहन करने में असमर्थ है।

प्रयोग या नई काव्य-प्रवृत्ति आज के जीवन के यथार्थ को स्वीकार करती है और यही एक अनिवार्यता है जो इसे आज के यथार्थ को चित्रित करने की शक्ति देती है। क्लासिक या रोमाण्टिक भाव-धारा इसे नहीं वहन कर सकती, क्योंकि उसके शिल्प-विधान और व्यवधान में कसे हुए घेरे में आज का यथार्थ आ नहीं पाता। आज की जीवन-अनुभूति की व्यापकता और उसका आत्म-सत्य न तो क्लासिक विधान की रूढ़ियों में व्यक्त हो सकते हैं और न रोमाण्टिक कोमलता पर ठहर सकते हैं, वह न तो छायावाद की कोमल पदावली के अनुकूल है और न ही वह 'भारत भारती' की शैली में लिखी जा सकती है। इसलिए प्रयोग आज का फैशन नहीं है, वह वर्तमान जीवन की अनिवार्यता है। जो इस अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता वह कला-सृजन की मूलभूत वैज्ञानिक क्षमता को भी स्वीकार नहीं करता और न आधुनिक मानव-संवेदना को स्वीकृति दे पाता है।

: ४ :

यह तो हुई प्रगति और प्रयोग की बात। इसीसे सम्बन्धित प्रयोग और परम्परा का भी विषय है जिसको लेकर मनमाने ढंग के राग अलापे जाते हैं। प्रयोग की हेयता को सिद्ध करने के लिए जैसे प्रगतिवाद प्रगति की दुहाई देता है वैसे ही प्रयोग को असफल सिद्ध करने के लिए रूढ़िवादी परम्परा की दुहाई देता है और यह भूल जाता है कि प्रयोग की प्रेरणा परम्परा में ही निहित रहती है[1] यदि कोई परम्परा विकास की अपेक्षा स्थिरता, प्रयोगहीनता

१. No poet, no artist has his complete meaning alone. His significance, his appreciation is the appreciation of his relations to the dead poets and

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्रश्रय देती है तो वह परम्परा तो नहीं ही हो सकती और चाहे जो हो। वस्तुतः प्रयोग प्रगतिनिष्ठ होने के नाते परम्परा के सशक्त स्वरों को स्वीकार करके नई सम्भावनाएँ अंकित करता है। प्रत्येक प्रयोग कालान्तर में परम्परा बन जाता है इसलिए जिस परम्परा में आगे प्रयोग; करने की प्रेरणा निहित नहीं होती वह उतनी ही निरर्थक होती है जितना कि वह प्रयोग जो नई परम्पराएँ स्थापित करने में असमर्थ होता है। प्रयोग और परम्परा में यहीं अनिवार्य सम्बन्ध है। आज का प्रयोग आने वाले युग की परम्परा निर्धारित करेगा; ऐसी परम्परा, जिसमें ठहराव नहीं होगा, गति होगी और जिसकी गतिशीलता ही नये प्रयोगों को प्रेरणा देगी।

परम्परा और रीति की रूढ़ि भी प्रयोग के विरोध में प्रस्तुत की जाती है और बहुधा रीतिवादी प्रवृत्ति को परम्परा का नाम देकर गाया जाता है। प्रयोग अथवा नई काव्य-प्रवृत्ति इस रीतिवादी परम्परा को स्वीकार करने में असमर्थ है। काव्य किसी निश्चित फार्मूले द्वारा नहीं लिखा जाता। काव्यानुभूति में विविधता का एक महत्त्व है, सत्य को अनेक दृष्टियों से देखने की अन्तर्भावना है। यह अन्तर्भावना व्यक्तिगत विवेक द्वारा ही विकसित होती है। जैसे प्रगतिवाद बाह्यारोपित मतवाद के माध्यम से काव्य-गुण को निर्देशित नहीं कर सकता वैसे ही रीतिवादी परम्परा कलाकार की सृजन-शक्ति को किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों में नहीं बाँध सकती। जब तक काव्य का सम्बन्ध जीवन और उसकी व्यापकता से रहेगा तब तक काव्य-प्रतिभा इन सीमाओं तक नहीं रह सकती; वह पुरानी सीमाएँ तोड़ेगी, नई बनायगी, नई से भी आगे नई सम्भावनाओं की ओर विकसित होगी, क्योंकि मानव-प्रजा सतत नई अनुभूतियों से अनुप्राणित होती रहती है। जीवन का प्रत्येक क्षण उसे नई अनुभूति देता है, नई प्रेरणा-शक्ति देता है, नया स्वर, नये लय और नये प्रतिबिम्ब, प्रतीक, शब्द और रचना-शक्ति का ओज उसमें विकसित होता रहता है इसलिए प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार इस परम्परा की रूढ़िवादी व्यजंना को कभी ग्रहण ही नहीं कर सकता। वह सदैव नये जीवन-सत्यों की विकसित प्रवृत्ति की ओर उत्सुक होगा।

तथाकथित परम्परावादी बहुधा प्रयोग पर यह भी आरोप लगाते हैं कि आधुनिक प्रयोग में कोई दार्शनिक तत्त्व नहीं है। एक सीमा तक यह आरोप निरर्थक है और कुछ सीमा तक यह सही है। गलत इसलिए है क्योंकि काव्य का गुण है कुछ संचित भावों को प्रधान रूप में उसके भावलय के साथ व्यक्त करना। तुलसीदास या सूरदास की कविता पहले काव्य है, बाद में वह उनके जीवन-दर्शन का माध्यम। प्रत्येक काव्य-कृति को मुख्यतः काव्य होना चाहिए और यदि वह मुख्यतः काव्य है तो उसमें निश्चय ही कवि का सौन्दर्य-बोध, उसका दृष्टिकोण, उसका व्यक्तिगत जीवन-दर्शन भी उसमें होगा ही। आज का यथार्थ किसी यूटोपिया की अपेक्षा नहीं रखता। उसे विशिष्ट मतवादी दार्शनिक प्रचार की भी आवश्यकता नहीं है। यदि आज का कवि अनास्थावादी है और वह अपनी अनास्था को भी सबल ढंग से व्यक्त करता है तो वह भी दार्शनिक हो सकता है। लेकिन उसका दार्शनिक होना भी काव्यगत प्रक्रिया के बाहर की वस्तु नहीं है। दर्शन और काव्य में मौलिक अन्तर है। दर्शन वस्तुतः वस्तुपरक व्याख्या का निष्कर्ष है। कविता आत्मपरक अनुभूति की रागात्मक अभिव्यञ्जना है। जो काव्य-रचना

---

artists......that the poet should be altered by the present as much as the present is directed by the past.

T. S. Eliot : Sacred Wood.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्यात्मक होगी उसका काव्य-गुण नष्ट हो जायगा। जिसमें आत्मपरक अनुभूति होगी वह प्रभावपूर्ण कला बन जायगी। दर्शन को काव्य में प्रतिपादित करने के लिए प्रयास करना निरर्थक है। जितना दर्शन कवि के व्यक्तित्व से छनकर उसकी कृति में आता है, काव्य में उतना ही ग्राह्य है। यदि ऐसा नहीं होगा तो एक कविता (Mannerism) "रीति के चंगुल में मर जायगी। न तो उसमें प्रेषणीयता होगी, न काव्य-विशेषता। वह केवल विद्रूप रचना बनकर रह जायगी।

फिर भी प्रश्न यह उठ सकता है परम्परा की ग्राह्यता का मानदण्ड क्या है? वस्तुतः परम्परा की ग्राह्यता का मानदण्ड-मात्र यह है कि वह प्रगति में बाधक न बने, उसकी सहज विकासशील प्रवृत्ति को उत्तरोत्तर विकसित होने दे। परम्परा का उतना ही अंश महत्त्वपूर्ण है जो हमें संस्कार देता है और वह संस्कार भी ऐसा, जिसमें उदारता हो; जो समूचे व्यक्तित्व में उदात्त चेतना समाहित करने के साथ आत्मपरक पृथक्त्व को बनाये रहे। बहुधा लोग आज के समूचे साहित्य की नई प्रवृत्ति को यह कहकर तिरस्कृत करने की चेष्टा करते हैं कि उसमें पन्त, प्रसाद, प्रेमचन्द[1] की परम्परा का निर्वाह नहीं है। समझ में नहीं आता कि इन आचार्यों का मन्तव्य क्या है? पंत, प्रसाद, प्रेमचन्द ने भी रूढ़ियों को तोड़ा था और तब सहसा एक नई प्रवृत्ति को वह विकसित कर सके थे। यदि ऐसा न होता तो पन्त, प्रसाद, महादेवी केवल 'भारत-भारती' का नवीन संस्करण लिखते, प्रेमचन्द 'चन्द्रकान्ता संतति' की बाईसवीं पीढ़ी की गाथा लिखते और देवकीनन्दन खत्री की निर्जीव परम्परा के सिरहाने बैठकर फातिहा पढ़ते होते। फिर जब प्रेमचन्द या पन्त, निराला, प्रसाद, महादेवी ने अपने पूर्व को परम्परा को छोड़कर नया मार्ग अपनाया तो वह मात्र इसलिए कि उस परम्परा में उस देश-काल के यथार्थ को वहन करने की क्षमता नहीं थी। ऐसी स्थिति में यदि आज का लेखक या कवि कलाकार आज के यथार्थ के अनुकूल नये प्रयोग करता है, नई व्यंजना देता है तो कहाँ परम्परा को तोड़ता है या उसे सशक्त नहीं बनाता है?...

: ५ :

आज की नई कविता इन दृष्टियों से कई प्रकार की स्थितियों से गुज़र रही है। परम्परा का उचित दायित्व जिस प्रकार नई कविता ने स्वीकार किया है उससे कुछ लोगों को अनावश्यक उत्तेजना मिली है और वह इसको ह्रासोन्मुख भी घोषित करना अपना कर्तव्य समझते हैं। दूसरे वर्ग के लोग आचार्यों के मतों और नई कविता के उद्धरणों में साम्य स्थापित करना चाहते हैं, तीसरा वर्ग उनका है जो आज का यथार्थ जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करने में आज की कविता में दृष्टि का अभाव पाते हैं।[2] पता नहीं ऐसे लोग नई कविता के प्रयोगों को किस प्रकार देखते हैं। दृष्टि से प्रधान कविता दृष्टि की सार्थकता इसी सीमा तक स्वीकार कर सकती है कि स्वतः कविता का भावस्तर उसे दृष्टि प्रदान करे। कुछ शाश्वत साहित्य के समर्थक आधुनिक प्रयोगों में शाश्वतता की कमी पाते हैं किन्तु इस दिशा में हमें इतना ही कहना

---

१. 'परिमल' द्वारा आयोजित गोष्ठी में नन्ददुलारे वाजपेयी का उद्घाटन-भाषण।

२. "साम्प्रतिक प्रयोगवाद की तीन मुख्य कमियाँ हैं, कविगण नई दृष्टि द्वारा नूतनता उत्पन्न न कर सिर्फ शब्दों और अलंकारों द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं।"
(नयी कविता, संख्या २ : पृष्ठ ८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

है कि :

हमें किसी अजरता का मोह नहीं
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् कर लें
उसकी विविक्त अद्वितीयता
आपको किमपि को, क, ख, ग को
अपनी-सी पहचनवा सके
रसमय करके दिखा सके
शाश्वत हमारे लिए वही है
अजर अमर है
वेदितव्य अक्षर है
....
....
एक क्षण : क्षण में प्रवाहमान
व्याप्त सम्पूर्णता।
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो
पिया था अगस्त्य ने[1]

अर्थात् वे आलोचक जो नयी कविता के प्रयोग को आज के यथार्थ, अनुभूति-क्षण की मार्मिक संवेदना से मुक्त करके देखते हैं वे उस शाश्वत परम्परा की दुहाई देते हैं जिसमें उनकी समस्त रूढ़िवादी मनःस्थितियाँ प्रश्रय पाती हैं। वे यह नहीं समझते कि शाश्वत यह क्षण भी हो सकता है, यह अनुभूति भी हो सकती है जिसे हम उस समय उस क्षण से सम्बद्ध होकर भोगते हैं।

नई कविता का प्रयोग अनास्था से नहीं व्यक्त हुआ है। जो लोग यह समझते हैं कि आज के कवि के व्यक्तित्व में कमी है या अभाव है या इसमें अनुकरण या पारस्परिक होड़ है, उनकी धारणा मिथ्या है। यह कहना भी उतना ही गलत है कि प्रथम सप्तक के प्रयोगों के बाद नई कविता ने कोई प्रगति नहीं की है। वस्तुतः प्रथम सप्तक के प्रायः सभी कवि संशय, द्विविधा और अनास्था मत के कवि हैं। अज्ञेय को छोड़कर प्रथम सप्तक में आज की भाँति स्पष्ट कवि शायद ही दूसरा हो। प्रभाकर माचवे की यह कविता देखिए :
लक्ष्यहीन सन्दिग्धता का स्वर :

"मुझे कौन दे संजीवन ? दिल का प्याला कब से खाली है
शून्य दिशायें, आंधी-लक्षण, मैं हूँ, यह चा की प्याली है[2]
....

आतंक एवं भयग्रस्त व्यक्तित्व का रूप :

जबकि अन्दर खोखलापन कीट सा
है सतत घर कर रहा शरीर में,

१. अज्ञेय : नयी कविता-२।
२. माचवे।

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यों न जीवन का बृहत् अश्वत्थ यह
डर चले तूफान के ही नाम से[१]

× × ×

परम्परा को तोड़ने के पूर्व ही नये पथ के प्रति अविश्वास :

कौन सा पथ है ?
मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही यों पुकारा
....

अन्तरात्मा अनिश्चय संशय ग्रसित
क्रान्तिगति अनुसरण योग्य है न पद-सामर्थ्य
कौन सा पथ है...[२]

× × ×

पराजित मनोभावनाओं से आक्रान्त काव्य-प्रतिभा किसी कोष्ठ में बन्द होकर कहती है :

मार्ग दर्शक बोल दो
हो रही हैं पुतलियाँ धुँधली अनवरत चेष्टा से
देखने की
जो कि मानो व्यंग्य से
उपहास से
निर्मम
सरकता जा रहा है[३]

× × ×

उपर्युक्त पंक्तियाँ उस समय के प्रगतिवादी कवियों की हैं जिनमें अविश्वास, पथ की अस्पष्टता आदि का बड़ा ही सफल और स्वाभाविक मिश्रण है। यह अविश्वास उस समय के प्रगतिवादी जीवन का एक अंश था। जो लोग यह कहते हैं कि प्रगतिवाद या प्रथम सप्तक के कवियों में जीवन-दृष्टि और व्यापकता अधिक थी वे शायद इन कवियों की मार्मिक संवेदना को समझने में असमर्थ रहे हैं। इसके विपरीत दूसरे सप्तक के कवियों में यह संशय, यह संक्रमण और यह अविश्वास इस मात्रा में नहीं मिलेगा :

इस पुरानी जिन्दगी की जेल में
जन्म लेता है नया मन
....

जल रहीं प्राचीनताएँ बाँध छाती पर मरण का एक क्षण
इस अंधेरे की पुरानी ओढ़नी को ओढ़कर
आ रही ऊपर नये युग की किरण[४]

---

१. मुक्तिबोध।
२. भारत भूषण अग्रवाल।
३. नेमिचन्द्र जैन।
४. हरिनारायण व्यास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं, तुम, यह, वह
मन के चारों कोने
और व्यक्ति की यह सीमाएँ
कब टूटेंगी···?
जब तुम होगी मुझसे दूर
यह भी अपना
वह भी अपना
होगा
मैं अपने वश में होऊँगा
तब तथास्तु[1]

× × ×

प्रलय से निराशा तुझे हो गई····
इसी ध्वंस से मूर्छिता हो कहीं
पड़ी हो नयी जिन्दगी, क्या पता ?
सृजन की थकन भूल जा देवता !
क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी
अभी मेरी आखिरी आवाज बाकी है
लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ
नया इतिहास देती हूँ ।
कौन कहता है कि कविता मर गई ।[2]

जैसा कि स्पष्ट है दूसरे सप्तक के कवियों में निश्चय ही प्रथम सप्तक के कवियों से अधिक आत्मविश्वास, आस्था और आशा है । ये कवि प्रथम सप्तक के कवियों की भाँति पथ के संशय में डूबे नहीं हैं; उन्होंने अपना पथ बना लिया है । ये यदि चाहेंगे तो उस नये पथ का संगठन अवश्य होगा । जहाँ प्रथम सप्तक के कवियों की भाषा, भाव-भूमि उनके विकास के प्रति आस्था विकसित कर रही है वहीं प्रथम सप्तक के कवियों में वह सन्देह से विकसित होकर छायावादी परम्परा, जो रीति बनकर रूढ़ि बन रही रही थी, उसके प्रति विद्रोह भी था । प्रथम सप्तक के कवियों में यह सन्देह और भ्रम होना स्वाभाविक था, क्योंकि जब कभी भी किसी प्रतिष्ठित परम्परा के प्रति विद्रोह का कदम उठाया जाता है तो उसके प्रवर्तकों में सन्देह ही वह वस्तु होती है जो परम्परा की रूढ़िगत रीति वाली प्रवृत्ति के विरोध में खड़े होने का साहस प्रदान करती है, प्रयोग की दृष्टि से प्रथम सप्तक का महत्त्व है, उसकी सहानुभूति-परक वेदना जो नये यथार्थ के प्रति है, लेकिन उसमें वह दोष भी है जो किसी भी नई प्रवृत्ति के प्रेरकों में होता है । छायावाद की मिथ्या उदात्त भावना को पहले सप्तक ने मध्यम वर्ग के जीवन से सम्बद्ध करके उस नये यथार्थ को स्वीकृति देने का प्रयास किया है जो आज की नई कविता में अधिक आयामों के साथ विकसित हो रहा है ।

१. रघुवीर सहाय ।
२. धर्मवीर भारती ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन परम्परा की मूल स्थापना में कोई दोष नहीं होता। जब वह रूढ़ि बन जाती है, तभी उसमें दोष होता है। प्रगति की मूल मानव-भावना से प्रेरित होकर जब इस रूढ़िवादी परम्परा के समर्थक प्रयोग होते हैं तब उसकी प्रतिक्रिया में तथाकथित प्रगतिवाद भी अपना स्वर बेढंगे तरीके से मिलाने लगता है! अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' एक सशक्त चिरन्तन सत्य की सापेक्षता को स्वीकार करती हुई व्यक्ति-मानव की अहंनिष्ठा को प्रतिष्ठित करती हैं। उसके स्वर में परिवर्तन के प्रवाह में लीन होकर उसे स्वीकार करके फिर उस व्यक्ति-निष्ठा को नये ढंग से विकसित करने की बात 'नदी के द्वीप' के माध्यम से कही गई है। लेकिन भारतभूषण अग्रवाल की कविता 'हम नहीं हैं नदी के द्वीप' कविता महज प्रतिक्रियात्मक भावना के कारण काव्य-बोध की अपेक्षा आवेश में बदल गई है। जहाँ अज्ञेय व्यक्ति-निष्ठा को इतना व्यापक अर्थ देते हैं कि :

द्वीप हैं हम
यह नहीं है शाप
यह अपनी नियति है
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में
वह बृहद् भूखंड से हमको मिलाती है
और वह भूखंड अपना पिता है
....

तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा
घोर काल प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर फिर छनेंगे हम।
जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना—[1]

यह नया प्रयोग है। व्यक्ति की मूल मर्यादा के प्रति कवि की सहज और स्वाभाविक आस्था है। इसमें कुण्ठा नहीं है। वेग, प्रवाह, स्रोतस्विनी के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए भी व्यक्ति-मर्यादा और उसके अस्तित्व के प्रति विश्वासपूर्ण स्वर है। परम्परा, प्रगति और प्रयोग की तीनों स्थितियाँ इसमें स्पष्ट हैं लेकिन इसी की प्रतिक्रिया भारतभूषण अग्रवाल की कविता मे इसप्रकार व्यक्त होती है।

हम सरोवर हैं
नहीं है धार
अब नहीं हममें तरंगित गान
और बन्धन की व्यथा में खो गया अभिमान
विवश हम अब बह नहीं सकते
और अपनी और अपने आपमें ही बन्द

१. अज्ञेय : 'नदी के द्वीप'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बात आपस में किसी से कह नहीं सकते
... ...
तुम अगर हो द्वीप
रूखी रेत के बेडौल टीले
तो भले ही तुम रहो ऊँचे महान
पर यह न सोचो,
धार की हर लहर जो आती हमारे पास
ठोकती है हमारी पीठ.......[1]

जो भी काव्य-कृति मात्र-प्रतिक्रिया में लिखी जायगी उसमें यह दोष रहेगा ही। न तो वह परम्परा के औचित्य को निभा सकती है और न ही उसमें प्रगति के तत्त्व आ सकते हैं और जब इन दोनों के प्रति उचित दृष्टिकोण भी नहीं विकसित हो सकेगा तो प्रयोग की स्वच्छता भी उस रचना में नहीं रहेगी। यदि यह कहा जाय कि नदी के द्वीप की रेत स्वच्छ, पवित्र रेत का विकसित रूप है और सरोवर नदी के छोड़े हुए जल की सड़ाँध है तो द्वीप और सरोवर की स्वाभाविक और प्रतिक्रियावादिता की परख स्पष्ट हो जायगी। आज का प्रगतिवाद न तो परम्परा के दायित्व को ही निभा सकता है और न प्रयोग के, क्योंकि वह मात्र-प्रतिक्रिया से विकसित होकर कुण्ठाओं में डूब जाता है।

किसी अन्य स्थान पर पहले सप्तक के एक प्रतिष्ठित कवि ने नई कविता की आलोचना करते हुए यह लिखा है कि उसमें पहले सप्तक के बाद कोई विकास नहीं हो सकता है। पता नहीं यह बात कैसे कही गई है, क्योंकि पहले सप्तक के बाद दूसरे सप्तक में बात अधिक स्पष्ट-रूप से कही गई है और दूसरे सप्तक से भी अधिक स्पष्ट स्वरों में नई कविता में व्यक्त हुई है। प्रयोग में जीवन का कटु सत्य भी अंकित होता है उससे मुँह बिचकाकर छुट्टी नहीं ली जा सकती। शायद आज का नया कवि अधिक तीखे स्वर में स्पष्ट बातें करता है। शायद इतना स्पष्ट स्वर किसी का नहीं रहा है :

कहने को बहुत कुछ है
कहते नहीं बनता
वाणी की तपस्या
दर्द की ताड़का से हार गई
(राम। ईश्वर, अजन्मा हे राम)
लगता है कहीं कोई ठौर नहीं
आज मनुष्य
गर्भ से धक्के देकर निकाला हुआ
ऋषि पुत्र।[2]

इसी प्रकार उस प्रचारवादी प्रगतिवाद की अपेक्षा मूल मानव-भावना के प्रति आज के कवि की आस्था अधिक तीव्र है। इस समूहवादी जीवन में विकल मानव-जीवन का दुःख,

१. भारत भूषण : हम नहीं हैं द्वीप।
२. राजेन्द्र किशोर : नयी कविता-२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी विषमता इससे अधिक स्पष्ट स्वरों में न तो पहले सप्तक में कहीं है और न ही इसकी आशा छायावादी कवि से की जाती है। आज की नई कविता जहाँ परम्परा की रूढ़ियों के प्रति अपना यह विश्वास रखती है :

ओ महा प्रलय के बाद नये उगे शिखरो,
है तुम्हें कसम इन ध्वस्त विन्ध्य मालाओं की
नत शीश झुकाना तुम अपना।
आ सूर्य तुम्हारा तेजस्वी यह भाल देख
कितने अगस्त्य आयँगे गुरु का वेश धरे,
आशीष वचन कहने वाले
चिर विनत तुम्हारा मस्तक यों ही झुका छोड़
ये गुरुवर वापस नहीं लौटकर आयेंगे।[1]

वही उसकी नई जिज्ञासा तथाकथित प्रगतिवाद के बीच घुटती मानवता के प्रति अधिक सजग है। उसे प्रचार से अधिक साहित्य प्रिय है, मतवाद से अधिक मनुष्य में विश्वास है, समूह-मानव के व्यंग्यात्मक अस्तित्व से अधिक साधारण मनुष्यप्रिय है। वह स्वर स्पष्ट रूप में कहता है :

पोस्टर विशालकाय पोस्टर
लोग उन्हें देखकर हँसते हैं
मुँह बनाते हैं, सीटियाँ बजाते हैं
उदास हो जाते हैं
....
और मैं उनके सामने
नन्हा सा दबा खड़ा हूँ
बेजाना बे पहचाना
इस प्रतीक्षा में कि शायद
कभी कोई भूली हुई दृष्टि
मुझ पर टिक जाय,
शायद कोई मुझे आवाज दे
....
लेकिन मैं देखता हूँ
कि आज के ज़माने में
आदमी से ज्यादा लोग
पोस्टरों को पहचानते हैं
वे आदमी से बड़े सत्य हैं[2]

नई कविता के प्रयोग का यही महत्त्व है कि उसमें किसी भी मतवाद की अपेक्षा किसी

---

१. विजयदेव नारायण साही : युग चेतना।
२. सर्वेश्वर : नयी कविता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी रूढ़िग्रस्त परम्परा की अपेक्षा व्यापक मनुष्यत्व में विश्वास किया है। उसने परम्परा से शील लिया है और उस शीलवान उत्तराधिकारी की भाँति वह सब ग्रहण किया है जो उसे उचित रूप में उत्तराधिकारी होने के नाते मिला है। जो त्याज्य था उसका उसने परित्याग किया है, इसीलिए उसकी आस्था में प्रगति है और प्रयोग वह उस नये मार्ग को प्रशस्त करने के लिए कर रहा है जिसमें देश-काल की मर्यादा के साथ नया यथार्थ उसको सन्देश देता है। परम्परा का सहज अधिकारी आज का प्रयोग है, जो प्रगति का विश्वास रखते हुए किसी भी मतवाद की संकीर्णता को बिना स्वीकार किये आगे बढ़ने में संलग्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्रजविलास श्रीवास्तव

हिन्दी-उपन्यास में नये प्रयोग

साहित्य में प्रयोग शब्द का व्यवहार सामान्यतया परम्परा के विरोध के अर्थ में किया जाता है। अंग्रेजी में कुछ आलोचकों द्वारा आधुनिक अंग्रेजी साहित्य— विशेष रूप से उपन्यास और कविता का—प्रयोगवादी (experimentalist) और परम्परावादी (Traditionalist) इन दो वर्गों में बाँटा जाना इसी अर्थ की ओर संकेत करता है। इसी दृष्टि से जेम्स ज्वायस, डारोथी, रिचर्डसन और वर्जिनिया वुल्फ के उपन्यासों को प्रयोगवादी वर्ग में रखा जाता है। इन लेखकों ने अपने युग के नये यथार्थ को मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक आधार पर अभिव्यक्त करने के लिए पिछले उपन्यासों द्वारा स्थापित परम्परागत मानों, मूल्यों और रूप-शिल्प को अनुपयुक्त और युग-सत्य की अभिव्यक्ति में बाधक घोषित किया। वर्जिनिया वुल्फ के शब्दों में 'इस समय कथा-साहित्य का जो रूप प्रचलित है उसमें अपेक्षित वस्तु पकड़ में न आकर प्रायः छूट जाती है; चाहे हम उसे जीवन कहें या आत्मा, सत्य कहें या वास्तविकता, उसे हम जिस ढाँचे में रखना चाहते हैं वह अनुपयुक्त होने के कारण उसे व्यक्त नहीं कर पाता।' जीवन के गहन यथार्थ को चित्रित करने के लिए उपन्यास के प्रचलित रूप-विधान के स्थान पर नये रूप-विधान की आवश्यकता महसूस की गई। और इसके लिए उपन्यास-कला ने लेखक की कल्पना में मूर्त होकर अपने एकाधिकार और यौवन की पुनः प्राप्ति के लिए उपन्यासकारों को इस बात की पूरी छूट दे दी कि वे जैसे चाहें उसके अंगों को तोड़-मोड़कर उसे नया रूप दे सकते हैं।[1] परिणामस्वरूप उपन्यास-कला को नया रूप और नई शक्ति देने के लिए इन उपन्यासकारों ने अनेक प्रयोग किये; यह अलग प्रश्न है कि उनमें से कितने प्रयोग सफल हुए। अंग्रेजी के इन प्रयोगवादी कहे जाने वाले उपन्यासकारों ने अपने युग की वास्तविकता को किस सीमा तक अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त किया अथवा उनकी वास्तविकता का स्वरूप या उसकी पकड़ का साधन क्या था, इस सम्बन्ध में विचार करने का यहाँ अवसर नहीं। इतना बता देना पर्याप्त है कि उनके इस नये यथार्थ को युग-सत्य का समानार्थी मानने के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास-कला को नई दिशा में मोड़ने में ये प्रयोगकर्ता पूर्ण रूप से सफल हुए। उपन्यास के परम्परागत रूप-विधान में इतना अधिक परिवर्तन न सह सकने वाले परम्परावादी आलोचकों और उपन्यासकारों ने इन प्रयोगों को परम्परा-विरोधी और प्रयोगकर्ताओं को बौद्धिक अराजकतावादी घोषित किया।

परम्परा और प्रयोग-सम्बन्धी यह विवाद अंग्रेजी साहित्य में बहुत दिनों तक चलता रहा, हिन्दी में भी नये प्रयोगों के प्रारम्भ होने के कुछ ही वर्षों बाद परम्परावाद का सिद्धान्त

1. 'Modern Fiction'—The Common Reader Virginia Woolf.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी विशेष रूप में सामने आया। यह दूसरी बात है कि हिन्दी में यह विवाद अभी भी ज्यों-का-त्यों समस्या के रूप में बना हुआ है, जबकि अंग्रेजी में इसे समाप्त हुए २०-३० वर्षों का एक लम्बा युग बीत चुका है। सच तो यह है कि सच्चे साहित्य के सम्बन्ध में परम्परा और प्रयोग का विवाद उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता क्योंकि प्रयोगवाद घिसे-पिटे परम्परावादी साहित्य के ही विरोध में आता है और ये घिसे-पिटे परम्परावादी साहित्यिक ही प्रयोग के विरोध में परम्परावाद के सिद्धान्त की आत्म-रक्षा के लिए आड़ लेते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि नये प्रयोगों के कारण खण्डित होने वाली जिस परम्परा की यहाँ चर्चा की जा रही है, वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलने वाली परम्परा है जिसे साहित्यकार उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करता है। परम्परावादियों के अनुसार साहित्य में अनियन्त्रित नये प्रयोगों द्वारा इसी परम्परा की अक्षुण्णता बाधित होती है और यही कारण है कि परम्परा-विच्छिन्न नये प्रयोगों में दुरूहता और अस्पष्टता आ जाती है। इस अस्पष्टता के कारण प्रयोगवादी रचना में प्रेषणीयता का गुण नहीं रह जाता। फलस्वरूप प्रयोगकर्ता का मूल उद्देश्य—अपनी नई बात को नये माध्यम से पाठक तक पहुँचाना—ही नष्ट हो जाता है। परम्परावादियों के इस सिद्धान्त—प्रयोग परम्परा-विरोधी होता है—का खण्डन साहित्य में नये प्रयोग के सबसे बड़े समर्थक टी० एस० इलियट ने अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक अपने निबन्ध 'ट्रेडिसन एण्ड इण्डिविजुअल टैलेंट' में किया है। इलियट ने परम्परा के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा को भ्रान्त बतलाते हुए कहा है कि यदि परम्परा का अर्थ अपनी ठीक पूर्व की पीढ़ी का अन्धानुकरण करना या उसकी सफलताओं से चिपके रहना है, तो उसकी निश्चित रूप से उपेक्षा होनी चाहिए। नवीनता आवृत्ति से कहीं अच्छी है। परम्परा इससे कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है, वह उत्तराधिकार के रूप में नहीं प्राप्त होती, बल्कि उसकी प्राप्ति के लिए उस ऐतिहासिक दृष्टि की आवश्यकता होती है जिससे भूत के बीते हुए रूप को ही नहीं बल्कि वर्तमान में उसकी विद्यमानता को भी देखने की शक्ति प्राप्त होती है। इस ऐतिहासिक दृष्टि से युक्त प्रतिभाशाली साहित्यकार अपनी प्रतिभा से नई वास्तविकता को पकड़ पाने और अभिव्यंजना-प्रणाली के नये प्रयोगों द्वारा उसे ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने में सफल होता है। इलियट के इस कथन में सत्य का बहुत अधिक अंश है। वास्तव में इस तरह के प्रयोग से ही परम्परा का विकास होता है। परम्परा स्थिर और निर्जीव वस्तु नहीं, वह विकासमान और गतिशील होती है। पिछली पीढ़ी के अनुकरण अथवा आवृत्ति द्वारा परम्परा का विकास रुक जाता है। अतः परम्परा को उसके प्रचलित और सीमित अर्थ में स्वीकार करके रचना करने वाले साहित्यकार वास्तव में परम्परा के समर्थक नहीं माने जा सकते।

किसी साहित्य-रूप में प्रयोग उसके रूप-शिल्प (Form) में ही होता है; कम-से-कम प्रयोग की पहचान रूप-शिल्प, अभिव्यंजना-प्रणाली और भाषा-शैली आदि से ही होती है। रूप-शिल्प में प्रयोग का अर्थ है किसी साहित्य-रूप के परम्परागत रूप-विधान के स्थान पर किसी सीमा तक नवीन रूप-विधान का अन्वेषण। किन्तु नवीन रूप-विधान भी अपने-आपमें उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कि उस रूप के अन्वेषण या प्रयोग के लिए बाध्य करने वाला लेखक का वह कथ्य, जिसे वह परम्परागत रूपों अथवा अन्य किन्हीं प्रचलित रूपों द्वारा उतनी प्रभविष्णुता और गहराई से व्यक्त नहीं कर सकता। प्रयोग के लिए प्रयोग तो वे रूपवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं, जिनके पास कहने को कुछ नहीं होता। निष्कर्ष यह कि वास्तविक प्रयोग उसीको कहा जा सकता है जिसमें कथ्य की नवीनता रूप-शिल्प में नवीनता लाने के लिए बाध्य करती है। सच पूछा जाय तो प्रयोग की सारी समस्या वक्तव्य-वस्तु अथवा लेखक के अभीप्सित उद्देश्य और प्रभाव-सृष्टि को लेकर ही है। कलात्मक नवीनता से प्राप्त होने वाले सौन्दर्य-बोधात्मक आनन्द (Aesthetic pleasure) की उपलब्धि भी इन्हीं प्रयोगों द्वारा होती है।

यहीं एक और प्रश्न यह उठता है कि वक्तव्य-वस्तु की नवीनता से क्या अभिप्राय है? सम्भवतः कोई भी प्रबुद्ध साहित्यकार इससे इन्कार नहीं कर सकता कि प्रत्येक युग बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही नई समस्याएँ, नये मूल्य और नई मर्यादाएँ साथ लाता है। परिवर्तित परिस्थिति में वास्तविकता का स्वरूप भी वह नहीं रह जाता जो उसके पूर्व युग की परिस्थितियों में था। इन बदली हुई परिस्थितियों और उनके बीच संघर्ष-रत मनुष्य के चित्रण द्वारा नये मानव-मूल्यों और नई मर्यादाओं की खोज और उनकी स्थापना ही साहित्यकार, विशेष रूप से उपन्यासकार का प्रमुख दायित्व है। इस दायित्व को स्वीकार करके चलने वाले लेखकों के लिए प्रायः नये माध्यमों का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। पूर्वयुगीन सत्यों और मानव-मूल्यों को अभिव्यक्ति देने में जो रूप-विधान पूर्णतया सफल हुए हैं, सम्भव है वे ही नई परिस्थिति में जन्म लेने वाले नये सत्यों और नये जीवन-मूल्यों को प्रेषित कर पाने में असफल सिद्ध हों। अतः साहित्य में नये प्रयोगों में की आवश्यकता और सार्थकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस दायित्व-निर्वाह का सबसे अधिक बोझ उपन्यासकार के ऊपर ही है, क्योंकि परिस्थितियों से संघर्ष-रत मानव और उसकी उपलब्धियों को जितनी पूर्णता और सफलता के साथ उपन्यासकार हमारे सामने रख सकता है, उतनी पूर्णता और सफलता के साथ कवि, नाटककार अथवा अन्य कोई नहीं। किन्तु आज के उपन्यासकार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि आज की वास्तविकता को ठीक-ठीक पकड़ने वाली दृष्टि क्या है? १९वीं सदी में जब फ्रेञ्च उपन्यासों का अंग्रेजी पर तेजी से प्रभाव पड़ रहा था जॉर्ज मूर ने उपन्यास की परिभाषा स्थिर करते हुए लिखा था कि 'उपन्यास समकालीन इतिहास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वह जिस युग में हम जी रहे हैं, उसके सामाजिक परिवेश का बिलकुल पूर्ण और सही-सही पुनर्निर्माण है।'[१] इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक श्रेष्ठ उपन्यास किसी सीमा तक अपने युग का इतिहास होता है। फिर भी आज का उपन्यासकार उक्त परिभाषा की व्याख्या चाहेगा। वह कई प्रश्न करेगा; सही-सही से क्या अभिप्राय है? पूर्ण का क्या अर्थ है? इससे भी आगे बढ़कर वह यह पूछ सकता है कि पुनर्निर्माण सही माने में किसे कहते हैं? आदि। यहाँ तक कि अपने युग की भी वह व्याख्या चाहेगा, क्योंकि इन प्रश्नों का उत्तर आज उतना सरल नहीं रह गया है जितना पूर्ववर्ती युगों में था। आज के उपन्यासकार के लिए केवल दो मार्ग हैं। या तो वह इन प्रश्नों से अपने को बचा जाय और कोई भी किस्सा कहकर अपने दायित्व की इतिश्री समझ ले या वह उन प्रश्नों की गहराई में जाकर उनका उत्तर ढूँढे और सत्य को पाने का प्रयत्न करे। आज का सजग उपन्यासकार इन प्रश्नों को अपने सामने रखता है और उनकी

१. The novel, if it be anything is contemporary history, an exact complete reproduction of the social surroundings of the age we live in.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जटिलता के कारण कोई स्पष्ट उत्तर न पाकर विविध रूपों में उन समस्याओं को सामने रखता और उनका उत्तर ढूँढने का प्रयास करता है। परिणामस्वरूप आज के उपन्यासों में रूप-शिल्प-सम्बन्धी विविध नये प्रयोगों के साथ-साथ उपन्यासकार के कथ्य और उसकी दृष्टि में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखलाई पड़ता है।

जहाँ तक हिन्दी के नये उपन्यासों के रूप-गठन का प्रश्न है उनमें अंग्रेजी के आधुनिकतावादी (Modernist) उपन्यासों की तरह का कोई ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ है, जो रूप-शिल्प की दृष्टि से उन्हें पिछले उपन्यासों से इस सीमा तक विच्छिन्न कर दे कि वे भिन्न जाति के मालूम पड़ें और समीक्षकों तथा पाठकों को इस साहित्य-रूप के सम्बन्ध में नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य होना पड़े। अंग्रेजी के उपन्यासों में हुए प्रयोगों और रूप-शिल्प-सम्बन्धी क्रान्तिकारी परिवर्तनों का अन्दाज तो इसीसे लगाया जा सकता है कि वर्जिनिया वुल्फ अपने उपन्यासों को प्रचलित अर्थों में उपन्यास मानती ही नहीं। प्रसिद्ध उपन्यासकार ह्यू वालपोल ने अंग्रेजी-उपन्यास की आधुनिक प्रवृत्तियों की विवेचना करते हुए लिखा है कि 'वर्जिनिया-वुल्फ अपनी कला के लिए, यदि मिल जाय तो, कोई नया नाम गढ़ने के लिए तैयार हैं। आल्डस हक्स्ले को इस बात की बिलकुल परवाह नहीं कि कोई उन्हें उपन्यासकार मानता है या नहीं। इस समय (१९३०-३४ के आस-पास) इंग्लैण्ड में कोई भी यह ठीक-ठीक नहीं जानता कि उपन्यास क्या है। बड़े आलोचक दृढ़ता-पूर्वक यह मानते हैं कि यह कुछ ऐसी चीज है जो सामान्य पाठकों की समझ में न आए, जब कि छोटे आलोचक उतनी ही दृढ़ता से कहते हैं कि बड़े आलोचक जिसे उपन्यास की संज्ञा देते हैं, वह उपन्यास नहीं।[1] जेम्स ज्वॉयस के 'यूलिसिस' और 'फिनेगन्सवेक', वर्जिनिया वुल्फ के 'मिसेज डालोवे', 'बिट्वीन द एक्ट्स' तथा फिलिप टायन्बी के 'टी-विथ मिसेज गुडमैन' को उदाहरण-स्वरूप देखा जा सकता है। 'यूलिसिस' के प्रयोग का अन्दाज तो इसीसे लगाया जा सकता है कि जुंग ने इसके बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि इसका आदि-अन्त कुछ नहीं है और इसे सीधे आगे की ओर और उलटे पीछे की ओर, किसी ओर से पढ़ा जा सकता है, कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। यूलिसिस के बारे में न सही, किन्तु 'फिनेगन्सवेक' के बारे में यह कथन बिलकुल सच है। जिस वाक्य के मध्य से उपन्यास प्रारम्भ होता है, उसी वाक्य के मध्य में समाप्त भी होता है। इसे आगे-पीछे किसी तरफ से पढ़ सकते हैं। भाषा जेम्स ज्वॉयस की बहुत-कुछ स्वयं गढ़ी हुई बिलकुल मौलिक है, एकदम अछूती और अप्रयुक्त। यह उपन्यास वस्तुतः श्रव्य है अर्थात् जेम्स ज्वॉयस के अनुसार इसे समझने और आनन्द लेने के लिए इसका सस्वर पाठ सुनना चाहिए। आदर्श पाठक जेम्स ज्वॉयस ही हो सकते थे; इसलिए उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण उपन्यास का स्वयं किया हुआ पाठ रेकर्ड भी करवा डाला।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि जेम्स ज्वॉयस, डारोथी रिचर्ड्सन, वर्जिनिया वुल्फ, फिलिप टायनबी, होरेस मेकॉय आदि अंग्रेजी के अधिकांश प्रयोगवादी उपन्यासकार 'अन्तश्चेतनावादी हैं, जो मनोविश्लेषणात्मक स्तर पर मानव-मन या अन्तश्चेतन की गहराइयों को—चाहे वे जैसी भी हों—उभारकर पाठकों के सम्मुख रखने के दायित्व में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि अंग्रेजी उपन्यासों में प्रयोगवाद अन्तश्चेतनात्मक के अर्थ में बहुत अंश तक

१. Tendencies of Modern novel—English.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूढ़ हो गया है। यद्यपि अंग्रेजी में ऐसे भी उपन्यास हैं जिनमें प्रयोग की पर्याप्त नवीनता और जो सतत प्रवहमान अन्तश्चेतन की बारीकियों का दर्शन कराने वाले उपन्यासों से भि कोटि के हैं। सच पूछा जाय तो अंग्रेजी के आधुनिक उपन्यास-साहित्य में परम्परावादियों औ इन तथाकथित प्रयोगवादियों का सारा विवाद बहुत-कुछ समय तत्त्व को लेकर है। परम्परा वादियों की तरह ये प्रयोगकर्त्ता यह नहीं स्वीकार करते कि समय सेकण्ड, मिनट और घण्टे निश्चित अन्तर और क्रम से व्यतीत होता है। परम्परावादी समय और क्रिया तथा समय औ घटना में सामञ्जस्य बनाये रखने पर जोर देते हैं, जब कि अन्तश्चेतनावादी एक क्षण विचार अथवा क्षणस्थायी चेतना-प्रवाह का चित्रण इस प्रकार कर सकते हैं कि वर्षों का सम और अनगिन घटनाएँ उसके सामने तुच्छ और छोटी मालूम पड़ें। प्रयोगवादी ये नहीं मान कि समय अपने-आपमें कोई विधेयात्मक गुण रखता है; उनके अनुसार समयगत मूल (Time value) और उसकी अवधि अन्य परिवर्तनशील कारणों पर आधारित है। समय निरंकुशता को समाप्त कर देने के प्रयत्न ने आधुनिक अंग्रेजी कथा-साहित्य में क्रान्तिका परिवर्तन उपस्थित कर दिया। समयगत रूढ़ि को मानकर रचना करने वाले उपन्यासकारों लिए पुराने और प्रचलित रूप-विधान तथा कथानक, चरित्र और क्रिया-सम्बन्धी परम्परावा धारणा मान्य थी; किन्तु प्रयोगवादी परम्परावाद के इस अत्याचार को स्वीकार करने के लि तैयार नहीं थे। १९१९ में वर्जिनिया वुल्फ ने 'माडर्न फिक्शन' शीर्षक प्रसिद्ध लेख में परम्पराव के इस अत्याचार की चर्चा करते हुए लिखा है कि ऐसा मालूम होता है कि लेखक अपनी स्वतं इच्छा से नहीं बल्कि किसी अत्यन्त शक्तिशाली और सिद्धान्तहीन अत्याचारी के चंगुल अवश पड़ा हुआ उपन्यास में कथानक देने, उसे सुखान्त या दुखान्त बनाने तथा उसमें प्रे और दिलचस्पी की बातें लाने के लिए बाध्य कर दिया जाता है।[1] वुल्फ ने जीवन की नई व्याख्या सामने रखी :

Life is not a series of big lamps symmetrically arranged, life is a luminous holo, a semitransparent envelope surrounding us from the beginning consciousness to the end.

इस परिभाषा के अनुसार उपन्यासकार का यह कर्तव्य माना गया कि वह मन पड़ने वाले, प्रत्येक घटना और प्रत्येक दृश्य के प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव को उपन्यास में क्र पूर्वक सजाकर रखे, चाहे वह कितना भी विशृंखल और असम्बद्ध क्यों न हो।[2] परिणा स्वरूप इन लेखकों के प्रायः सभी उपन्यासों में कथानक और चरित्र, क्रिया और विचार 'चेतन प्रवाह' (Stream of consciousness) में डूबकर अस्तित्वहीन-से हो गए हैं।

× × × × ×

हिन्दी-उपन्यास के नये प्रयोगों पर विचार करते समय सबसे पहला प्रश्न यह है कि उसका परम्परागत रूप (Traditional shape) क्या है? अर्थात् हिन्दी-उपन्यासों रूप-गठन और रचना-सम्बन्धी वे कौन-सी विशेषताएँ और मान्यताएँ हैं जिन्हें आज का प्रयो कर्ता ज्यों-का-त्यों न ग्रहण करके अथवा अपने कथ्य, उद्देश्य और प्रभाव-सृष्टि के लिए ढाँचे को उपयुक्त माध्यम न समझकर नई टेकनीक और नये कौशलों का सहारा लेता है।

१. Modern Fiction—the common reader.
२. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजी उपन्यासों की तुलना में हिन्दी-उपन्यासों की परम्परा नहीं के बराबर है; फिर भी 'परीक्षा गुरु' से लेकर 'गोदान' और 'चित्रलेखा' तक आते-आते हिन्दी-उपन्यासों का एक परम्परागत रूप स्थिर हो चुका था जिसमें आज भी अनेक प्रौढ़ उपन्यासकार उपन्यास-रचना कर रहे हैं। मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण-शास्त्र के अस्तित्व में आने के पूर्व विश्व-उपन्यास में उपन्यास-रचना के सम्बन्ध में बहुत-कुछ एक ही प्रकार की धारणा दिखलाई पड़ती है। इस धारणा के अनुसार उपन्यास में कथा अवश्य होनी चाहिए; साथ ही वह कथा पूर्वापर-सम्बन्ध और कार्य-कारण-शृङ्खला से युक्त होनी चाहिए। साथ ही उसमें सशक्त और महत्त्व-पूर्ण चरित्र का होना आवश्यक है।

अंग्रेजी के अन्तश्चेतनावादी प्रयोगात्मक उपन्यासों की भूमिका में यदि हम हिन्दी के मनोवैज्ञानिक कहे जाने वाले उपन्यासों पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि जैनेन्द्र अथवा इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास मूलतः इनसे भिन्न कोटि के हैं। यही कारण है कि हिन्दी-उपन्यास के प्रचलित रूप-विधान में इन्होंने कोई मौलिक परिवर्तन नहीं उपस्थित किया है। इनके उपन्यास उसी अर्थ में और उसी सीमा तक मनोवैज्ञानिक हैं, जिस अर्थ में और जिस सीमा तक यशपाल के उपन्यास मार्क्सवादी हैं। जिस तरह मार्क्सवादी दृष्टि के अपनाने-मात्र से मार्क्सवादी कहे जाने वाले उपन्यासों के कथा-शिल्प और रूप-विधान में कोई प्रयोगात्मक परिवर्तन (Experimental change) नहीं घटित हुआ है, उसी प्रकार 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'संन्यासी' या 'पर्दे की रानी' में भी इस तरह का कोई परिवर्तन नहीं मिलेगा, जो रूप-गठन की दृष्टि से इन्हें पूर्ववर्ती तथा समकालीन उपन्यासों से भिन्न श्रेणी का सिद्ध करता हो। कारण यह है कि इनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि किसी मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि द्वारा नायक-नायिकाओं की क्रियाओं—मानसिक तथा व्यावहारिक दोनों—और उनके सामाजिक सम्बन्धों के यान्त्रिक नियन्त्रण तक ही सीमित है, जबकि जेम्स ज्वॉयस, डारोथी रिचर्ड्सन और वूल्फ आदि के उपन्यासों में वह कई दिशाओं में काम करती है। कहानी कहना इनका उद्देश्य नहीं, फिर भी कहानी इन्होंने कही है, भले ही वह बड़े 'कन्वैस' पर परिस्थितियों से जूझने वाले मनुष्य, उसके परिवेश और उसके सामाजिक सम्बन्धों की कहानी न होकर अपनी कुण्ठाओं और ग्रन्थियों के वशीभूत आत्मकेन्द्रित व्यक्ति की ही कहानी क्यों न हो।

सच पूछा जाय तो हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में सबसे पहला प्रयोग 'अज्ञेय' ने 'शेखर : एक जीवनी' (प्रथम भाग) में किया। इसकी प्रयोगात्मकता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि उपन्यास की एक निश्चित परिभाषा स्वीकार करने वाले (यद्यपि यह परिभाषा भी पूर्ववर्ती लक्ष्य-ग्रन्थों के ही आधार पर बनी है) इसे उपन्यास मानने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि उनके अनुसार इसमें कथानक भी कार्य-कारण-शृङ्खला से युक्त सम्बद्धता नहीं है। इस उपन्यास की मौलिकता भी यही है। पूरा उपन्यास 'स्मृत्यालोक' (Flash back) की टेक्नीक में लिखा गया है। स्मृतियाँ एक साथ ही सम्पूर्णतः सम्बद्ध रूप में नहीं आतीं, वह खण्डों (Fragments) में आती हैं, यही कारण है कि उपन्यासकार ने वस्तु-गठन में खण्ड-चित्रों की पद्धति (Fragmentory method) को अपनाया है। यद्यपि ये दोनों पद्धतियाँ अंग्रेजी उपन्यासों में बहुत अधिक प्रयुक्त होकर नवीनता का आकर्षण खो चुकी हैं, किन्तु हिन्दी के लिए अभी भी ये बिलकुल नई है। हिन्दी में स्मृत्यालोक-पद्धति का प्रयोग न किया गया हो, ऐसी बात नहीं;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी में इस पद्धति का बहुत सुन्दर ढंग से उपयोग कि गया है। किन्तु हिन्दी में कोई उपन्यास पूरा-का-पूरा इस टेकनीक को आधार बनाकर लिख हुआ नहीं मिलेगा। इस प्रसंग में अंग्रेजी के दो आधुनिक उपन्यासों की चर्चा करना चाहत हूँ; मे सिन्क्लेयर का 'द लाइफ एण्ड डेथ अव हैरिएट फ्रीन' और होरेस मेकाप का 'दे थूट हार्सेज डोण्ट दे'। 'द लाइफ एण्ड डेथ अव हैरिएट फ्रीन' में 'शेखर : एक जीवनी' की तरह ही स्मृत्यालोक-पद्धति द्वारा हैरिएट की आत्म-कथा कही गई है। डूबती हुई हैरिएट की चेतना में डूबने के समय के क्षण-भर के प्रत्यावलोकन में ही उसका सारा भूत जीवन बिजली की तरह कौंध जाता है। उसके भूत जीवन के अनेक मानस-चित्र सिनेमा की रील्स की तरह आते औ चले जाते हैं और इन मानस-चित्रों के रूप में ही उसके ७० वर्षों की जीवन-कथा लगभग २०० पृष्ठों में कही गई है। होरेस मेकाय के उपन्यास में सारा स्मृत्यालोक फाँसी की सज सुनाई जाने के कुछ मिनटों के अवकाश में ही प्रकाशित होता है। कहा जाता है कि मृत्यु के कुछ समय पहले मनुष्य को उसका भूत जीवन विविध मानस-चित्रों के रूप में दीखने लगता है। इसीलिए इन उपन्यासकारों ने स्मृत्यालोक के लिए प्रायः इसी भूमिका को चुना है। 'शेखर : एक जीवनी' के सारे स्मृत्यालोक की भूमिका यही है—फाँसी, मृत्यु अथवा मृत्यु की अनिवार्यता का बोध।

'फाँसी !

······

सिद्धि कैसी—काहे की ? मेरी मृत्यु की क्या सिद्धि होगी—मेरे जीवन की क्या थी ···मैं अपने जीवन का प्रत्यावलोकन कर रहा हूँ, अपने अतीत जीवन को दुबारा जी रहा हूँ।'

इस प्रत्यावलोकन में शेखर के चेतना-प्रवाह में भी अनेक तरंगें उठती हैं। स्मृति के दर्पण में वह अपने सम्पूर्ण भूत को प्रतिबिम्बित होते देखता है। उसका सारा पिछला जीवन विभिन्न मानस-चित्रों (Mental images) के रूप में प्रत्यक्ष होता है और जिस क्रम से वे चित्र उसे दीखते हैं, उसी अनुक्रम में उन्हें रखा गया है। इसलिए 'शेखर : एक जीवनी' (प्रथम भाग) में घटनाओं के पूर्वापर सम्बन्ध और कार्य-कारण-शृङ्खला से युक्त कथानक ढूँढना व्यर्थ है। स्मृतियों का विशृङ्खल और असम्बद्ध होना ही अधिक मनोवैज्ञानिक है, वह भी उस व्यक्ति की स्मृतियों का जो मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है, जिसके मस्तिष्क में इस दण्ड-विधान को लेकर, आज के जीवन-मूल्यों और मान्यताओं को लेकर विचारों की आँधी उठ रही है और जो आमूल परिवर्तन चाहने वाली अपनी मूल्यवान् (?) विद्रोही भावना का मूल्य मृत्यु के रूप में पाकर क्षुब्ध हो उठा है। इस उपन्यास के कथानक पर विचार करते समय इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। शेखर : एक जीवनी' में प्रयोग यही है, उसकी मौलिकता यही है। अनुक्रम इसमें घटनाओं और दृश्यों का नहीं, भावों और मनस्थितियों का है। इन्हीं भावों और मनस्थितियों के उत्तरोत्तर विकास का, उन घटनाओं और दृश्यों के साथ, जिन पर वे आश्रित हैं, चित्रण और विश्लेषण करना ही उपन्यासकार का प्रमुख उद्देश्य है। ये चित्र अपने-आपमें बहुत-कुछ स्वतन्त्र होते हुए भी समन्वित प्रभाव की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं।

'शेखर : एक जीवनी' के बाद इस दिशा में इस तरह का कोई प्रयोगात्मक उपन्यास नहीं लिखा गया। ऐतिहासिक उपन्यासों की दिशा में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बाणभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आत्मकथा' निश्चित रूप से एक अभिनव प्रयोग है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि न जाने कितने पाठकों के मन में इस उपन्यास ने यह भ्रान्ति उत्पन्न की है कि बाण-भट्ट ने सचमुच कोई आत्म-चरित लिखा था और द्विवेदी जी ने इस 'आत्म-कथा' के रूप में उसका रूपान्तर मात्र किया है। आत्मकथा में वास्तविकता और प्रामाणिकता का आभास उत्पन्न करने के लिए लेखक ने अनेक कौशलों का सहारा लिया है। 'आमुख', उपसंहार और पाद-टिप्पणियों का प्रयोग इसी कौशल के रूप में हुआ है। पूरा उपन्यास संस्कृत की कथा-आख्यायिका—विशेष रूप से कादम्बरी और हर्षचरित—की शैली को ध्यान में रखकर लिखा गया है। भामह ने आख्यायिका के जो लक्षण बताए हैं, वे भी इसमें मिल जाते हैं। इसमें गद्य-काव्य से युक्त सरस कथा कही गई है, वह उच्छ्वासों में विभक्त है और कथा कहने वाला स्वयं नायक है। कादम्बरी की तरह रूप-रंग, शोभा, सौन्दर्य आदि के प्रचुर वर्णन के कारण इसमें भी कथा रुक-रुककर आगे बढ़ती है। बाणभट्ट की शैली के अनुरूप रसघनत्व, आलंकारिक वस्तु-वर्णन और पद-विन्यास द्वारा पाठकों के मन में आत्म-कथा की प्रामाणिकता उद्भासित करने में लेखक पूर्ण रूप से सफल हुआ है। फिर भी इसे प्राचीन कथा-आख्यायिका न कहकर आधुनिक ढंग का उपन्यास ही कहा जायगा। जैसा कि लेखक ने उपसंहार में संकेत किया है, इसमें 'बाणभट्ट की शैली के साथ ऊपर-ऊपर से साम्य होते हुए भी' आधुनिक शैली की वह नवीनता भी बहुत अधिक है, जो संस्कृत-साहित्य में नहीं मिल सकती, प्रेम के गूढ़ और अदृप्त भाव की व्यञ्जना में यह शैली विशेष रूप से दिखलाई पड़ती है। अतः उद्देश्य के अनुरूप प्राचीन शैली के साथ गूढ़ भावों को व्यञ्जित करने वाली आधुनिक शैली का सामञ्जस्य स्थापित करके लेखक ने हिन्दी-उपन्यास में निश्चित रूप से बिलकुल मौलिक प्रयोग किया है।

× × ×

'शेखर : एक जीवनी' (प्रथम भाग) और 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' के बाद हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में जो भी नये प्रयोग हुए, वे पिछले तीन-चार वर्षों में नई पौध के उन लेखकों द्वारा हुए जिनके प्रयोग की दिशा और जिनका उद्देश्य पिछले दोनों उपन्यासों से बिलकुल भिन्न है। धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा', गिरिधर गोपाल का 'चाँदनी के खण्डहर', नागार्जुन का 'बाबा बटेसरनाथ', फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें कथा-शिल्प की नवीनता और ताजगी तो है ही, साथ ही इनमें आज के यथार्थ को कई स्तरों पर उभारने का प्रयत्न किया गया है।

किसी उपन्यास का कई कहानियों के रूप में लिखा जाना हिन्दी में ही नहीं अन्य भाषाओं में भी बिलकुल नया प्रयोग है। हिन्दी में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' इस टेकनीक में लिखा गया हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। यह उपन्यास छः कहानियों के रूप में लिखा गया है। ये कहानियाँ परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी बड़े कौशल से एक-दूसरे से जोड़ दी गई हैं। उपन्यास का गठन और कहानी कहने का ढंग बहुत पुराना और परिचित है। जैसा कि 'भूमिका' में श्री अज्ञेय ने लिखा है—"अलफलैला वाला ढंग, पंचतन्त्र वाला ढंग, बोकैच्छियो वाला ढंग, जिसमें रोज किस्सागोई की मजलिस जुटती है, फिर कहानी में से कहानी निकलती है।" 'कथासरित्सागर' में नरवाहनदत्त, मन्त्री यौगन्धरायण और रानियों आदि में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी-कभी प्रेम के किसी पहलू को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाता है और हर व्यक्ति अपने निष्कर्ष की सत्यता किसी कथा के माध्यम से सिद्ध करता है। यहाँ एक ही वस्तु को कई व्यक्ति कई कोणों से कई सन्दर्भों में रखकर देखते हैं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में बहुत-कुछ इसी पद्धति का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इसमें कहानी कहने वाले कई व्यक्ति नहीं, एक ही व्यक्ति माणिकमुल्ला हैं। उपन्यासकार की सारी मौलिकता इस बात में है कि उसने इस पुराने ढंग का उपयोग अपने उद्देश्य के अनुरूप इतने नये रूप में और इतने कौशल से किया है कि इस 'ग्रामीण' लगने वाली पद्धति में भी मौलिकता और नवीनता का अद्भुत आकर्षण आ गया है। प्रत्येक कहानी का अन्त भी पुरानी पोथियों के 'इति···कृत'···पुस्तकस्य प्रथमो तरंगः (लम्बकः, अध्यायः) समाप्तः' के ढंग पर 'इस तरह माणिकमुल्ला की अमुक निष्कर्षवादी कहानी समाप्त हुई' के साथ होता है। संक्षिप्त अनध्याय वाला अध्याय उपन्यासकार की अपनी मौलिक सूझ है और वह प्रयोजन विशेष से रखा गया है। कहानियों के रूप में लिखे जाने के कारण ही इसमें मध्यवर्गीय प्रेम और उसके झूठे नैतिक मूल्यों को इतने छोटे फलक पर, विभिन्न सन्दर्भों में कई कोणों से उभार सकना सम्भव हो सका है। यही उपन्यासकार का उद्देश्य भी है। दूसरी विशेषता यह है कि टेकनीक के इस प्रयोग में मनोविश्लेषणात्मक प्रयोगों की तरह की जटिलता नहीं है; बिलकुल सादा ढंग है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं आवश्यकता से भी अधिक सादगी आ गई है। किन्तु टेकनीक की दृष्टि से किसी उपन्यास का कहानी के फार्म में लिखा जाना उतना महत्त्व नहीं रखता, जितना कि वह कौशल; जिसके द्वारा उपन्यासकार उन कहानियों में औपन्यासिक एकसूत्रता और सम्बद्धता स्थापित करता है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में माणिकमुल्ला का व्यक्तित्व तो इन कहानियों में एकसूत्रता स्थापित करने में योग देता ही है; साथ ही अन्य पात्र भी एक से अधिक कहानियों में बार-बार आकर उस सम्बन्ध-सूत्र को दृढ़ करने में सहायता पहुँचाते हैं। उपन्यास की यह टेकनीक बहुत सफल सिद्ध हुई है। अंग्रेजी और रूसी भाषा में कई नये उपन्यास कहानियों के रूप में लिखे गए हैं।

कई कहानियों के रूप में लिखी गई हिन्दी की दूसरी कृति—शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' की 'बहती गंगा' है, जिसमें काशी के २०० वर्षों की प्रवहमान जीवन-धारा को १७ तरंगों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। तत्कालीन सामाजिक जीवन के विविध भागों, उसके विभिन्न स्तरों को सींचने वाली ये तरंगें परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी 'धारा तरंग न्याय से' एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। किन्तु कहानियों के रूप में लिखी गई किसी कृति को उपन्यास का रूप देने के लिए जिस कौशलपूर्ण सम्बन्ध-सूत्र की आवश्यकता होती है, वह सूत्र इस कृति में नहीं है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में यह सम्बन्ध-सूत्र इसलिए है कि उसकी परस्पर स्वतन्त्र दीखने वाली कहानियाँ उपन्यास की कथानक-योजना के अभिन्न अंग के रूप में लिखी गई हैं। यही कारण है कि स्वतन्त्र कहानी के रूप में लिखी जाने पर भी वे बच्चों की कहानियों जैसी महत्त्वहीन मालूम पड़ेंगी। इसके विपरीत 'बहती गंगा' की कहानियाँ परस्पर स्वतन्त्र ही नहीं, कहानी-कला की दृष्टि से अपने-आपमें पूर्ण उत्कृष्ट कोटि की कहानियाँ हैं। इन कहानियों की यह कलात्मक पूर्णता यह प्रमाणित करती है कि ये किसी उपन्यास के अंग के रूप में नहीं, बल्कि समय-समय पर स्वतन्त्र कहानी के रूप में लिखी गई हैं। इन कहानियों में दृढ़ सम्बन्ध-सूत्र के अभाव का मूल कारण यही है। फिर प्रश्न यह उठता है कि 'बहती गंगा' को क्या माना जाय, कहानियों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संग्रह या कहानी-रूप में उपन्यास या और कुछ। इसमें सन्देह नहीं कि इसकी विभिन्न कहानियों और घटनाओं में सम्बद्धता और एकसूत्रता का अभाव इसके औपन्यासिक स्वरूप की पूर्णता में बाधक है, किन्तु साथ ही यह भी सच है कि 'बहती गंगा' काशी की जिन्दगी को लेकर लिखी गई कुछ कहानियों का संग्रह-मात्र नहीं है; क्योंकि ये कहानियाँ जिस काल-क्रम में रखी गई हैं उससे दो सौ वर्षों के भीतर काशी के सामाजिक जीवन में होने वाले क्रमिक विकास का पता चलता है। वस्तुतः 'बहती गंगा' को कहानी-रूप में उपन्यास न कहकर कहानियों के रूप में दो सौ वर्षों के भीतर काशी के सामाजिक जीवन में होने वाले परिवर्तन और विकास का इतिहास कहा जा सकता है। इस दृष्टि से 'बहती गंगा' हिन्दी-साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण और मौलिक कृति है, इतनी मौलिक कि अपनी नवीनता और मौलिकता के बल पर आलोचकों से नये साहित्य-रूप के नाम की माँग कर सकती है। वैसे, यदि कोई चाहे तो किसी उचित नाम के अभाव में उपन्यास की सीमाओं को थोड़ा और बढ़ाकर इसे उपन्यास की संज्ञा दे सकता है।

× × × ×

कहा जा चुका है कि अंग्रेजी के परम्परावादी और मनोविश्लेषणवादी प्रयोगवादी उपन्यासकारों का मूल विवाद समयगत मूल्य (Time value) को लेकर है। प्रयोगवादियों का समयगत मूल्य को अन्य परिवर्तनशील कारणों पर आश्रित मानने का एक प्रभाव उपन्यासों पर यह पड़ा कि उनमें कथानक की काल-सीमा धीरे-धीरे सीमित होती गई; क्योंकि इन उपन्यासकारों के अनुसार समयगत मूल्य की दृष्टि से एक व्यक्ति की सम्पूर्ण जीवन-कथा की अपेक्षा सम्भव है किसी अन्य व्यक्ति की २४ घण्टे की (या उससे भी कम) जिन्दगी अधिक महत्त्वपूर्ण हो। चूँकि मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों का उद्देश्य मानव-मन पर पड़ने वाले प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव का क्रमपूर्वक विश्लेषण करना था, इसलिए समय-सम्बन्धी यह मान्यता उनके लिए अधिक अनुकूल थी। लम्बा काल-फलक लेकर प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव को चित्रित करना उनके बूते की बात नहीं थी। इस पद्धति के आचार्य जेम्स ज्वॉयस को २४ घण्टे की जिन्दगी का विश्लेषण करने में ही ७ वर्ष लग गए, तब लगभग ८०० पृष्ठों की 'यूलिसिस' तैयार हुई; 'फिनेगन्सवेक' में इसी कार्य को और अधिक बारीकी से करने में उन्हें १६ वर्ष लग गए।

समय-सम्बन्धी इस प्रयोग ने मनोवैज्ञानिक यथार्थ के चित्रण में ही नहीं, सामाजिक यथार्थ, यहाँ तक कि समाजवादी यथार्थ के चित्रण की दिशा में भी अपनी उपयोगिता सिद्ध की। आधुनिक रूसी उपन्यासकार कातीव्ह (Kataev) के प्रसिद्ध उपन्यास 'फार्वड, ओ टाइम' में भी कथा एक कस्बे की २४ घण्टे की जिन्दगी तक ही सीमित है।

हिन्दी में हाल ही में प्रकाशित गिरिधर गोपाल के 'चाँदनी के खण्डहर' और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के लघु-उपन्यास 'सोया हुआ जल' में समय-सम्बन्धी इस प्रयोग को अपनाया गया है। 'चाँदनी के खण्डहर' की काल-सीमा है २४ घण्टा, 'सोया हुआ जल' की इससे भी कम सिर्फ १२ घण्टा। इन उपन्यासों पर विचार करने के पूर्व यह बता देना, आवश्यक है कि सीमित समय को लेकर बृहद्काय और लघु दोनों तरह के उपन्यास लिखे गए हैं। 'चाँदनी के खण्डहर' और 'सोया हुआ जल' लघु उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। मेरे विचार से लघु-उपन्यासों में ही समय-सम्बन्धी यह प्रयोग अधिक सफल हो सकता है। क्योंकि लघु-उपन्यासों का उद्देश्य जीवन को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करना नहीं, बल्कि उसके किसी एक पक्ष पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या कुछ पक्षों पर तीव्र और गहरा प्रकाश डालना होता है। इनमें लघु-कथाओं-जैसी गहनता, तीव्रता और प्रभविष्णुता लाने के लिए उपन्यासकार को ऐसी ही घटनाओं, परिस्थितियों और मनस्थितियों का चुनाव करना होता है, जो अभीष्ट प्रभाव की अन्विति में उसे अधिक-से-अधिक तीव्र और गहरा बनाने में योग देती हैं। कथा की काल-सीमा कम रखने वाले उपन्यासकारों का उद्देश्य इस प्रभाव को और अधिक एकोन्मुख करना होता है। समय-सम्बन्धी इस प्रयोग को अपनाकर लिखे गए उपन्यासों में उपन्यासकार का उद्देश्य कोई कहानी कहना नहीं होता, क्योंकि सीमित समय के कारण उसके पास कथा गढ़ने लायक कथा-सूत्रों और घटनाओं की कमी रहती है।

'चाँदनी के खंडहर' में भी लेखक का उद्देश्य कहानी कहना नहीं है। उसका उद्देश्य वर्णन और चित्रण-शैली के बल पर मध्यवर्ग की वर्तमान स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करना है। एक मध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक स्थिति और उसकी पृष्ठभूमि में समूचे परिवार को भीतर-ही-भीतर निगलने वाली निराशा, कुण्ठा और आन्तरिक खोखलेपन का इतना तीखा और पाठक के मन और बुद्धि को झकझोरने वाला चित्र हिन्दी में कम ही मिलेगा। वसन्त को ५ वर्ष बाद लन्दन से ले आने में मध्यवर्ग की उच्चाकांक्षा दिखाने के अतिरिक्त उपन्यासकार के दो और उद्देश्य हैं —

१—मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति में तेजी से होने वाले परिवर्तन की ओर संकेत करना। आज का मध्यवर्ग कितनी तेजी से खोखला होता जा रहा है, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, बिलकुल उसी तरह जैसे वसन्त सोच भी नहीं पाता कि ५ वर्ष के भीतर ही उसके परिवार को, परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को इतना अधिक किसने बदल दिया।

२—इस परिवर्तन के आन्तरिक और बाह्य प्रभाव की तीव्रता और गहराई दिखाना। परिवार के किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से इस प्रभाव की तीव्रता और गहराई नहीं व्यक्त की जा सकती थी, क्योंकि वह स्वयं बदलने की इस प्रक्रिया का अंग होने के कारण बहुत-कुछ उसका अभ्यस्त हो गया है; उसे वसन्त की तरह एक साथ ही इतना बड़ा परिवर्तन देखने, झेलने या अनुभव करने को नहीं मिलता है। लम्बी अवधि के बाद उम्मीदों की एक नई दुनिया साथ लेकर लौटा हुआ व्यक्ति जितनी तीव्रता और गहराई से इसका अनुभव कर सकता है, उतना उस परिवर्तन को नित्य देखने या झेलने वाला व्यक्ति नहीं। साथ ही वसन्त के मन पर पड़ने वाले प्रभाव में भी जितनी तीव्रता और गहराई पहले दिन संभव है, उतनी दूसरे दिन नहीं। उपन्यास के कथानक को २४ घण्टे की काल-सीमा में बाँधने का यही कारण है। परिवार की उत्तरोत्तर बिगड़ती हुई स्थिति के सूचक-सूत्रों को एक-एक करके खोलने में उपन्यास के वस्तु-गठन का सारा कौशल निहित है। यदि वसन्त के प्रारम्भिक उत्साह और उमंग के अतिरंजित वर्णन को लेखक थोड़ा सँभाल पाता, तो इस अत्यधिक उमंग के कारण उपन्यास के प्रारम्भिक अंश में जो थोड़ी कचाई आ गई है, वह न आ पाती। 'कण्ट्रास्ट' दिखाने के लिए आवश्यकता से अधिक उमंग का चित्रण जरूरी नहीं था।

'चाँदनी के खंडहर' में यदि एक परिवार की एक दिन की जिन्दगी का वर्णन है तो 'सोया हुआ जल' में एक यात्रिशाला (डाक-बँगला) के यात्रियों की एक रात की जिन्दगी का। इसके अतिरिक्त दोनों में कोई सादृश्य नहीं है। वस्तु-शिल्प, रूप-गठन, शैली, उद्देश्य सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टियों से 'सोया हुआ जल' बिलकुल भिन्न कोटि का उपन्यास है और अत्यन्त लघु होते हुए भी वह कई दृष्टियों से हिन्दी में बहुत ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। पूरा उपन्यास सिने-रियो-टेकनीक में लिखा गया है। लगता है कि लेखक ने अंग्रेजी के नये उपन्यासों की टेकनीक का विशेष अध्ययन किया है। इस टेकनीक की विशेषता यह है कि इससे कई व्यक्तियों के भावों, विचारों और कार्यों, यहाँ तक की एक ही व्यक्ति के विभिन्न भावों और मनस्थितियों का समकालवर्तित्व (Simultaneity) दिखलाया जा सकता है। एक ही व्यक्ति के समकालवर्ती (Simultaneous) वाह्याचरण और आन्तरिक भाव में असंगति दिखलाने के लिए उपन्यासकार ने स्वप्न-पद्धति का सहारा लिया है। इस पद्धति के द्वारा लेखक विभा और राजेश के वैवाहिक मधुर सम्बन्ध और उनके अन्तश्चेतन में पर-पुरुष और पर-स्त्री के लिए वर्तमान अतृप्त प्यास (विभा का मोहन के और राजेश का एक गोरी लड़की के प्रति) की सहस्थिति दिखलाने में सफल हो सका है। यात्रिशाला में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों के समकालवर्ती (Simultaneous) भावों, विचारों और कार्यों का चित्रण लेखक ने उस बूढ़े पहरेदार के माध्यम से किया है जिसके कान प्रत्येक कमरे से आने वाली आवाज को सुनते हैं, जिसकी दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों और व्यवहारों को देखती है। पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, जन-नायक, शराबी, मौजी, आवारा, सभी प्रकार के लोग उस यात्रिशाला में रहते हैं; इसलिए एक ही समय में विभिन्न ढंग के कार्य, विभिन्न प्रकार की बातें उसे देखने-सुनने को मिलती हैं।

उपन्यास की प्रमुख विशेषता, उसकी प्रतीकात्मकता है। चाहे तो इसे प्रतीकात्मक उपन्यास (Symbolic novel) भी कह सकते हैं। स्वप्न-दूत के माध्यम से इस प्रतीकार्थ को स्पष्ट भी कर दिया गया है। बूढ़े पहरेदार को स्वप्न-दूत बतलाता है कि—

'मैं रोज यहाँ आता हूँ लेकिन तुमसे बिना मिले चला जाता था। आज तुम्हें बीमार देखकर तुम्हारे पास आ गया।

'तुम यहाँ रोज किस लिए आते हो ?

प्यासी आत्माओं की शान्ति के लिए।'

'यात्रिशाला' शब्द सोद्देश्य रखा गया है; वह इस संसार का प्रतीक है जिसमें नियत समय के निवास के लिए आये यात्री-जीव रहते हैं। उन सभी यात्री-जीवों की आत्माएँ प्यासी हैं। लेखक कहना चाहता है कि सारी अशान्ति, सम्पूर्ण विशृंखलता (Chaos) के मूल में यह आन्तरिक प्यास है, मानव की अतृप्त आकांक्षाएँ और वासनाएँ हैं। 'सोया हुआ जल' अन्तश्चेतन में सोई हुई इसी आन्तरिक प्यास का प्रतीक है। जर्जर मानवता अथवा मनुष्य को जाग्रत और सावधान रहने के लिए सचेत करने वाली उच्च मानवीय चेतना का प्रतीक है। बूढ़ा पहरेदार, जो बीमार है, अफीम खाकर पड़ा हुआ है और जो अन्त में मर जाता है। कमरा नं० ११ से आने वाली आवाज को यदि लेखक की आवाज मान लिया जाय तो मानवता की रक्षा का, इस विशृंखलता और अशान्ति को दूर करने का एक-मात्र उपाय यह है कि 'इन्सान को भीतर से बदलने दो, बाहर से बदलने से कोई काम नहीं चलेगा।'

कुछ लोगों का खयाल है कि 'डूबते मस्तूल' में भी समय-सम्बन्धी यह प्रयोग है। इसीलिए 'डूबते मस्तूल', 'चाँदनी के खण्डहर' और कभी-कभी जानकारी प्रकट करने के लिए 'यूलिसिस' को भी एक ही वर्ग में रख दिया जाता है। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धी इस प्रयोग का सम्बन्ध उपन्यास की कथा से है, जबकि 'डूबते मस्तूल' में उसकी कथा की काल-सीमा २४ घण्टे नहीं बल्कि रंजना द्वारा अपनी जीवन-कथा सुनाए जाने की काल-सीमा २४ घण्टे (या उससे भी कम, क्योंकि रंजना भी जीवन-कथा सुनने के लिए प्रथम पुरुष को स्टेशन से रंजना के बंगले तक आने और भोजन-स्नानादि में कुछ घण्टे खर्च हो गए हैं) है। इसमें सन्देह नहीं कि यह जेम्स ज्वायस की प्रेरणा से ही लेखक ने उपन्यास में '२४ घण्टे का प्रयोग' किया है। यही कारण है कि प्रयोग की भ्रान्ति में वह यह भूल गया है कि इससे उपन्यास में असंगति और अस्वाभाविकता का कितना बड़ा दोष आ गया है। पहला प्रश्न यह है कि रंजना की जीवन-कथा को प्रस्तुत करने का इतना अस्वाभाविक ढंग क्यों अपनाया गया है। क्या यह अस्वाभाविक नहीं है कि एक स्त्री एक अपरिचित व्यक्ति को अपने साथ किये गए व्यभिचार और बलात्कार की कहानी लगातार १४-१५ घण्टे दिन-रात जगकर सुनाती रहे? और यह जानते हुए कि वह व्यक्ति उसका प्रेमी अकलंक नहीं है, उसे जबरदस्ती अकलंक मानकर, और अजीब अस्वाभाविक ढंग से उससे भी जबरदस्ती मनवाकर सारी कथा सुनाई जाती है। कथा का वह अंश तो विशेष द्रष्टव्य है, जिसमें रंजना अपने 'उस' अकलंक की प्रेम-कथा विस्तारपूर्वक अपने 'इस' अकलंक को सुनाती है।

रंजना वह असामान्य नारी-चरित्र है जिसके साथ हर व्यक्ति प्रेम का स्वाँग रचकर, धोखा देकर, बल पूर्वक उठा ले जाकर या कमरे में अकेली पाकर व्यभिचार और बलात्कार कर सकता है और जो बिना किसी विरोध के आत्म-समर्पण कर सकती है, हर किसी स्थिति से समझौता कर सकती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि इस अद्भुत सुन्दरी की सृष्टि ही ईश्वर ने इसी कार्य के लिए की थी और यह भी मान लिया जाय कि इस प्रकार वह निष्काम कर्मयोगी रमणी विशिष्ट मनस्थिति में पहुँचकर किसी भी व्यक्ति को चालाकी से अपने एकान्त गृह में बुलाकर खिलाखिलाकर और स्पर्श-सुख देकर अपनी इतनी महत्त्वपूर्ण जीवन-गाथा सुना सकती है, तब भी यह बात समझ में नहीं आती कि कथा सुनाने का यह 'सत्यनारायणी' ढंग क्यों अपनाया गया है। एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को समेटने वाली इतने लम्बे काल की कथा को अखण्ड रूप से १७-१८ घण्टे की अस्वाभाविक लगने वाली एक लम्बी बैठक में ही कहलवाने की जल्दबाजी क्यों? सिवा इसके कि उपन्यासकार को '२४ घण्टे का प्रयोग' करना है, दूसरा कोई कारण नहीं समझ में आता। प्रयोग की इस मैनिया का ही यह परिणाम है कि कथानक का सारा सौन्दर्य तो नष्ट हो ही गया है साथ ही उपन्यास में अस्वाभाविकता का इतना बड़ा दोष आ गया है कि वह रोमांचक उपन्यासों से अधिक महत्त्व का नहीं रह गया है। किन्तु इतना अधिक मूल्य चुकाकर भी लेखक समय-सम्बन्धी प्रयोग को उपन्यास में नहीं ला सका है। कथा को कुछ घण्टे की काल-सीमा में बाँधकर लिखे गए उपन्यास 'डूबते मस्तूल' की तरह घटना-प्रधान नहीं हुआ करते।

प्रयोग के लिए प्रयोग का इससे भी अच्छा उदाहरण प्रभाकर माचवे का शुद्ध प्रयोगवादी उपन्यास 'परन्तु' है। सम्भवतः यह हिन्दी का पहला उपन्यास है, जिसमें 'उद्धरण-पद्धति' के प्रयोग को अपनाया गया है। इस प्रयोग के कारण इस उपन्यास में मौलिकता और नवीनता का अद्भुत आकर्षण आ गया है। इस दृष्टि से 'परन्तु' निश्चित रूप से 'अपने ढंग का अकेला उपन्यास' है। उपन्यास के अधिकांश पात्र उच्चकोटि के अध्येता हैं और वे प्रायः अपनी रुचि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ REFERENCE BOOK

के अनुसार विविध विषयों की पुस्तकें पढ़ते रहते हैं—कुमार सम्भव, गीता, पैराडाइज लास्ट, अन्योक्तिमुक्तलता और टी० एस० इलियट की कविता से लेकर नाट्यशास्त्र, जीव-विज्ञान और अखबारों की कटिंग्स तक। यथार्थ के तकाजे को स्वीकार करके वे जो-कुछ पढ़ते हैं, उसे लेखक ज्यों-का-त्यों उद्धृत करता गया है। इस प्रकार डबल क्राउन साइज में छपे ८४ पृष्ठों के इस उपन्यास का लगभग एक चौथाई भाग इन महत्त्वपूर्ण उद्धरणों से भरा है। पाठकों को कहानियों के माध्यम से विविध विषयों का 'सामान्य ज्ञान' कराने की दिशा में इसे एक महत्त्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है। अतः उद्देश्य की दृष्टि से यह उपन्यास 'हितोपदेश' और 'मित्र लाभ' की परम्परा में आता है, उस परम्परा को आगे बढ़ाने में योग देता है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें इस 'उद्धरण-पद्धति' का अंग्रेजी के अन्तश्चेतनावादी उपन्यासों की 'चेतना-प्रवाह'-पद्धति के साथ अद्भुत सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। अध्येता पात्रों के अन्तश्चेतन या अन्तर्मन में कोई पुस्तक पढ़ते समय या अध्यापक का भाषण सुनते समय अनेक असम्बद्ध विचार-तरंगें उठती हैं। मनोवैज्ञानिक यथार्थ के आग्रह को मानकर लेखक इन असम्बद्ध विचारों को ज्यों-का-त्यों बीच-बीच में उद्धृत करता गया है।

उपन्यासकार का सूक्ष्म निरीक्षण तो आश्चर्य में डाल देने वाला है। उदाहरण के लिए अविनाश के कमरे में, विशेष रूप से उसकी मेज पर रखी हुई वस्तुओं की सूची देखी जा सकती है। मेज पर रखा हुआ स्याहीसोख का टुकड़ा और उस टुकड़े पर खिची हुई अर्थशून्य आकृतियाँ और आँकड़े तक दे दिये गए हैं। इस पद्धति के आचार्य जेम्स ज्वायस में भी निरीक्षण की यह बारीकी शायद ही ढूँढ़ने से मिले। इस प्रकार इन तीन नई पद्धतियों—उद्धरण-पद्धति, चेतना-प्रवाह-पद्धति और विस्तृत सूची—के समन्वित प्रभाव से इस उपन्यास में मौलिकता और नवीनता का गुण अवश्य आ गया है, परन्तु वह उपन्यास किस प्रकार है यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

× × × ×

हिन्दी के नये उपन्यासों में आंचलिक और स्थानीय रंग (Regional touch and local colour) की इधर काफ़ी चर्चा है। 'मैला आँचल' के प्रकाशन ने इस चर्चा को और गति दी है। उपन्यास में आंचलिक तत्त्व और स्थानीय रंग को मैं कोई प्रयोग नहीं मानता। उपन्यास में अधिक-से-अधिक यथार्थानुकारिता और स्वाभाविकता लाने के लिए पहले भी उपन्यासकार किसी स्थान अथवा अंचल विशेष की भाषा, रीति-रिवाज आदि का प्रसंगानुसार चित्रण करते रहे हैं। किन्तु 'मैला आँचल'-जैसा आंचलिक उपन्यास निश्चित रूप से हिन्दी में एक नया प्रयोग है। बात को स्पष्ट रूप से समझने के लिए आंचलिक उपन्यास और उपन्यास में यथास्थान आंचलिक और स्थानीय चित्रण के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। अन्तर उद्देश्य और प्रधानता का है। किसी अंचल विशेष की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का चित्रण करना आंचलिक उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य होता है, इसलिए उपन्यासकार वहाँ की भौगोलिक विशेषताओं के साथ-साथ वहाँ के लोगों के जीवन-स्तर, रीति-रिवाज, त्योहार, धर्म, लोक-विश्वास, भाषा आदि का चित्रण विशेष रूप से अपने उपन्यास में करता है; इसके लिए वह अवसर ढूँढ़कर किसी-न-किसी रूप में इन विशेषताओं को उपन्यास में लाता ही है। ऐसे उपन्यासों में कथा-सूत्र क्षीण, जीवन-वैविध्य अधिक और इस

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैविध्य-चित्रण में सहायक पात्रों का आधिक्य होता है। वर्णन की अधिकता के कारण आँचलिक उपन्यास में कथा काफी रुक-रुककर चलती है, किन्तु इससे रोचकता कम नहीं होती। अच्छे आंचलिक उपन्यास में ऐसे वर्णनात्मक स्थलों में उत्कृष्ट कोटि के स्केच जैसी—उससे भी अधिक—रोचकता होती है। दूसरी ओर ऐसे उपन्यास भी हैं या हो सकते हैं जिनमें आंचलिक और स्थानीय रंग के होते हुए भी, जिन्हें आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास अपनी इस विशेषता के लिए प्रसिद्ध होते हुए भी आंचलिक नहीं हैं। ऐसे उपन्यासों में वातावरण को अधिक सजीव और यथार्थ बनाने और पात्रों में स्वाभाविकता लाने के लिए, कथा के विकास-क्रम में परिस्थिति के अनुकूल यथास्थान आंचलिक और स्थानीय रंगों—रीति-रिवाज, भाषा आदि का पुट दे दिया जाता है। इससे उपन्यास के कथा-प्रवाह या रूप-गठन पर आंचलिक उपन्यासों की तरह का कोई असर नहीं पड़ता।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' आंचलिक उपन्यास का एक उत्कृष्ट उदाहरण है और सम्भवतः हिन्दी का यह पहला आंचलिक उपन्यास है। मेरे विचार से वही आंचलिक उपन्यास अधिक सफल सिद्ध हो सकता है जिसमें कथा बुनने के लिए किसी ऐसे आँचल को चुना गया हो जिसकी विशेषताओं से लोग कम परिचित हों। साथ ही उपन्यासकार का उस प्रदेश के लोक-जीवन से घनिष्ठ परिचय भी आवश्यक है। 'मैला आँचल' में पूर्णिया जिले को लिया गया है। पूर्णिया जिले की निश्चित रूप से कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, इन विशेषताओं में नेपाल, बंगाल, संथाल परगना और मिथिला आदि सीमावर्ती प्रदेशों की अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रभाव भी मिला हुआ है। पूर्णिया जिले के एक गाँव को आधार बनाकर लिखे गए इस उपन्यास में इन विशेषताओं को ही मुख्य रूप से उभारा गया है। इसीलिए गाँवों की जिन्दगी को लेकर लिखे गए अन्य उपन्यासों से यह भिन्न कोटि का उपन्यास है। गाँवों की जिन्दगी—विशेष रूप से इस अंचल की जिन्दगी का जितना वैविध्यपूर्ण चित्र इस उपन्यास में मिलेगा, उतना सम्भवतः हिन्दी के किसी अन्य उपन्यास में नहीं। एक गाँव की जिन्दगी के इतने अधिक पक्षों का इतना सजीव और यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने की दिशा में यह उपन्यास सम्भवतः प्रेमचन्द के उपन्यासों से भी आगे बढ़ा हुआ है। किन्तु इस उपन्यास के महत्त्व का आकलन करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इसकी आंचलिकता यदि एक ओर इसमें जीवन-वैविध्य लाने और यथार्थ को अधिक-से-अधिक सजीव बनाने में योग देती है, तो दूसरी ओर कुछ सीमाएँ भी बाँध देती है। अतः सुनियोजित कथानक और सशक्त चरित्र-विधान इसमें नहीं मिलेगा। होरी की तरह का आज के किसानों का प्रतिनिधित्व करने वाला सशक्त चरित्र इसमें कोई नहीं है। कारण यह है कि इस उपन्यास का उद्देश्य एक किसान की सम्पूर्ण जिन्दगी बताना नहीं, बल्कि एक गाँव की अथवा एक अंचल विशेष भी जिन्दगी को सामने रखना है। गाँवों में अनेक प्रकार के लोग रहते हैं और उनमें अलग-अलग चारित्रिक विशेषताएं होती हैं। इस उपन्यास में पात्र इन सभी चारित्रिक विशेषताओं को सामने रखने के लिए साधन-रूप में आए हैं। एक गाँव की भौगोलिक स्थिति, उस स्थिति का वहाँ के निवासियों के जीवन पर प्रभाव, विभिन्न जातियों और समुदायों की स्थिति और उनका पारस्परिक सम्बन्ध, रीति-रिवाज, धार्मिक स्थिति, राजनीतिक चेतना आदि का यथार्थ और सही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक प्रतिलिपित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

विवरण देना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति में उपन्यासकार निश्चित रूप से सफल हुआ है। यही कारण है कि इस उपन्यास के किसी भी पात्र में नायक होने की क्षमता नहीं है। उपन्यास का नायक मेरीगंज गाँव ही हो सकता है, कोई पात्र नहीं।

साथ ही यह भी ध्यान में रखना है कि मेरीगंज गाँव पिछड़े गाँवों का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है। जैसा कि उपन्यासकार ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने इस गाँव को पिछड़े हुए गाँवों का प्रतीक मानकर अपनी कथा का क्षेत्र चुना है। अतः इसमें आज की बदली हुई परिस्थिति में भारतीय ग्रामीण जीवन के विकास का गत्यात्मक रूप नहीं मिलेगा। उपन्यासकार का यह उद्देश्य भी नहीं है। उपन्यास को आंचलिक रूप देने के साथ ही उसे कुछ हद तक इन सीमाओं में भी बँधना पड़ा है। ऐसे उपन्यासों का समाजशास्त्रीय मूल्य ही उनको श्रेष्ठता प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। इस दृष्टि से 'मैला आँचल' हिन्दी में एक नया और महत्त्वपूर्ण प्रयोग तो है ही, साथ ही वह हिन्दी-उपन्यास को एक नई दिशा की ओर भी संकेत करता है।

गाँवों की जिन्दगी को लेकर नये लेखकों द्वारा इधर कई अच्छे उपन्यास लिखे गए हैं। इनमें डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप' तथा नागार्जुन का 'बलचनमा', 'नई पौध' और 'बाबा बटेसरनाथ' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें कथा-शिल्प-सम्बन्धी नया प्रयोग केवल 'बाबा बटेसरनाथ' में है। 'बाबा बटेसरनाथ' की कथा का अधिकांश एक पुरातन बट वृक्ष के द्वारा कहलाया गया है। इस बृहद् अंश में मुख्य रूप से बट-वृक्ष की ही आत्म-कथा कही गई है। कथा कहने की इस पद्धति का उद्देश्य बट वृक्ष की आत्म-कथा कहना भी है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उपन्यास के पूरे गठन को देखते हुए लगता है कि कपास और रुपये की आत्म-कहानी की तरह बट वृक्ष की आत्म-कहानी कहना ही उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य नहीं है, यद्यपि प्रधानता उसमें बट वृक्ष की ही है। सैकड़ों वर्ष की लम्बी आयु वाले बट वृक्ष के माध्यम से उपन्यासकार चार पीढ़ी पूर्व से लेकर अब तक के १००-१५० वर्षों के लम्बे काल में गाँव की जिन्दगी में होने वाले परिवर्तन का संक्षिप्त विवरण भी देना चाहता है। किन्तु दुहरे उद्देश्य और स्थान के अभाव के कारण इतने लम्बे काल की दो धाराओं में बटी घटनाओं को उपन्यासकार ठीक से समेट नहीं सका है। साथ ही इतने लम्बे काल की कथा को रात-भर में ही बट वृक्ष द्वारा कहलवाने के कारण उसमें विवरणात्मकता भी आ गई है और उसके कुछ अंश सचमुच ही 'प्रवचन' मालूम पड़ते हैं। बट वृक्ष की 'आप बीती' से निश्चित रूप से नागार्जुन जी की मौलिक प्रतिभा और ग्रामीण जीवन से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध का पता चलता है। यदि नागार्जुन जी अधिक सँभालने का लोभ थोड़ा सँभाल पाते, तो शायद वे ग्रामीण जीवन के घनिष्ठ परिचय से प्राप्त अपने महत्त्वपूर्ण सत्य को अधिक व्यापक स्तर पर और अधिक सफलता से व्यक्त कर सकते।

अमृतलाल नागर का हास्य-प्रधान उपन्यास 'सेठ बाँकेमल' आगरा की बोलू-चाल की भाषा में लिखा हुआ अपने ढंग का अकेला उपन्यास है। भाषा और कथा-शिल्प दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी-उपन्यास में यह एक नया प्रयोग है। दुकान पर ही बैठे-बैठे आगरा के सेठ बाँकेमल अपनी और अपने मित्र चौबेजी की जवानी के दिनों की मस्ती, जिन्दादिली और 'तरवैटी' की कहानियाँ अपने भतीजे (चौबेजी के पुत्र) को बिलकुल आगरा की बातचीत के लहजे में सुनाना शुरू करते हैं और दुकान बन्द होने तक सुनाते रहते हैं। साथ ही इस गप्प के दौरान में आने

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले ग्राहकों तथा अन्य व्यक्तियों को भी बीच-बीच में निपटाते जाते हैं। सेठ बाँकेमल द्वारा कुछ ही घण्टों के भीतर कही गई उनकी मस्ती, जिन्दादिली और बिजनैसी दाव-पेंच-सम्बन्धी गप्प (सं० गल्प) ही इस उपन्यास की कथावस्तु है। उपन्यास का सारा आकर्षण सेठ बाँकेमल के व्यक्तित्व में निहित है, जो पुराने तजुर्बेकार बुड्ढे की तरह हर किसी बात पर अपनी और अपने जमाने की तारीफ़ करना शुरू करते हैं, जिसमें गप्प का अंश ही अधिक रहता है। पात्रों को अधिक-से-अधिक यथार्थ और स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करने तथा उनके अनुकूल स्वाभाविक भाषा के प्रयोग में नागर जी-जैसी कुशलता कम उपन्यासकारों में पाई जाती है।

× × ×

हिन्दी के प्रयोगात्मक उपन्यासों के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उनमें से अधिकांश के रूप शिल्प-सम्बन्धी नये प्रयोग किसी निश्चित उद्देश्य की सिद्धि के लिए किये गए हैं। प्रयोग के उद्देश्य को लेकर ही प्रयोग की सार्थकता और उसके महत्त्व पर विचार किया जा सकता है, तात्पर्य यह कि प्रयोग की सारी सार्थकता नवीन रूप-शिल्प के अन्वेषण के लिए बाध्य करने वाले उद्देश्य को लेकर है। उदाहरण के लिए 'सोया हुआ जल' में उपन्यासकार अनेक व्यक्तियों के भावों, विचारों और कार्यों का समकालवर्तित्व दिखाना चाहता है, इसके लिए उसे बाध्य होकर सिनेरियो-टेकनीक को अपनाना पड़ा है क्योंकि हिन्दी-उपन्यासों की किसी प्रचलित पद्धति द्वारा वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता था। इस उद्देश्य की सिद्धि के साथ ही, उसके रूप-शिल्प-सम्बन्धी नये प्रयोग की सार्थकता सिद्धि हो जाती है। यह अलग प्रश्न है कि जिस यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए वह यह समकालवर्तित्व दिखाना चाहता है, वह कितने महत्त्व का है। सम्भव है कोई दूसरा उपन्यासकार यथार्थ के किसी अन्य पहलू को दिखाने के लिए इसी पद्धति का सहारा ले। उपन्यास के महत्त्व और श्रेष्ठता आदि का आकलन करते समय अवश्य उसके प्रयोग के महत्त्व के साथ-साथ उस यथार्थ की महत्ता और लघुता तथा अन्य बहुत-सी बातों पर विचार करना होगा। यह कसौटी प्रयोगात्मक उपन्यासों के लिए जितनी सही है, उतनी ही परम्परागत रूप-शिल्प में लिखे गए उपन्यासों के लिए भी। फिर भी इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि आज के यथार्थ का कोई पक्ष ऐसा हो सकता है जिसके चित्रण के लिए कुछ हद तक नये रूप-विधान का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। किन्तु प्रयोग की नवीनता बिलकुल मौलिक और नई उद्भावना में ही नहीं होती; पुराने लेखकों द्वारा प्रयुक्त शैली को, उसमें थोड़ा परिवर्तन अथवा विस्तार लाकर अपने उद्देश्य के अनुरूप नये ढंग से, नये रूप में प्रयोग करने में भी उतनी ही नवीनता आ जाती है।

इन उपन्यासों के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन प्रयोगों द्वारा हिन्दी-उपन्यास एक नई दिशा की ओर मुड़ रहा है और उनमें स्वस्थ सामाजिकता की प्रवृत्ति के साथ-साथ यथार्थ के नये स्तरों का विकास हो रहा है। प्रयोग की दिशा में प्रारम्भिक प्रयत्न होने के कारण, उसमें कई अभाव (सशक्त चरित्र के अभाव की ओर सबसे पहले ध्यान जाता है) हो सकते हैं या हैं, किन्तु जिस दिशा में ये प्रयोग हो रहे हैं, वह दिशा स्वस्थ है, यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है। इसलिए आज के यथार्थ को, मानव व्यक्तित्व के संघटनात्मक और निर्माणात्मक तत्त्वों को विभिन्न कोणों से, विभिन्न आयामों में चित्रित कर सकने के लिए आज का उपन्यासकार जिन नई पद्धतियों का प्रयोग कर रहा है, उनका केवल इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिरस्कार नहीं किया जा सकता कि जिन उपन्यासों में ये प्रयोग किये गए हैं, उनमें अन्य दृष्टियों से कुछ कमियाँ हैं; या टालस्टॉय, डिकेन्स या प्रेमचन्द की तुलना में वे सामान्य कोटि के ठहरते हैं। ऐसा करना साहित्यिक प्रगति की प्रक्रिया से अनभिज्ञता प्रकट करना तो होगा ही, साथ ही उसकी असीम सम्भावनाओं को लक्ष्य न करके प्रारम्भ में ही उसका गला घोंट देना होगा। निश्चित ही यहाँ मैं उन निरुद्देश्य प्रयोगों का समर्थन नहीं कर रहा हूँ जो केवल चौंकाने और सस्ती ख्याति प्राप्त करने के लिए ही किये जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वेतोज़ार पेत्रोविच

यूगोस्लावियन साहित्य की वर्तमान समस्या

यूगोस्लाविया के प्रमुख साहित्यिक पत्रों ने इस वर्ष अपने प्रथम अंकों में गत नवम्बर को बेलग्राद में हुए एक साहित्यिक वाद-विवाद की कार्यवाही प्रकाशित की। इस वाद-विवाद का आयोजन 'यूगोस्लावियन लेखक संघ' ने किया था, जिसके लगभग सभी समकालीन यूगोस्लाव साहित्यिक सदस्य हैं। इस संघ के द्वारा आयोजित सभी समारोहों तथा सभाओं में यूगोस्लाविया के असाहित्यिक जन भी रुचि रखते थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि ये सभाएँ प्रायः सामान्य जनता तथा देश के राजनीतिक जीवन में नवीन धाराओं का प्रवहन करती थीं और देश के सैद्धान्तिक विकास को गत महायुद्ध के बाद से काफी प्रभावित किया करती थीं।

बेलग्राद में हुआ यह साहित्यिक वाद-विवाद समकालीन यूगोस्लाव साहित्य[1] में कोई युगांतरकारी घटना नहीं मानी जा सकती। कला और साहित्य के सम्बन्ध में होने वाले तर्क साहित्यिक क्रान्तियों को जन्म नहीं दे सकते। परन्तु इस अन्तिम वाद-विवाद ने तो लोगों की चिन्तन-पद्धति को उतना भी परिवर्तित नहीं किया जितना कि पहले के वाद-विवाद किया करते थे। फिर भी बेलग्राद के परिसंवाद ने यूगोस्लाव के साहित्य तथा संस्कृति की एक प्रक्रिया को पूर्ण रूप दिया, जो वहाँ कुछ वर्षों पूर्व प्रारम्भ हुई थी। विकसित होती हुई कई चिन्तन-धाराएँ इसमें कुछ और परिपक्व तथा निश्चित हुई हैं तथा कुछ नवीन दिशाओं का आभास भी मिला है।

---

१. प्रस्तुत निबन्ध में यूगोस्लाव साहित्य की चर्चा है। किन्तु वस्तुतः यूगोस्लाव साहित्य कोई एक नहीं है। ९वीं से ११वीं शती तक एक प्राचीन स्लावोनिक साहित्य वर्तमान था जिसके सभी स्लाव भागी थे—दाक्षिणात्य (स्लोवीन, क्रोट्स, सर्ब्स, मैसीडोनियन्स, बल्गेरियन्स), पश्चिमी (जेक, स्लोवाक्स, पोल्स) तथा पूर्वी (रूसी, यूक्रेनियन और पूर्वी रूसी)। तब से कई शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं और वे पारस्परिक बन्धन, जो समस्त स्लाव जाति को बाँधे हुए थे, भौगोलिक दूरी, चिन्तन वैभिन्न्य-तथा राजनीतिक और धार्मिक शक्तियों के प्रभाव के फलस्वरूप टूट गए। तब से दाक्षिणात्य (यूगोस्लाव) लोगों ने अपने-आपको स्वतन्त्र राष्ट्रीय वर्गों में विकसित कर लिया। १९१८ ई० तक दाक्षिणात्य स्लाव (बल्गेरियन लोगों के अतिरिक्त) एक संयुक्त राष्ट्र बना चुके थे। परन्तु अब तक भी परम्परागत विभिन्नता समाप्त नहीं हुई थी और विभिन्न भाषाएँ तथा परम्पराएँ स्लोवीन, क्रोटस, सर्ब्स तथा मेसीडोनियन्स साहित्य को जन्म दे चुकी हैं। परन्तु फिर भी एक विदेशी के लिए उनमें विरोध की अपेक्षा समानता ही अधिक दिखाई देती है। इसीलिए एक यूगोस्लाव साहित्य की चर्चा करना सम्भवतः बहुत गलत न होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: १ :

दिसम्बर १९४९ में जाग्रेब में हुई यूगोस्लाव लेखक-संघ की द्वितीय कांग्रेस के अवसर पर प्रथम बार साहित्यिक प्रश्नों पर नये ढंग से बात शुरू हुई। कांग्रेस की बहसों में एक नये लेखक पेतर शेगेदिन का साहित्यिक आलोचन पर भाषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

शेगेदिन साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में मार्क्स-लेनिनीय पद्धति को अपनाने तथा एक यथार्थवादी एवं समीक्षा-शास्त्र को विकसित करने का समर्थन कर रहा था। वह उस युद्ध का भी समर्थक था जो 'हर पतनोन्मुख, आकारात्मक तथा अस्वस्थ' प्रवृत्तियों को साहित्य से निष्कासित करने के लिए भूल रहा था, क्योंकि इस प्रकार का युद्ध बुर्जुआ तत्त्वों के अवशेष के विरुद्ध था। परन्तु उसका भाषण प्रायः समस्त रूप से यूगोस्लाव साहित्य में उदित होने वाली कुछ 'नकारात्मक प्रवृत्तियों' के विरोध में था, जो "हमारे अपने जीवन की परिस्थितियों तथा उन नियमों के फलस्वरूप था जो हमारे कलात्मक प्रयोगों के दौरान में परीक्षित नहीं हुए थे।"

उसने सावधान होने की सलाह दी : "मनुष्य इतिहास का निर्माता है और वही उसका निर्णायक है; अतः यद्यपि वह मार्क्स-लेनिनीय सौन्दर्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुकूल चले भी······फिर भी वह प्रायः गलत रास्ता पकड़ सकता है (ऐसा सोचने में)। यहीं प्रश्न उठता है समीक्षा की कसौटी का।"

अपने भाषण में शेगेदिन ने मार्क्स की "१८४४ ई० की आर्थिक तथा दार्शनिक पाण्डुलिपियों से एक ऐसे स्थल से उद्धरण दिया जहाँ पर उसने अपनी 'मानवीय भावना-सम्बन्धी' धारणा की परिभाषा दी है और इसे समकालीन यूगोस्लावी साहित्यिक आलोचना को कुछ प्रवृत्तियों के विरोध में दिखाया है।" हमारे आलोचकों ने प्रायः सीमित राजनीतिक प्रयोगों के लिए पक्षधर साहित्य के सिद्धान्तों को गलत समझा है और ऐसा करने में वे तात्कालिक आवश्यकता से प्रभावित हुए हैं और मार्क्स के उस वाक्य को भूल गए हैं, जिसके अनुसार, गहरी तात्कालिक आवश्यकता से बँधे हुए भाव का एक सीमित अर्थ होता है। एक समीक्षक, जिसने एक सक्रिय आदर्श के समक्ष अपने-आपको झुका दिया है, जब 'स्वाभाविक मानव की उत्कृष्टता'[1] की भावना को अलग रख देता है तब वह केवल इसी विश्वास से अभिभूत रहता है कि उसे एक मतवाद के लिए आवश्यक रूप से कार्य करना है और इस प्रकार कार्य करने से वह उस धरातल पर पहुँचता है जिसे मार्क्स ने 'मानवीय भावना' के नाम से सम्बोधित किया है और भी, "जब (साहित्य का) एक सामाजिक तथा वर्ग-नियमन एक संकीर्ण व्यावहारिक दृष्टि से, जो मानवीय मूल्य को सीमित करता है, बदल जाता है, तो उसके घातक परिणाम अवश्यम्भावी है।"

"मैं नये लेखकों की कविता की समीक्षा पढ़ रहा था और मैं उसकी गतिविधि देखकर क्षुब्ध हुआ। एक भी कविता, एक भी चरण मार्क्स के अर्थ में आलोचना का विषय नहीं बन सका (मेरा विषय वही बन सकता है जो मेरे अस्तित्व की भावना को पुष्ट करता है)। एक ओर की बातचीत बहुत चातुर्यपूर्ण है, उसमें ज्ञान के बड़े भण्डार का प्रयोग हुआ है—केवल इन पंक्तियों को छोड़कर :

१. मार्क्स से एक उद्धरण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेमन्त का महीना था; हम सब बच्चे थे,
और तभी मैंने किस्मत को देखा,
उसने मुझे आधी की आधी पेस्ट्री दी
और गहरी भावना से उसने सिर झुका लिया।

आलोचक लिखता है : "कभी-कभी जीवन के प्रति यह निश्छल दृष्टिकोण जब सामयिक समस्याओं से अलग हो जाता है तो बुर्जुआ भावनाओं को जन्म देता है।"

"यह निश्चय ही महान् कविता नहीं है शायद मौलिक भी नहीं है। पर मैं कहता हूँ कि मैं उस व्यक्ति के साथ कठिनाई से ही रह सकूँगा जिसको इस प्रकार की कविताएँ सामयिक समस्याओं से सम्बद्ध नहीं दिखाई देतीं। जैसा कि कवि कहता है, मनुष्य को इस 'किस्मत' से वंचित क्यों रखा जाय? और वह भी किस नाम पर? शौर्य के नाम पर, दुःख के नाम पर, बुद्धिमत्ता के नाम पर, त्याग के नाम पर।"

अपने भाषण के दौरान में, साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में विकसित क्रान्तिकारी नायक की ओर संकेत करते हुए शेगेदिन ने इस बात पर बल दिया कि कोई भी नायक वहाँ नहीं रह सकता जहाँ 'मानवीय भावना' लुप्त हो गई है। "वह एक राक्षस हो सकता है, परन्तु मानवीय नायक नहीं।"

शेगेदिन ने फॉर्मलिज्म तथा डिकेडेन्स के विरुद्ध किये जाने वाले आक्रमणों की भी चर्चा की। उसने 'वस्तु तत्त्व' के लिए उस पागलपन को दिखाया जिसने एक ऐसे वातावरण को जन्म दिया जिसमें 'रूस' से सम्बन्धित किसी भी विवेचना को सन्देह की निगाह से देखा जाने लगा। उसके अनुसार 'रूप' का यह तिरस्कार भी डिकेडेंस का ही एक उदाहरण है।

: २ :

आज के यूगोस्लाविया में शेगेदिन का भाषण सम्भवतः ही किसी को स्पर्श कर सकता है। लगभग छः वर्ष के बाद अब उस पर लोग केवल मुसकरा देते हैं।

१९४१ से स्थिति में काफी परिवर्तन आ गया है।

तब से यूगोस्लाव के साम्यवादी यह समझ गए हैं कि अपने आन्तरिक नियमों से विकसित होने वाले समाज अथवा वर्ग-विनिर्मित समुदाय की मार्क्सीय भावना का उस सामान्य विश्वास से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, जिसके अनुसार 'जीवन के सभी क्षेत्रों को' एक संगठित ढंग से प्रभावित किया जा सकता है, चाहे वे मानवीय हों अथवा अमानवीय हों। एक आधुनिक यूगोस्लाव की दृष्टि में एक दल के लिए एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को संगठित कर पाना बहुत कठिन है, भले ही उसके ऐतिहासिक उद्देश्य महान् हों।

शेगेदिन का भाषण साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से भी बहुत ऊँचा नहीं माना जा सकता। इसकी कट्टर सिद्धान्तवादिता थकाने वाली है। मानवीय भावना के मार्क्सीय विचार पर उसका अधिक बल देना समुचित नहीं था और जब यह मानवीय भावना साहित्यिक वाद-विवादों में दुहराया जाने वाला सामान्य नारा हो गया तो शेगेदिन के निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण नहीं रहे वरन् एक सामान्य असम्बद्ध अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया जो उक्त शब्द से सम्बद्ध कर दिया गया। कुल मिलाकर शेगेदिन का भाषण एक विराट् प्रेरणा तथा स्पष्ट अनुसन्धान के रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में नहीं था वरन् वह एक ईमानदार तथा साहसपूर्ण वक्तृता थी। उसकी मीमांसा-दृष्टि (निर्णय के सिद्धान्त का प्रश्न?) नई थी। यह तथ्य तो और भी नया था कि एक ऐसा व्यक्ति जो राजनीति के क्षेत्र में प्रसिद्ध नहीं था बिना किसी दलगत नियन्त्रण के यूगोस्लाव साहित्य के सम्बन्ध में अपना मत दे सके।

कोमिनफॉर्म के यूगोस्लाविया पर आक्रमण (१९४८ ई०) के बाद से एक वास्तविक परिवर्तन हुआ। पब्लिक स्कूलों की कुछ समस्याओं पर सेंट्रल कमेटी द्वारा एक प्रस्ताव पास किये जाने के बाद, जिसके अनुसार व्यक्ति को साम्यवादी अर्थात् स्वतन्त्र बनाया जाय, उक्त परिवर्तन हुआ। यूगोस्लाविया की संस्कृति में राजनीतिक मतवाद पर यह पहला आक्रमण था। प्रथम बार विभिन्न मतों के स्वतन्त्र संघर्ष का अनुमोदन किया गया।

द्वितीय कांग्रेस के अवसर पर शेगेदिन के भाषण की प्रशंसा भी हुई और उसका विरोध भी किया गया। पत्र-पत्रिकाओं में भी कुछ दिनों से वाद-विवाद चल रहे हैं। शायद ये वाद-विवाद पूर्णतः स्वस्थ नहीं थे। कम-से-कम एक केन्द्र में तो इसका आभास शेगेदिन के भाषण से भी मीला था।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे समीक्षकों पर भी आक्रमण चलते रहे जिन्होंने पहले कभी जैदोनग का अनुसरण किया था। राबान जोगोविच, सेंट्रल कमेटी के प्रचार-विभाग का भूतपूर्व सदस्य तथा एव प्रतिभावान कवि इस प्रकार के आक्रमणों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त समझा गया। तभी उसने अपने-आपको यूगोस्लाविया के विरुद्ध कोमिनफॉर्म के प्रस्ताव के समर्थक के रूप में घोषित किया।

: ३ :

प्रथम महायुद्ध के दौरान में नवयुवक यूगोस्लाव लेखकों की एक पीढ़ी ने हत्या तथा पाशविकता के वातावरण में रूसी क्रान्ति का स्वागत किया और उसके द्वारा साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध का समर्थन किया। युद्ध के बाद एक राजा की तानाशाही में आर्थिक निर्धनता से जकड़े एक पिछड़े हुए बालकन देश के निवासी के रूप में वे साम्यवाद की ओर उन्मुख हुए। उनका आदर्श था "एक ऐसा संघ, जिसमें एक का स्वतन्त्र विकास सबके स्वतन्त्र विकास की अपेक्षा रखता है, जैसा कि एक शताब्दी पूर्व के घोषणा-पत्र में कहा गया था। उनके साम्यवादी आदर्श में एक ऐसा समाज था जिसमें राज्य की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और वह फिर कभी सिर नहीं उठाती। फ्रेडरिक एँगल्स के समान ही उनके लिए सामाजिक क्रांति का अर्थ था 'मानवता का आवश्यकता के क्षेत्र से उठकर स्वतन्त्रता के क्षेत्र में प्रवेश।' एक कट्टर तथा संकुचित समाज का सामना करते हुए वे अकेले ही स्वतन्त्र चीन तथा स्वतंत्र अनुसन्धान के वातावरण के लिए पचीस वर्ष तक लड़ते रहे। इस प्रकार वे कार्ल मार्क्स के निकट थे जिसने अपना प्रिय मुहावरा बताया था प्रत्येक वस्तु सन्दिग्ध है।

१९३३ ई० में ही कुछ दूरदर्शियों ने यह देख लिया था कि 'समाजवाद के प्रथम देश' में कुछ गड़बड़ चल रही है। उन्होंने अपने सन्देह सबके सम्मुख व्यक्त किये परन्तु उन्होंने अपनी बात मुलायमियत से कही, क्योंकि इतनी दूरवर्ती घटनाओं पर उचित निर्णय एका-एक देना कठिन था, इसलिए और भी क्योंकि जिस संस्था के द्वारा उन्हें ये समाचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलते थे, उसकी तटस्थता तथा ईमानदारी में उन्हें पूरा सन्देह था।

इसके बाद फ़ासिस्ट खतरा आया, और फिर युद्ध का प्रारम्भ हुआ। फ़ासिस्टों ने देश पर कब्जा कर लिया और उन सबको उन्होंने सहयोग दिया जो उनकी सहायता करना चाहते थे। और यूगोस्लाव राष्ट्रों के सभी जिगोवादी उन्हें सहयोग देने के लिए तैयार थे, क्योंकि इसके लिए उन्हें उनके चर्चों ने प्रोत्साहन दिया था। उस युद्ध में सभी चर्च घृणा का प्रचार कर रहे थे, राइफ़ल और चाकू को धर्म-परिवर्तन का माध्यम बनाया गया था। १७ लाख व्यक्ति अर्थात् प्रति १० यूगोस्लाव व्यक्तियों में से एक व्यक्ति मारा गया था। इस युद्ध में यूगोस्लाव की कम्यूनिस्ट पार्टी भ्रातृत्व तथा एकता के नारे के साथ लड़ रही थी। इस प्रकार युद्ध को क्रान्ति में बदल दिया गया था। न केवल युद्ध-पूर्व युग के वाम पक्षी लेखक वरन् लगभग सभी महत्त्वपूर्ण यूगोस्लाव लेखक इसमें सम्मिलित हो चुके थे। तभी युद्ध की समाप्ति हुई और राष्ट्र का नव निर्माण प्रारम्भ हुआ। इस बात से क्या अन्तर पड़ता था, यदि कई साहित्यिक सिद्धांतों की बलि अन्तिम लक्ष्य के लिए दे दी गई।

तभी १६४८ ई० में कोमिनफार्म का प्रस्ताव आया। इससे बड़ा धक्का लगा। कुछ तो इसे सहन नहीं कर सके। जो कर भी सके उन्होंने बहुत-सी बातों को नये प्रकाश में देखा। उदाहरणार्थ उन्होंने समझा कि यदि लक्ष्य प्राप्त करना है तो कुछ भी त्याग करने की आवश्यकता नहीं, तथा जिस माध्यम से कोई व्यक्ति किसी मार्ग पर आया है उसे वह मार्ग पर चलने के समय भूल सकता है।

पिछले तीस अथवा चालीस वर्षों में एक सामान्य यूगोस्लाव बुद्धिजीवी का इतिहास लगभग इसी प्रकार का रहा है।

इस सम्बन्ध में और भी विस्तृत विवरण दिया जा सकता है—उदाहरणार्थ मिरोस्लाव कुलेजा का।

: ४ :

१६५३ ई० में मिरोस्लाव कुलेजा की ६० वीं वर्षगाँठ मनाई गई थी। उस समय बहुत से प्रशंसकों के लिए कुलेजा निर्विवाद रूप से सबसे महान् लेखक था। कुछ लोग तो उससे यूगोस्लाव इतिहास का सबसे महान् व्यक्तित्व मानते थे। आलोचक उस समय पिछले ३ या ४ दशकों को कुलेजा युग कहकर अभिहित करते थे। जो लोग इतना नहीं मानते थे उनके लिए भी कुलेजा एक प्रतिभावान् लेखक तो था ही। अस्तु, उस समय उसके बारे में कुछ खरी बातें भी कही गई थीं, यद्यपि आज यह निश्चित रूप से माना जाता है कि कुलेजा अभी सबसे विवादास्पद लेखक है।

जो भी हो अच्छा हो या बुरा कुलेजा का प्रभाव यूगोस्लाव के बौद्धिक तथा साहित्यिक वातावरण में अत्यधिक था। जब प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर उसने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया जिसके पूर्व उसके प्रारम्भिक प्रयत्नों को कोई मान्यता नहीं दी गई थीं, तो उसके युद्ध-गीतों तथा प्रतीकात्मक नाटकों ने (जो अभिनेय नहीं हैं, यद्यपि कुलेजा के अनुसार वे अभिनेय हैं।) लोगों को सबसे अधिक प्रभावित किया।

जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया अधिकाधिक संख्या में बुद्धिजीवी तथा साहित्यकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुलेजा की रचनाओं की ओर आकृष्ट होते गए । लगभग समस्त दो पीढ़ियाँ उनके कुलेजा के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर विभक्त किया जा सकता है । युगोस्लाव संघ में कुलेजा शैली को मान्यता दी गई और उसका प्रभाव अब भी कम नहीं हुआ है । इससे भी अधिक कुलेजा अपने सहयोगियों को एक दृष्टि दे रहा था । लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उसकी रचनाएँ उपलब्ध हैं ।

प्रथम पंद्रह वर्षों तक कुलेजा पर दक्षिण पंथी दलों तथा रूढ़िवादी साहित्यिकों के आक्रमण होते रहे । वामपक्षीय आक्रमण प्रथम बार १६३३ में हुआ ।

: ५ :

१६३० के आस-पास सोवियत यूनियन में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे । प्रथम निष्कासनों का युग था और दर्शन तथा साहित्य में प्रथम बार विद्रोह हो रहा था । उसी समय पार्टी के साहित्य-सम्बन्धी निर्णयों को घोषित किया गया और सोवियत लेखकों की प्रथम कान्फ्रेन्स (१६३४) की तैयारी होने लगीं । 'सामाजिक यथार्थवाद' का कार्यक्रम निर्धारित हुआ जिसके अनुसार ज़दानोव का प्रथम महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ ।

१६३३ ई० में कुलेजा ने क्रस्तो हेगेदुशिव के चित्रों के संकलन की भूमिका लिखी जिसे प्रायः 'कुलेजा की भूमिका' कहा जाता है । इस भूमिका में कुलेजा के कला और साहित्य-सम्बन्धी विचार थे । भूमिका में कुलेजा ने कहा कि "कला इसी दुनिया की चीज है, उसमें दिव्य तत्त्व कुछ भी नहीं है ।

"निस्सन्देह सौन्दर्य तटस्थ तथा इस संसार से परे नहीं हो सकता । परन्तु एक कला-कृति का सामाजिक प्रभाव प्रायः ऐसा नहीं हो सकता जिसे कलाकार चाहता है और कभी-कभी तो किसी कला-कृति का प्रभाव लेखक की कोई इच्छा न रहने पर भी बहुत व्यापक हो जाता है । इसके अतिरिक्त एक ही कृति का प्रभाव विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार का हो सकता है और इसलिए किसी कला कृति का मूल्य आँकने के लिए उसका सामाजिक प्रभाव कसौटी नहीं माना जा सकता ।

भूमिका के प्रकाशित होने के कुछ ही दिनों बाद किन्हीं अज्ञात महोदय ने एक वामपक्षी साहित्यिक पत्रिका में कला पर आक्रमण किया । उक्त लेखक ने कुलेजा को विश्वास-घाती सिद्ध किया और कहा वह दक्षिण-पंथी होता जा रहा है । वह कला के सामाजिक अर्थ को नहीं समझ पा रहा है । वह अबौद्धिकता का समर्थक है । कुल मिलाकर कुलेजा मार्क्सवादी न होकर पतनोन्मुख तथा बुर्जुआ है । उसकी कृतियों में निराशावाद भरा हुआ है और वह जीवन के अन्धकारमय पक्ष को ही चित्रित कर सका है ।

इस अज्ञात लेखक को उस समय कोई सहयोग न मिल सका । कम्युनिस्ट पार्टी के दाएँ-बाएँ आने वाले साहित्यिक पत्रों ने उसका खुले-आम विरोध किया ।

और तभी युगोस्लाविया भी युद्ध में सम्मिलित हो गया ।

: ६ :

युद्धोपरान्त कुलेजा की स्थिति आरम्भ में कुछ विचित्र-सी हो गई । वह राजनीतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा सामाजिक समस्याओं पर विशेष रूप से लिख रहा था और उसका समर्थन क्रान्ति के लिए था। परन्तु साहित्य के बारे में उसने कुछ भी नहीं लिखा। यह अनुमान लगाना कठिन है कि उसके मौन का कारण वह वाद-विवाद था जो बड़ी असुखद परिस्थितियों में समाप्त हुआ, अथवा गलत बातों में क्रान्ति का विरोध करने के लिए उसकी अनिच्छा ही इसका प्रधान कारण थी।

कोमिनफॉर्म के प्रस्ताव (१९४८ ई०) के बाद ही कुलेजा ने फिर यूगोस्लावी साहित्यिक वातावरण में प्रवेश किया। एक प्रकार से उस समय की नाटकीय घटनाओं में कुलेजा की आत्मा उपस्थित थी। विश्वास की अपेक्षा चिन्तन का प्राधान्य, आदर्श की अपेक्षा तर्क के प्रति सम्मान, अन्धसिद्धान्तों के प्रति अरुचि—यूगोस्लाव कम्युनिस्ट-आन्दोलन की विशेषताएँ रही हैं।

यूगोस्लाव लेखक-संघ की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर कुलेजा की याद सबको आई। पेतर शेगेदिन के भाषण के माध्यम से उसके प्रभाव का भान लोगों को हुआ। कांग्रेस के अवसर पर वह स्वतः भी बोला। वह राजाओं और सम्राटों तथा रोम और बाइजौनरीयम के महन्तों दुःस्वप्नवत् जुलूस के बारे में कह रहा था जो दक्षिण स्लॉव देश में रक्त तथा मृत्यु की गन्ध लिये अतीत के एक हजार वर्ष पूर्व से आ रहा था।

और यह जुलूस अब एक दूसरी ओर से भी आ रहा था। 'मानवीय आत्मा के सृष्टाओं' में से एक ने 'बुडापेस्ट ट्रायल'[1] के शिकार व्यक्तियों के बारे में लिखा कि अपनी सभी अनैतिकता के साथ वे 'टीटोवादी जन्तु' अदालत में उसी प्रकार खड़े थे जैसे मध्यकालीन जादूगरनी। मार्क्सवादी की दृष्टि से मैनीफ़ेस्टो के एक शताब्दी बाद मध्यकालीन जादूगरनी प्रश्नकारी अदालत के सम्मुख अपनी सारी अनैतिकता के साथ खड़ी हुई हैं और वे एक निर्णीत हत्या की अपराधी नहीं वरन् टीटोवादी जन्तु हैं। इसीको मार्क्सीय तर्क-शास्त्र कहते हैं, जिसके बारे में सन्देह करना खतरनाक है, क्योंकि ये उदार आलोचक तथा 'मानवीय आशा के शिल्पी' हमारे घर के चारों ओर फाँसी के स्थल बना रहे हैं।

तीसरी कांग्रेस के अवसर पर मिरोस्लाव कुलेजा साहित्य की प्रवृत्तियों के बारे में फिर बोल रहा था। उसने कहा कि यूगोस्लाव लेखकों को ऐसी प्रवृत्ति का विरोध करना चाहिए, जो कला को किसी राजनीतिक वाद का अनुयायी बना देती है। यह प्रवृत्ति समकालीन सोवियत सौन्दर्य-शास्त्र को पश्चिमी यूरोप के १९वीं शती के बुर्जुआ उपयोगितावादी सिद्धान्तों से द्वितीय सामाजिक तथा प्रजातान्त्रिक इंटरनेशनल के माध्यम से मिली। इसी प्रकार उनको ऐसी धार्मिक, रूढ़िवादी तथा साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का भी विरोध करना चाहिए जो साहित्य को किसी भी रूप में पक्षधर बनाना चाहती हैं। परन्तु यूगोस्लाव लेखक भी उस समाज के प्रति तटस्थ नहीं रह सकते जो निष्पक्ष पश्चिमी यूरोपीय सौन्दर्य-शास्त्र का प्रचार कर रहा है। समाजवाद के लिए संघर्ष वस्तुतः मनुष्य के तथा उसकी जीवन-पद्धति के मानवीकरण के लिए

---

१. सितम्बर १९९४ ई० में बुडापेस्ट में लास्लोराज्य तथा अन्य ग्रन्थों पर अमेरिका जासूस विभाग के संरक्षण में टीटो द्वारा आयोजित जासूसी तथा विद्रोह के लिए मुकदमा चलाया गया। अभियोगी ने अपराध स्वीकार किया। लास्को को राज्य से फाँसी मिली। मृत्यु से बचकर जो लोग कारागार गए वे, थोड़े दिन हुए, निर्दोष कहकर बरी किये गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः प्रत्येक ईमानदार कला कृति इस संघर्ष में समाजवाद को सहयोग देती है। इस भाव से पिछली शताब्दी के 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को मानने वाले कलाकार भी सामाजिक रूप से प्रगतिशील थे। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि ईश्वर के अभाव में भी एक अच्छा चित्र बनाया जा सकता है। वे गोलगोथा के कथानकों पर आधारित धार्मिक चित्रावली के विरोध में थे, जो शताब्दियों से यह सिखा रही थी कि इस संसार को सदैव ही अश्रु तथा रुदन से आप्लावित रहना है।

जनवरी १९५४ ई० में मिलोवान जिलास यूगोस्लाव की संघीय कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया। जिलास की राजनीतिक पद्धति को यदि हम छोड़ दें तो कहा जा सकता है कि उसने यूगोस्लाव साहित्य की बहुत बड़ी सहायता ऐसे समय में की थी, जब वह (साहित्य) समाज में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा था।

जिलास के पतन के पश्चात् कई ऐसी भविष्य-वाणियाँ की गईं जिनके अनुसार साहित्य में फिर से पार्टी-प्रतिबन्ध लगाए जाने की आशंका थी। उसी समय लेखकों के एक समुदाय ने जिलास के विरुद्ध आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। इस तीखे वाद-विवाद में यह पता चलाना कठिन हो गया कि ये लगाये हुए आक्षेप कहाँ तक सही हैं। सम्भवतः इनमें कुछ सत्य का अंश रहा हो, यद्यपि 'नोवामीसाओ' संघ के व्यक्तियों का प्रभाव बेओग्रेद के अतिरिक्त और किसी साहित्य-केन्द्र में अनुभव नहीं किया गया। इस समय यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण थी कि 'नोवामीसाओ' के उन आलोचकों ने इस बात में अधिक दिलचस्पी दिखाई कि वे साहित्य के सम्बन्ध में पार्टी की नई विचार-धारा का निर्माण कर सकें और उसका प्रतिनिधित्व कर कर सकें यह अनिश्चय कुछ समय तक ही चला। फिर यह बताया गया कि एक राजनीतिक संगठन के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी किसी विशिष्ट साहित्यिक वर्ग अथवा मान्यता का समर्थन नहीं करना चाहती और सिद्धान्तों के प्रश्न पर साधारणतः तर्कों के सहारे वह हस्तक्षेप कर सकती है। इसके अतिरिक्त कोई शासकीय हस्तक्षेप नहीं होने दिया जायगा।

: ७ :

युगोस्लाव-लेखक-संघ द्वारा आयोजित पिछले वाद-विवाद (नवम्बर १९५४) ने एक विभाजित चित्र उपस्थित किया, ऐसा चित्र जो इसके पूर्व पिछले महायुद्ध से लेकर अब तक कोई साहित्यिक वाद-विवाद उपस्थित न कर सका था।

ऊपर से देखने पर जान पड़ेगा कि जो मत वैभिन्न्य समस्याओं को लेकर कुछ दिनों से चला आ रहा है—'यथार्थवादी' और 'आधुनिक', 'परम्परावादी' और 'ऐहिक-वर्गीय', 'पुराने' और 'नये' के बीच सदा रहता है। फिर भी यह मत-वैभिन्न्य प्रायः दिखावे के लिए थे। जैसा कि एम० कुलेजा को लेकर कुछ नवयुवक लेखकों ने बल देकर कहा भी था, अथवा उससे भी अधिक बल देकर जो बातें उस वर्ष के प्रथम महीनों में होने वाले वाद-विवाद को लेकर कही गई थीं।

एक वास्तविक वाद-विवाद होने की अपेक्षा वस्तुतः बेओग्राद में होने वाला यह वाद-विवाद लगभग तीस भाषाओं का एक संकलन अधिक था। व्यक्तिगत लेखकों की समस्याएँ प्रायः विभिन्न चिन्तन-पद्धतियों से सम्बद्ध थीं। उनकी भाषा और उनका दृष्टिकोण भी उतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही विभिन्न थी। जब कभी वे एक ही शब्द को एक से अधिक बार कहते थे, तो निश्चय ही उनके अर्थ अलग-अलग होते थे।

स्वभावतः एक ऐसे वाद-विवाद का संक्षिप्त रूप देना इतने कम पृष्ठों में सम्भव नहीं, यही नहीं ऐसा लगता है कि प्रस्तुत निबन्ध में यह अधिक उचित भी नहीं! पाठक को यह ज्ञान हो सकता है कि युगोस्लावियन आलोचना अब एक ऐसी संक्रान्तिकालीन स्थिति में है जैसी स्थिति इसके पूर्व के तीखे वाद-विवादों में भी नहीं रही (वस्तुतः नियमित रूप से होने वाले मत-वैभिन्न्य साहित्य के लिए एक शुभ लक्षण हैं)। सम्भवतः यह संक्रान्तिकालीन स्थिति कोमेनफ़ार्म के प्रस्ताव के बाद वाली स्थिति से साम्य रखती हो, यद्यपि इस बार साहित्यिक समस्याएँ नैतिक और राजनीतिक प्रश्नों से भी अधिक उलझ गई हैं। यह आशा की जा सकती है कि इस संक्रान्तिकालीन स्थिति में से नये मूल्यों का उदय होगा, यद्यपि वे मूल्य नवीन तथा उत्कृष्टतर होने पर भी अन्तिम नहीं कहे जा सकेंगे। फिर भी बेओग्राद के इस वाद-विवाद को पिछले साहित्यिक झगड़ों को तय करने वाला माना जा सकता है, यद्यपि इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि कुछ नये साहित्यिक प्रश्न फिर से उभरकर आवें। अतः इस सम्बन्ध में पूरा विचार भविष्य के सन्दर्भ में ही हो सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

डॉ० शम्भूनाथ सिंह

लेखक का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है

साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न आज के युग का कोई बिलकुल नवीन प्रश्न हो ऐसी बात नहीं है। पूर्ववर्ती युगों में भी साहित्य में यौन-सम्बन्धों का नग्न और अतिरंजित चित्रण बहुत अधिक मिलता है। कालिदास ने 'कुमार सम्भव' के आठवें सर्ग में तथा 'मेघदूत' में कुछ स्थलों पर जैसी अश्लील उपमाएँ दी हैं वैसा आज के साहित्य में भी बहुत कम मिलेगा। संस्कृत और हिन्दी के रीति-साहित्य में श्रृङ्गार के अन्तर्गत नायक-नायिका के नख-शिख-सौन्दर्य, हाव-भाव चेष्टा, अनुभाव, दूती, अभिसार तथा काम-विलास के विविध पक्षों का इतनी सूक्ष्मता और विस्तार से वर्णन किया गया है कि उन्हें आज के युग में सभ्य समाज में दुहराना भी लज्जास्पद माना जाता है। और-तो-और, हिन्दी के भक्त और सन्त-कवियों में भी कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अतः अश्लील-चित्रण आज के साहित्य की नई वस्तु नहीं है। फिर भी आज इस प्रश्न ने जैसा रूप धारण कर लिया है वैसा पूर्ववर्ती युगों में कभी नहीं था। वस्तुतः यह प्रश्न आज के सचेत और प्रबुद्ध पाठकों, आलोचकों और चिन्तकों के सम्मुख एक गम्भीर समस्या का रूप धारण करके उपस्थित हुआ है। अतः इस सम्बन्ध में नये दृष्टिकोण से तथा साहित्य को उसके सामाजिक परिपार्श्व में रखकर विचार करने की आवश्यकता है।

भारतवर्ष का आधुनिक युग से पूर्व का डेढ़ हजार वर्षों का साहित्य सामन्ती युग में निर्मित और विकसित साहित्य है। सामन्ती युग में समाज के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढाँचे की तरह सांस्कृतिक और सौन्दर्यबोधात्मक, क्रियाशीलता और रुचियों का स्वरूप भी सामन्ती वर्ग राजा, सामन्त, सेठ-साहूकार आदि के संस्कार-व्यवहार और विचार-परम्परा के अनुरूप निर्मित होता है। इस वर्ग की अवकाशजन्य विलासिता और नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब तत्कालीन साहित्य में बहुत स्पष्टता से दिखाई पड़ता है। विकासशील सामन्त-युग के साहित्य में श्रृङ्गारिकता की यह प्रवृत्ति उतनी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप में नहीं मिलती जितनी परवर्ती ह्रासोन्मुख सामन्ती-युग में। ह्रासोन्मुख सामन्ती-युग (जैसे हिन्दी का रीति-काल) के सामाजिक ढाँचे के भीतर साहित्य विलास का साधन-मात्र था, अतः उस काल के साहित्य में अश्लील चित्रणों की अधिकता स्वाभाविक है। सम्भवतः उस समय की सामाजिक रुचि ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतनी विकृत हो गई थी कि समाज के बीच इस तरह की नग्न और अशोभनीय बातों का वर्णन लज्जाजनक नहीं माना जाता था। भक्ति के क्षेत्र में भी यह विकृत रुचि प्रविष्ट हो गई थी जो जयदेव, विद्यापति तथा कुछ कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। भक्तिपरक साहित्य में फिर भी गनीमत थी, क्योंकि वहाँ आध्यात्मिक प्रतीकों का आवरण तो था, किन्तु लोकपरक साहित्य में राधा-कृष्ण के नाम का आवरण इतना क्षीण या अशक्त सिद्ध हुआ कि उससे अशोभनीय या अश्लील जीवन-दृश्यों और तथ्यों के वर्णन में वृद्धि ही हुई। शृङ्गारिकता की यह प्रवृत्ति औद्योगिक युग की नई सामाजिकता और विचार-परम्परा के कारण कम हुई। सांस्कृतिक पुनरुत्थान और मानववादी विचार-धारा के प्रसार के साथ नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना हुई। प्रारम्भ में तो शृङ्गारिकता की प्रतिक्रिया अनुदारता की सीमा तक पहुँच गई और शृंगार-वर्णन ही वर्जित समझा जाने लगा किन्तु बाद में पूँजीवादी व्यक्तिवाद के विकास के साथ स्वच्छन्दतावादी विद्रोह और व्यक्तिवादी स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति ने इस प्रकार के अनुदार नियन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। फलतः आधुनिक छायावादी साहित्य में शृंगार का सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण होने लगा। ऐसे साहित्य में स्थूल शृङ्गारिकता और अश्लील चित्रणों के लिए अवकाश नहीं था, क्योंकि साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में लोगों की मान्यता अब बिलकुल बदल गई थी। किन्तु इसी युग में पाश्चात्य मानववादी विचार-धारा के सम्पर्क के कारण यथार्थवादी साहित्य का भी उदय हुआ जिसमें जीवन का कोई भी अंग या पक्ष अवर्ण्य या वर्जित नहीं माना जाता था। इसी धारणा के परिणामस्वरूप 'उग्र', ऋषभचरण जैन आदि कथाकारों ने समाज के गोपन और अश्लील किन्तु अछूते पक्षों का नग्न चित्रण किया। यद्यपि ऐसे लेखकों की ओर से तर्क यह दिया गया कि समाज के सुधार के लिए ही ऐसे साहित्य का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार के साहित्य को आदर्शवादी आलोचकों ने 'घासलेटी' साहित्य की संज्ञा दी, किन्तु ध्यान देने की बात है कि महात्मा गांधी जैसे आदर्शवादी व्यक्ति ने 'उग्र' के ऐसे साहित्य की समाज-सुधार की दृष्टि से सराहना की।

आधुनिक युग के छायावादोत्तर-काल में यथार्थवाद की इस परम्परा ने नवीन रूप धारण किया। वह चार धाराओं में विकसित हुई—१–सामाजिक यथार्थवाद की धारा, २–मनोविश्लेषणात्मक धारा, ३–प्रयोगमूलक कलावादी धारा, ४–व्यक्तिवादी उच्छृङ्खलता की धारा। इन चारों ही धाराओं में यथार्थ चित्रण के नाम पर अश्लील और अशोभनीय वर्णन मिलते हैं। किन्तु इन धाराओं से भी अधिक अश्लील चित्रण आज एक ऐसी धारा में मिलता है जो न तो यथार्थवादी है, न आदर्शवादी और न शुद्ध साहित्यिक। इस सस्ते काल्पनिक रोमांचक साहित्य की रचना का एक-मात्र उद्देश्य अपरिपक्व मस्तिष्क वाले पाठकों की भावुकता का अनुचित लाभ उठाकर पैसा पैदा करना है। इस प्रकार का साहित्य आज रेलवे-बुकस्टालों तथा शहर की दुकानों पर ढेर-का-ढेर खुले-आम बिकता है, क्योंकि ऐसे साहित्य के प्रकाशक पुस्तक-विक्रेताओं को मुँहमाँगा कमीशन देते हैं। ऐसे ही साहित्य की बिक्री आज सबसे अधिक हो रही है और समाज के युवक-युवतियों का मस्तिष्क उसके द्वारा बहुत तीव्र गति से और बड़े पैमाने पर निरन्तर विकृत किया जा रहा है। इस तरह गम्भीर साहित्य और बाजारू साहित्य दोनों में आज अश्लीलता की प्रवृत्ति इस सीमा तक बढ़ गई है और समाज पर उसका इतना बुरा प्रभाव पड़ रहा है कि इस प्रश्न ने एक गम्भीर समस्या का रूप धारण कर लिया है। व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्या इस कारण और भी उलझनपूर्ण बन गई है कि उच्च शिक्षा-प्राप्त, सुसंस्कृत और विद्वान् आलोचकों में से कुछ लोग जिस ग्रन्थ को अश्लील बताते हैं उसे ही अन्य आलोचक अश्लीलता-रहित और महान् कला-कृति घोषित करते हैं। 'घेरे के बाहर' नामक उपन्यास के सम्बन्ध में इसी प्रकार के परस्पर-विरोधी मत व्यक्त किये गए हैं। अतः इस समस्या के सम्बन्ध में प्रधान विचारणीय प्रश्न ये हैं—अश्लीलता की यह प्रवृत्ति आज इतनी क्यों बढ़ गई है? अश्लीलता की सामान्य मान्यता क्या है? आज के साहित्य में अश्लीलता किस सीमा तक ग्राह्य या अग्राह्य है और अग्राह्य अश्लील चित्रणों से युक्त साहित्य के प्रति समाज और साहित्यकार का क्या रुख होना चाहिए।

भारतीय समाज आज एक जबरदस्त आन्तरिक विरोध के बीच से होकर गुजर रहा है। सम्भवतः वह किसी गुणात्मक परिवर्तन के द्वार पर आ खड़ा हुआ है। समाज का आर्थिक ढाँचा पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित है। विश्व में पूँजीवादी व्यवस्था ह्रासोन्मुख होकर अपने नाश की ओर अग्रसर हो रही है। किन्तु भारत में पूँजीवाद को समाप्त करने की जगह उसे और भी प्रश्रय दिया जा रहा है। इधर मध्यवर्गीय जनता का जीवन आर्थिक कठिनाइयों के भार से उत्तरोत्तर पिसता जा रहा है, बेकारी, विशेषकर शिक्षितों की बेकारी, की समस्या निरन्तर उग्र होती जा रही है। शिक्षित बेकारों के सामने दो ही रास्ते रह गए हैं, या तो वे अवैध कार्यों द्वारा जीवन-यापन करें या इस प्रकार के काल्पनिक, रोमाञ्चक और उत्तेजक साहित्य में अपने मन को रमाकर यथार्थ जीवन के संघर्ष से पलायन करें। ऐसी सामाजिक व्यवस्था के भीतर अपराधपरक, सस्ते, रोमांचक और कामोत्तेजक साहित्य की खपत बहुत होती है। यही कारण है कि आज जासूसी, हत्याओं से सम्बन्धित तथा काल्पनिक और नग्न यौन चित्रणों वाले साहित्य का निर्माण बहुत अधिक हो रहा है। ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार के साहित्य के निर्माता अधिकतर वे लोग हैं, जिन्हें सम्यक् शिक्षा प्राप्त न होने से अथवा समुचित परिस्थिति के अभाव में जीवकोपार्जन का अन्य कोई रास्ता न मिला, जिससे वे सस्ते बाजारू साहित्य के लेखक बनकर सरलतापूर्वक अर्थोपार्जन करने लगे हैं।

किन्तु इस प्रकार के साहित्य को बाजारू या साहित्येतर रचना मानकर टाल देने के बाद भी समस्या का अन्त नहीं हो जाता। अश्लीलता की यह प्रवृत्ति जब शिष्ट या गम्भीर साहित्य के भीतर भी दिखाई पड़ती है और कुछ लोगों द्वारा यथार्थवाद, मनोविश्लेषण-शास्त्र या कलावाद के नाम पर उसका समर्थन किया जाता है तो प्रश्न और भी विचारणीय बन जाता है। वस्तुतः एक ही सामाजिक व्यवस्था के भीतर उपर्युक्त दोनों प्रकार के साहित्यों की रचना होती है; अतः गम्भीर साहित्य में भी उस व्यवस्था का प्रतिबिम्बन और प्रतिफलन होना स्वाभाविक है। यथार्थवादी और मनोविश्लेषणात्मक साहित्य में सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के उन पक्षों को उद्घाटित किया जाता है जो वास्तविक होते हुए भी गोपनीय होते हैं अथवा जिनके बारे में लोगों को अधिक जानकारी नहीं होती। यथार्थवादी साहित्यकारों का लक्ष्य समाज की छिपी हुई बुराइयों, विशेषकर नारी की वास्तविक स्थिति का चित्रण करके समाज को सचेत करना और उसकी दुरवस्था को दूर करना होता है। अतः साहित्य में यौन सम्बन्धों, मानव के गोपनीय अंगों, आंगिक चेष्टाओं आदि का जो उनमें नग्न चित्रण मिलता है वह उनके महत्तर लक्ष्य की पूर्ति का साधन-मात्र होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोविश्लेषणात्मक साहित्य भी यथार्थवाद की सीमा के भीतर ही आता है यद्यपि उसे सामाजिक यथार्थवाद से भिन्न करने के लिए मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिवादी यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती है। पूँजीवादी सामाज में नाना प्रकार की समाजिक विवशताओं से उलझकर वैयक्तिक चेतना कुण्ठित हो जाती है; व्यक्ति की दमित या अतृप्त वासनाएँ विकृत होकर अनेक प्रकार के उपद्रव करती और अपराध तथा अस्वाभाविक और अस्वस्थ यौन-सम्बन्धों के रूपों में अभिव्यक्त होती हैं। व्यक्ति के इन्हीं रहस्यमय रूपों का चित्रण मनोविश्लेषणात्मक साहित्य करता है। इस प्रकार के साहित्य का उद्देश्य भी व्यक्ति के माध्यम से समाज का सुधार ही होता है, जिसके लिए लेखक साधन-रूप में अश्लील चित्रणों का सहारा लेता है। कलावादी साहित्य में लेखक की सम्पूर्ण शक्ति रूप-विधान के निखार और नवीन रूप-शिल्प की खोज या प्रयोग में लगती है। उसके लिए कोई भी वस्तु अश्लील, अनैतिक या पापमय नहीं होती, वस्तुतः वह विषय-वस्तु या कथ्य को महत्त्व ही नहीं देता, क्योंकि वह उसे रूप-शिल्प से भिन्न नहीं मानता। रूप-शिल्प या कलात्मक पूर्णता ही उसका लक्ष्य होता है। अतः अश्लील या अनैतिक तथ्यों या वस्तुओं के चित्रण को वह बुरा नहीं मानता क्यों कि उसके अनुसार कला की सीमा में आकर सब-कुछ शुभ और शिव बन जाता है। कलावाद (रूपवाद) के अनुसार कला के क्षेत्र में श्लील या अश्लील, पाप या पुण्य, शिव या अशिव का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो केवल यही देखा जाता है कि कोई वस्तु सुन्दर है या असुन्दर। चौथी साहित्यिक धारा व्यक्तिवादी उच्छृङ्खलता की धारा है जिसमें लेखक अपने निजी ऐन्द्रिक और जुगुप्साजनक अनुभवों का वर्णन सच्ची-सीधी अभिव्यक्ति के नाम पर करता है। कवि अपनी प्रेयसी के साथ प्रेमालाप, आलिंगन, चुम्बन, अभिसार आदि का सीधा और अभिधात्मक वर्णन करते हैं। बच्चन, नरेन्द्र और नीरज से प्रभावित आज के अनेक नये कवियों में, जो कवि-सम्मेलनों की सस्ती लोकप्रियता को ही सब-कुछ मानते हैं, यह प्रवृति देखी जा सकती है। अतिशय और नग्न ऐन्द्रिकता की यह प्रवृत्ति कविता में ही नहीं, कथा-साहित्य में भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

समसामयिक हिन्दी-साहित्य में अश्लीलता की प्रवृत्ति क्यों और किस सीमा तक बढ़ गई है, इसका संक्षिप्त विवेचन कर लेने के बाद भी यह प्रश्न हो सकता है कि अश्लीलता को समस्या बनाकर उपस्थित करना संकीर्ण या अनुदार मनोवृत्ति का परिचय देना अथवा साहित्य के स्वतन्त्र अस्तित्व को धार्मिक और नैतिक नियंत्रणों में बाँधना है। यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक साहित्य में अश्लीलता का इतना विस्तार देखना अतिरंजना है; क्योंकि इस प्रकार का अधिकांश साहित्य वास्तव में अश्लील नहीं है। अतः इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अश्लीलता क्या है, इस बात को समझ लेना आवश्यक है।

भारतीय साहित्य-परम्परा में नाटकों में सम्भोग, चुम्बन, आलिंगन आदि रति-विषयक कार्यों तथा जुगुप्साजनक और अमंगलसूचक क्रियाओं का प्रदर्शन वर्जित है। किन्तु श्रव्य काव्य में शृंगार, बीभत्स और करुण रसों के भीतर उन्हींका वर्णन बराबर होता रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि अश्लील या जुगुप्साजनक कार्य देखने में तो बुरे माने जाते थे पर उनमें बुराई नहीं माना जाता था। लेकिन प्रभाव की दृष्टि से वस्तुतः देखने और सुनने की क्रियाओं में कोई तात्विक अन्तर नहीं है, मात्रा का अन्तर भले ही हो। इसी कारण आधुनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में पाश्चात्य नाटकों की तरह भारतीय नाटकों में भी पुरानी वर्जनाओं को अस्वीकार करके भोजन मृत्यु आदि कार्य प्रदर्शित किये जाते हैं, यद्यपि अश्लील दृश्यों का प्रदर्शन अब भी बुरा माना जाता है। यह हमारे सभ्य जीवन की एक बहुत बड़ी व्याधि है कि हमारी वाणी और क्रिया में सामञ्जस्य नहीं रह गया है। असभ्य आदिवासी जातियों का जीवन सभ्यता की कृत्रिम वर्जनाओं से कुण्ठित नहीं हुआ है। इस कारण उनके दृष्टिकोण, वाणी और क्रिया में कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता। संस्कृति के एक सामान्य स्तर पर पहुँचकर मानव ने आचार-सम्बन्धी कुछ ऐसे नियम बनाये जो सभी देशों, जातियों और कालों में समान रूप से मान्य रहे हैं। यौनी क्रियाओं की गोपनीयता और शरीर के गुप्तांगों को आवृत रखने की प्रथा भी मानव के उन्हीं सामान्य और सार्वभौम आचारिक नियमों में से है। इन क्रियाओं और अंगों का समाज के बीच वर्णन या उद्घाटन करने वाला व्यक्ति या तो असभ्य और अशिष्ट माना जाता है या वह स्वयं मानसिक विक्षिप्तता की अवस्था में होता है। किन्तु चिकित्सा-शास्त्र और और काम-शास्त्र के क्षेत्र में ये बातें गोपनीय नहीं हैं, क्योंकि वहाँ जीवन को सुरक्षित और व्यवस्थित बनाने के उद्देश्य से उन क्रियाओं और अंगों का वैज्ञानिक विश्लेषण और ज्ञान आवश्यक होता है। किन्तु व्यावहारिक दैनन्दिन जीवन में खुले आम वे क्रियाएँ न तो की जातीं और न कही जाती हैं। इस तरह निष्कर्ष यह निकलता है कि यौन क्रियाओं और शरीर के गुप्तांगों का समाज के बीच खुले-आम प्रदर्शन या वर्णन ही अश्लीलता है, चाहे वह जीवन में हो या साहित्य में।

आज हमारे समाज में कृत्रिम सभ्यता के कारण इतनी अधिक सामाजिक और आचारिक वर्जनाएँ रूढ़ि रूप में, व्यक्ति को जकड़कर, फैली हुई हैं कि उनसे नाना प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ और कुण्ठाएँ उत्पन्न होकर व्यक्ति के मन को विकृत बना रही हैं। यही विकृति या उन रूढ़ियों के विरुद्ध होने वाली अस्वस्थ प्रतिक्रिया आज के साहित्य में अश्लील चित्रण के रूप में अभिव्यक्त हो रही है। कोई प्रतिक्रिया अस्वस्थ तब होती है जब वह औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर देती है। सामाजिक औचित्य यह है कि रूढ़िगत, आचारिक नियन्त्रणों के विरुद्ध विद्रोह होना चाहिए और सामान्य सार्वभौम आचारिक नियमों की रक्षा होनी चाहिए। जब इस औचित्य की सीमा को तोड़कर सामान्य मानवीय आचारों का भी विरोध होने लगता है तो उसका परिणाम साहित्य में अश्लील चित्रण या कुण्ठाओं के समर्थन के रूप में दिखलाई पड़ता है। प्रारम्भ में जिस समाजिक अन्तर्विरोध की चर्चा की गई है वह इस बात में भी दिखलाई पड़ती है कि ऐसे साहित्यकारों के भीतर इतना साहस नहीं कि साहित्य में वे जिन बातों को अश्लील या गोपनीय समझकर भी निःसंकोच रूप में व्यक्त करते हैं, व्यावहारिक जीवन में भी उनके अनुसार खुले-आम आचरण करें। क्रिया और वाणी के बीच यह विरोध हमारे नैतिक ह्रास का द्योतक है। क्रिया और वाणी के सामञ्जस्य का अर्थ यह है कि व्यावहारिक जीवन में जो आचारिक दृष्टि से गोपनीय या वर्जित नहीं है उसे ही सार्वजनिक उपयोग के लिए वाणी-बद्ध किया जाय और जो गोपनीय या वर्जित है उसे साहित्य में भी गोपनीय और वर्जित माना जाय।

किन्तु जिस तरह व्यावहारिक जीवन में गोपनीय और अवर्ण्य मानी जाने वाली बातें भी काम-शास्त्र और चिकित्सा-शास्त्र में विचारणीय और वर्णनीय मानी जाती हैं उस तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य में भी आवश्यकता पड़ने पर इनका वर्णन किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य को काम-शास्त्र या चिकित्सा-शास्त्र का रूप दे दिया जाय। जैसा कुछ मनोविश्लेषणवादी साहित्यकार इस समय कर रहे हैं। साहित्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वरूप है पर वह जीवन के सभी पक्षों और विषयों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध भी है। जीवन में सामाजिक आचारों का जितना महत्त्व है उतना ही साहित्य में भी होना चाहिए और उसी तरह काम-शास्त्र या चिकित्सा-शास्त्र का जीवन में जो स्थान है, साहित्य में उनका भी उनके अनुरूप चित्रण होना चाहिए। यदि मानव का साध्य जीवन का चरम आनन्द है तो आचार-शास्त्र, काम-शास्त्र आदि सभी उनके साधन हैं। अतएव इन साधनों में परस्पर विरोध नहीं, सामंजस्य होना चाहिए। एक बात ही आचार-शास्त्र की दृष्टि से अश्लील और कामशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर अश्लीलता-रहित प्रतीत हो सकती है। किन्तु साहित्यकार के पास वह सामंजस्य-बुद्धि होनी चाहिए जिसके द्वारा वह साहित्य और जीवन के चरम लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए आचार-शास्त्र और काम-शास्त्र के बीच प्रतिभासित होने वाले विरोधों का शमन कर सके। विरोध-शमन का एक-मात्र उपाय यह है कि लेखक का दृष्टिकोण स्वस्थ और उदार हो, उसका उद्देश्य स्पष्ट और महान् हो और उसके मानसिक ग्रन्थियाँ तथा कुण्ठाएँ न हों।

ऊपर के विवेचन का निष्कर्ष यह है कि यौन-क्रियाओं और अवर्णनीय अवयवों का वर्णन साहित्य में हर हालत में बुरा ही नहीं होता। लेखक यदि पाठकों में अपने उद्देश्य के अनुरूप प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इस प्रकार का वर्णन करता है तथा इस पद्धति द्वारा उद्देश्य-सिद्धि में सफलता प्राप्त करता है तो उसका यह कार्य अनौचित्यपूर्ण या असामाजिक नहीं माना जायगा। आधुनिक युग के अनेक महान् कथाकारों—गोर्की, जोला, आस्कर वाइल्ड, डी० एच लारेन्स आदि ने इस प्रकार के अश्लील-वर्णन किये हैं पर इससे उनकी महानता में कमी नहीं आई और न उनकी कला को ही कोई दोषी ठहराता है। वस्तुतः प्रधान तत्त्व किसी रचना का प्रभाव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अश्लील सदैव अश्लील है जिस तरह चोरी या झूठ सदैव चोरी और झूठ हैं, किन्तु ये सदैव बुरे भी होते हैं ऐसी बात नहीं है। कोई वस्तु अपने-आपमें अच्छी या बुरी नहीं होती, उपयोग और प्रभाव से ही अच्छे और बुरे का निर्णय होता है। यदि अश्लीलता का उपयोग सदुद्देश्य के लिए होता है और उसका प्रभाव भी बुरा नहीं, अच्छा पड़ता है तो अश्लीलता बुरी नहीं हो सकती। इसके विपरीत वह अश्लील-चित्रण श्लाघनीय माना जायगा। जो व्यक्ति की अस्वस्थ मानसिक ग्रन्थियों और कुण्ठाओं और समाज के दुराचारों और कुरीतियों को मिटाने के लिए साधन-रूप में प्रयुक्त हुआ हो। यदि लेखक स्वयं उसमें रस लेता और पाठकों की पाशविक या काम-वृत्तियों को उत्तेजित करने के लिए ऐसा चित्रण करता है और इससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो वह अश्लील चित्रण अवश्य अग्राह्य तथा निन्दनीय है। जेम्स ज्वायस के उपन्यास 'युलिसिस' पर अमेरिका में रोक लगा दी गई थी। उस सम्बन्ध में हुए मुकदमे अमेरिका के एक हाई-कोर्ट के जज ने यह निर्णय दिया कि 'युलिसिस' को अश्लील उपन्यास नहीं माना जा सकता, क्योंकि उससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़ने की कोई आशंका नहीं है। हिन्दी के उपन्यासों में 'सुनीता' और 'शेखरः एक जीवनी' के बारे में भी यही बात कही जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु अनेक उपन्यास ऐसे भी हैं जिनमें उद्देश्य की महत्ता नहीं अथवा जिनका कोई उद्देश्य ही नहीं है, साथ ही उनमें विस्तार के साथ रति-क्रियाओं का वर्णन मिलता है। ऐसा साहित्य, चाहे वह मनोविश्लेषणवाद के नाम पर, किसी भी आधार पर श्लाघनीय नहीं हो सकता। ऐसे निरुद्देश्य और असामाजिक अश्लील-चित्रणयुक्त साहित्य के प्रति साहित्यकार, समाज और शासक-वर्ग का क्या रुख होना चाहिए, यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

विजयदेव नारायण साही

साहित्यिक 'अश्लीलता' का प्रश्न

जब बालज़ाक-जैसा उपन्यासकार 'ड्रोल स्टोरीज़' लिखने के लिए प्रस्तुत हो जाता है तो हम विवश हो जाते हैं कि साहित्य में श्लीलता-अश्लीलता का विवेक सोच-समझकर करें। सतही तौर से देखने पर, तसवीर का एक ही पहलू दीखेगा। किन्तु परिणाम यह होगा कि बहुत-से महान् लेखकों और उत्कृष्ट कला-कृतियों को ताले में बन्द कर देना होगा। यह निश्चित करना होगा कि नंगी मूर्तियाँ या नंगे चित्र क्यों अश्लीलता की कोटि में नहीं आते, या आते भी हैं तो उत्कृष्ट कला-कृति क्यों माने जाते हैं? क्या कोई कृति अश्लील और साथ-ही-साथ उत्कृष्ट कला-कृति हो सकती है? या कला की उत्कृष्टता अश्लील विषय को भी अश्लील नहीं रहने देती? या ऐसी कौन-सी मजबूरी है कि बालज़ाक 'ड्रोल' कहानियों की ओर प्रेरित होता है या बायरन-जैसा कवि अपनी पूरी शक्ति के साथ 'प्लेटो' और उसके 'प्लेटोनिक प्रेम' पर तीखे प्रहार करता हुआ उल्लासमय, जीवन्त, किन्तु वासनामय प्रेम का चित्र खींचता है और फिर गेटे-जैसा विचारक, सुधारक और कलाकार बजाय छिः-छिः करने के कहता है कि बायरन-जैसा मस्तिष्क शेक्सपीयर के अतिरिक्त इंगलैण्ड में हुआ ही नहीं।

अमूर्त सिद्धान्तों के सम्बन्ध में संसार में कभी भी विवाद नहीं हुआ है। कठिनाई तब होती है जब अमूर्त सिद्धान्त मूर्त और व्यावहारिक रूप धारण करने लगते हैं। तब विवाद उपजते हैं। अधिक-से-अधिक शुभाशंसा प्राप्त करने का तरीका यह है कि अमूर्त सिद्धान्तों में, निराकार सूत्रों में बात कही जाय। सब सहमत, प्रसन्न और सुखी होंगे। सिर्फ एक ही बात नहीं होगी—अर्थ कुछ नहीं निकलेगा। विचारक नामधारियों में से प्रायः निरर्थक बात कहने से उतना संकोच नहीं करते जितना सार्थक वाक्य से। क्योंकि सार्थक वाक्य खतरनाक होता है। वह बचकर निकल भागने या समय रहते बदल जाने का रास्ता नहीं छोड़ता। उदाहरण के लिए साहित्य लोक-मंगल के लिए है, यह एक अमूर्त, अतः निर्विवाद, अतः निरर्थक सूत्र है। इससे पुराण और पुराण-विरोध दोनों ही सिद्ध किया जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र में ऐसा ही एक अमूर्त सिद्धान्त यह भी है कि अश्लीलता अवांछनीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश-काल से निस्संग इस वक्तव्य से असहमत होना असम्भव है। क्योंकि इस वक्तव्य का कोई अर्थ नहीं है। वक्ता या विचारक हमेशा 'किन्तु कालिदास की बात दूसरी है' अथवा 'कृष्ण और गोपियों का रास-वर्णन अश्लीलता में नहीं आता' कहकर छूट सकता है। एकाध तुलाधार ऐसे भी हैं, जिन्हें सूरदास या कालिदास या व्यास की चर्चा करते समय केवल ऊँचे सिद्धान्त, वेदान्त और वेदितव्य, ही दिखते हैं और समकालीन नये लेखकों की ओर मुड़ते हैं तो सिवाय अश्लीलता के उन्हें कोई आलोच्य ही नहीं जान पड़ता। स्पष्ट है कि पुरानों के लिए आँख बचा जाना और नयों के लिए गला फाड़कर चिल्लाना हमारी श्रद्धा-वृत्ति चाहे व्यक्त करे, बौद्धिक सन्तुलन का प्रमाण तो प्रस्तुत ही नहीं करता।

विवेचन के लिए मूल प्रश्न यह है कि साहित्य में अश्लीलता क्या है, इसका निरूपण कैसे किया जाय?

अश्लीलता के अन्तर्गत मूलतः यौन-आचार ही का विवेचन किया जाता है। यद्यपि इसको मात्र यौन-आचार तक सीमित रखने का कारण नहीं है। साहित्य में श्लीलता-अश्लीलता सुरुचि और संस्कृति का प्रश्न है, नैतिकता का नहीं। इस वास्तविकता का हृदयंगम करना आवश्यक है। चूँकि साहित्य में यौन-आचार का विषय मुख्यतः उठता है, अतः मैं इसी दृष्टि से विचार करूँगा।

श्लीलता-अश्लीलता का जो हमारा विवेक या संस्कार है, उसका आधार क्या है? ज हम यह निश्चित करते हैं, या अनुभव करते हैं कि अमुक शब्द अथवा कृति अश्लील है तो हमारे लिए निर्णायक संकेत क्या होते हैं? इसे समझने के लिए संस्कृति के मौलिक त को समझना आवश्यक होगा। मानवीय संस्कृति का सतत प्रयास पाशविक स्थिति से दू हटने की ओर रहा है। हमारी प्राथमिक शारीरिक क्रियाएँ हममें और पशुओं में सा प्रस्तुत करती हैं। संस्कृति बुद्धि, इच्छा और अन्तरात्मा की कोटियों को हमारी शारीरि प्रक्रियाओं में प्रविष्ट करती है। जितना ही ये मानसिक आवरण हमारी क्रियाओं को ढकते जा हैं, हमारा संस्कार होता जाता है। अनुभूतियाँ सूक्ष्मतर होती हैं। और हम पशुत्व से ऊँ उठते हैं। यौन-प्रक्रिया अथवा स्त्री-पुरुष का समागम जीवन की अनिवार्य और अत्य सशक्त प्रेरणाओं में से एक है। शारीरिक, अर्थात् पाशविक परिणति तो इसमें मानकर चलना होगा। किन्तु हमारा जो दृष्टिकोण इस यौन-आकर्षण के प्रति रहा है, उसमें ह अपनी सांस्कृतिक अन्तरात्मा की प्रतिच्छाया मिलेगी। जितना ही अधिक हम इस आकर्ष में शारीरिक (अर्थात् पाशविक) वासना का अभाव दिखला सके हैं उतना ही यह आकर्ष उदात्त, मंगलमय, नैसर्गिक माना गया है। यहाँ तक कि इसके सर्वोच्च स्वरूप की कल्पना वह है जहाँ शारीरिक सायुज्य का प्रश्न ही नहीं रह जाता, प्रेम मात्र आध्यात्मिक हो जाता आत्मा ही आत्मा में रमण करती है। ऐसे प्रेम का चित्रण न केवल कि अश्लील नहीं मा जाता, बल्कि परम पावन और पुनीत सम्बन्धों को व्यक्त करने के लिए बार-बार प्रयुक्त हो है। दूसरी ओर की सीमा नितान्त पाशविकता की है जहाँ आकर्षण और शारीरिक प्रक्रि एक ही वस्तु है, बीच में मानसिक मध्यन्तर का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सर्वाधि अश्लील चित्रण होगा।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि समस्त मानवीय प्रक्रिया मूलतः अ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्ततः शारीरिक है किन्तु संस्कृति के विकास की दिशा यह रही है कि शारीरिक प्रेरणा और प्रतिक्रिया के बीच मानसिक आरोहण-अवरोहण के अधिक-से-अधिक सोपान प्रस्तुत करें। इन सोपानों के कारण हमारी क्रियाशीलता में परिष्कार आता है और जीवन के हर क्षण की अनुभूति प्रखर होती जाती है। इस निरन्तर विकासशील सांस्कृतिक स्थिति में निश्चय ही अश्लीलता (अर्थात् पाशविक क्रिया से निकटता) वही होगी, जो हमें सीधे शरीर की अनुभूतिहीन प्रक्रिया की ओर खींचेगी। अब कितना वर्णन, कितना संकेत, हमें केवल अनुभूति के सोपानों पर छोड़ जायगा और कहाँ से फिसलन इतनी तीव्र होगी कि हम बिना रुके पाशविक शारीरिक प्रक्रिया तक पहुँच जायँगे, यह हमारे सांस्कृतिक स्तर और कलाकार की अनुभूति-प्रवणता पर निर्भर करता है। सांस्कृतिक स्तर से मेरा तात्पर्य परम्परा से संग्रहीत उस मानसिक अनुभूति-कोष से है जिसके द्वारा हम जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं को गहराई, विविधता, और सूक्ष्मता प्रदान कर पाते हैं। इसको एक उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। हमारे कवियों, विचारकों, कलाकारों ने नारी-पुरुष के परस्पर चुम्बन को विभिन्न अनुभूति-गम्य गहराइयों, विविधताओं, सूक्ष्मताओं से सम्बद्ध कर दिया है। अतः जब हम कविता या उपन्यास में साधारणतः चुम्बन का शब्द देखते हैं तो हमारे मन में मात्र-शारीरिक तरंगें नहीं उठतीं। बल्कि वे तो शायद बहुत ही गौण होती हैं। चुम्बन शब्द सर्वप्रथम हमारे मस्तिष्क में अनुभूति—मानसिक प्रक्रिया—स्नेह, विह्वलता, शान्ति, कातरता आदि की कल्पना प्रस्तुत करता है। जो अनुभव हम प्राप्त करते हैं वह शारीरिक न होकर भावनात्मक (emotive) अथवा सौन्दर्यात्मक (Aesthetic) अनुभव हो जाता है। इसके विपरीत चुम्बन का ही वर्णन यों भी हो सकता है कि अनुभूतिहीनता और अश्लीलता उत्पन्न हो जाय। इसके विपरीत रति-क्रिया का वर्णन (यद्यपि उसके भी कारण वही हो सकते हैं जो चुम्बन को जन्म देते हैं) अधिकतर अश्लील हो जायगा, इसकी सम्भावना अधिक है।[1] क्योंकि प्रायः यह प्रक्रिया अविकसित रही है और हमने इसे चुम्बन या आलिंगन की भाँति विविध और सूक्ष्म मानसिक अनुभूतियों से सम्बद्ध करना नहीं सीखा है। जैसे-जैसे संस्कृति अथवा सभ्यता का विकास होता जाता है हमारी अनुभूतियाँ समृद्ध, सूक्ष्म, गहन और विविध होती जाती हैं। हम एक ऐसे स्तर की कल्पना कर सकते हैं जब रति-क्रिया का सुस्पष्ट वर्णन हमें उसी प्रकार भाव-प्रवण छोड़ जाय जिस तरह छायावादी कविता में अनन्त से आने वाले अज्ञातप्रिय का आध्यात्मिक दर्शन-मात्र! 'गीत गोविन्द' ही नहीं, संसार की अन्य कृतियों में भी इस वर्णन को पुराने आचार्यों ने लिया है, वे कभी सफल रहे हैं, कभी विफल। अन्यान्य कारणों से आधुनिक युग के लेखकों में इसकी खोज अधिक दीखती है। जब हम पूछते हैं कि कहाँ पर ऐसा प्रयास अश्लील हो जाता है और कहाँ नहीं, तो हमारा मूल प्रश्न यही होता है कि क्या यह शारीरिक वर्णन हमारे अनुभव में कोई नया आयाम जोड़ जाता है? क्या इसने जीवन की हमारी सामान्य अनुभूति में गहराई, सूक्ष्मता, विविधता जोड़ी है? क्या हम जिस तरह एक फूल की सुगन्ध को दूसरे फूल की सुगन्ध से अलग कर सकते हैं, उसी तरह कलाकार हमें ऐसे अनुभवों की ओर ले गया है जो हमारे नितान्त शारीरिक अनुभव को सौन्दर्यात्मक अथवा भावनात्मक अनुभूति बनाकर मूल्यवान बना सकें?

१. इस सम्बध में जयदेव के 'गीत गोविन्द' का विश्लेषण कि कौन-से तत्व हैं जिनसे अश्लीलता उत्पन्न होती है या नहीं होती है, मूल्यवान होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि इन प्रश्नों का उत्तर हाँ है, तो निश्चय ही कृति, कला-कृति है और अश्लील नहीं है, यदि हम अश्लीलता के विवेचन को मूलतः सुरुचि का प्रश्न मानते हैं तो हमारे लिए मानना अनिवार्य होगा कि कला-कृति अश्लील हो ही नहीं सकती। यदि वह अश्लील है तो कला-कृति नहीं होगी। क्योंकि सुरुचि, स्वयं ही कलात्मक परिष्कार है, जो हमें मानसिक गहराई की ओर ले जाती है।

दो-एक प्रचलित धारणाओं पर विचार करना आवश्यक है। प्रायः कहा जाता है कि हमारा सामयिक सामाजिक वातावरण विशेष करके अश्लील हो गया है, जब कि प्राचीन काल में इतनी अश्लीलता अथवा सामाजिक उच्छृङ्खलता नहीं थी। मुझे यह धारणा अनैतिहासिक लगती है। उच्छृङ्खलता को सही प्रमाणित करने के लिए मनुष्य ने हर युग में बहाने बनाए हैं। यहाँ तक कि वामाचार की तान्त्रिक साधना तक चला डालीं। अतः यह न तो आज के भारत की नई बात है, न यूरोप के भौतिकवाद, न फ्रायड के मनोविज्ञान की विशेष देना है। इसके विपरीत आधुनिक युग संगठित विलास के अर्थ में उच्छृंखल सामाजिक व्यवहार का अधिक विरोधी है।

एक प्रकार का मस्तिष्क मोटे ढंग से हर कृति को इस कसौटी पर कसना चाहता है क्या इस पुस्तक को 'बहू-बेटियों' के हाथ में दिया जा सकता है? क्या इसे आचार्यगण शिशुवत् शिष्यों को पढ़ा सकते हैं? ऐसे प्रश्नों के पीछे एक अप्रमाणित स्वीकारोक्ति यह होती है कि सारा साहित्य बहू-बेटियों, या शिशुवत् शिष्यों के लिए लिखा जाता है या लिखा जाना चाहिए। वस्तुतः साहित्य इस कसौटी पर न तो खरा उतरा है, न उतरेगा। बहू-बेटियों की लाठी से हाँकने पर तो व्यास और वाल्मीकि भी भागते नज़र आयँगे, कालिदास और शेक्सपीयर का तो कुछ कहना ही नहीं। इस प्रकार का शुद्धतावादी नैतिक हठयोग साहित्य को उसके मर्म से वंचित कर देता है। जो मस्तिष्क अश्लीलता का विरोध-मात्र इस आधार पर करता है कि इसका प्रभाव लोगों के चरित्र पर क्या पड़ेगा, वह अपरिपक्व, पण्डिताऊ और अर्धसभ्य है। कुन्द उस्तरे से शल्यक्रिया करने वाला स्वस्थ अंग को भी काटकर निकाल फेंकेगा इसी की सम्भावना अधिक है। क्योंकि जैसा हमने ऊपर विचार किया है बहुत-सी कृतियाँ, या बहुत-से विषय सतही तौर से अश्लील लगते हुए भी विशिष्ट कलात्मक सन्दर्भ में अश्लील नहीं होते।

पूछा जा सकता है कि श्लीलता के नाम पर यदि हम नैतिक शुद्धता अथवा पूर्ण सात्विक वातावरण की माँग साहित्यकार से करें भी, तो हर्ज क्या है? माना कि वामनात्मक दलदल का एक भाग सख्त है और उस पर चलने में डूबने का खतरा नहीं है, तो भी क्या आवश्यक है कि हम पक्की जमीन छोड़कर उधर जायँ ही? आखिरकार कहने के लिए 'संसार में एक से-एक अच्छी बातें पड़ी हुई हैं, लोगों के चरित्र को ऊँचा उठाना भी तो एक काम है, ऐसी कौन-सी बाधा आ पड़ी है कि साहित्यकार ख्वाह-मख्वाह अश्लीलता का आभास देने वाला चित्रण करे ही और बाद में बाल की खाल निकालकर कहे कि मैं काजल की कोठरी से अछूता निकल आया हूँ? क्या यह मात्र-मानसिक विकृति नहीं है? मान भी लिया जाय कि कलात्मक सौष्ठव से शायद एकाध ऐसे वर्णन अश्लीलता की सीमा से बाहर आ जाते हों, तो भी यह चमत्कार दिखलाने की आवश्यकता क्या है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि शायद ही कोई भाषा हो जिसमें चोटी के साहित्यकारों ने अश्लीलता की दलदल पर पैर न रखा हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छा हो कि हम बहस में पुरानी महान् कृतियों को ध्यान में रखें। हम इतना मानकर आरम्भ कर सकते हैं कि शरत् बाबू के शब्दों में 'नितान्त बाध्य' न होने पर इन महान् कृतिकारों ने जीवन-व्यापार के वे चित्र न प्रस्तुत किये होंगे, जो अश्लीलता का आभास दे जाते हैं। क्या है वह जो 'नितान्त बाध्य करता है?' कीचड़ से ऐसा कौन-सा दुर्निवार आकर्षण है?

उत्तर इस पर निर्भर करता है कि हम साहित्यकार को क्या समझते हैं, क्या वह स्वयम्भू है, ऋषि है, ब्रह्म है अथवा साधारण मानव है, जिसमें ऊपर से असम्पृक्त लगने वाली अनुभूतियों को एक साथ जोड़कर समर्थक बनाने की, अतः जीवन-अनुभव को प्रखर बनाने की शक्ति विद्यमान है। जो लोग साहित्य को उदात्त और मंगलकारी आर्ष-वाणी-मात्र मानते हैं उनसे बहस नहीं की जा सकती। अच्छे और सुन्दर उपदेशों की प्रचुरता को अवांछनीय ठहराने का साहस कौन कर सकता है? हितोपदेशक शुद्धतावादी विवश इसलिए हो जाते हैं कि रूखा उपदेश पंगु और प्रभावहीन हो जाता है ताकि वह रसमय, और प्रभावशाली हो सके एक आदर्शेतर तत्त्व—यथार्थ—की आवश्यकता पड़ती है। यह ऋषि के ऋषित्व से नीचे की वस्तु है। मनीषी का तत्त्व-दर्शन नहीं, ब्रह्म की चिन्मयता नहीं, आचार्य का उद्घोष नहीं—सीधे-सादे मनुष्य की वाणी है जो सीमाओं में बँधी है, लालसा है, गोचर है, यथार्थ है, जीवन-पंक में लिपटी है और इसीलिए हमारी अपनी है, प्यारी है, आत्मीय है। यथार्थ का यह एक दुर्निवार आकर्षण है।

सात्त्विक उपदेश में एक और कमी है। वह नीचे बहने वाली विकृतियों को छिपाने के लिए पर्दे का काम करता है। कालान्तर से हर शुद्धतावादी आचार, कपट, दुहरी नैतिकता, सामाजिक प्रतिक्रियावाद और छिछले वात्याडम्बर का पर्याय बन जाता है। दो स्तरों का अ-ऋजु जीवन मानव को विचलित करता है। साहित्यकार को प्रखर अनुभूति दे जाता है। अतः यथार्थ की 'नितान्त बाध्यता' साहित्यकार को विवश करती है कि उस वास्तविक स्तर को ऊपर लाये। कलाकार का मानस इसलिए नहीं विचलित होता कि मानव-स्वभाव में दुर्बलता क्यों है। विक्षोभ इस बात पर होता है कि दुर्बलता को स्वीकार क्यों नहीं किया जाता, आडम्बर की क्या आवश्यकता है? चारित्रिक दुर्बलता को हम क्षमा कर सकते हैं, किन्तु बेईमानी को नहीं। यदि कलाकार विद्रोही हुआ तो यथार्थ का नग्न चित्रण करेगा और यदि विद्रोह उसके युग का मुख्य स्वर नहीं तो नैतिक आडम्बर की उपेक्षा करके जीवन के गोचर आनन्द का वर्णन करेगा और जब एक बार यथार्थ का आकर्षण स्वीकार कर लिया गया तो उन स्तरों पर यदा-कदा पहुँच जाना, जो साधारणतः गोपनीय होते हैं, असम्भव नहीं है। बात सिर्फ अनुभूति की गहनता की है।

बड़े-बड़े कृतिकारों में यह प्रवृत्ति—यथार्थ की प्रवृत्ति—दिखती है, इससे इन्कार करना सम्भव नहीं। सतही आलोचक-दृष्टि यह कहकर सन्तोष कर लेती है कि ठीक है, साहित्यकार नग्न यथार्थ का वर्णन करे, किन्तु इस प्रकार वासना—ऐन्द्रिकता—से अरुचि हो जाय। मैं इस भ्रामक तर्क को समझने में असमर्थ हूँ। क्या यह कहना अभीष्ट है कि अब तक के कलाकारों ने जो-कुछ इस सम्बन्ध में कहा है वह अरुचि उत्पन्न करने के लिए कहा है? इसके विपरीत अधिकतर नग्न यथार्थ आकर्षक; मानवोचित रूप में—मेरे शब्दों में अनुभूति की समृद्धि एवं विविधता के साथ—अभिव्यक्त हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक के प्रथम अंश में हमने जो विश्लेषण किया है, उसकी शब्दावली में हम यदि विचार करें तो प्रश्न यों उठेगा कि जब हम मान लेते हैं कि मात्र ऐन्द्रिक प्रक्रिया पाशविक और असंस्कृत है तो क्या कलाकार के लिए यह सम्भव और उचित नहीं है कि वह ऐन्द्रिक प्रक्रिया का नितान्त बहिष्कार करें और मात्र भावना, अनुभूति में ही विचरण करे ? यह तो विकास और संस्कृति का चरम लक्ष्य होगा। इस दृष्टि से देखने पर आदर्श की पराकाष्ठा स्पृहणीय ही नहीं, अनिवार्य भी हो जाती है। 'कीचड़ के आकर्षण' का प्रश्न ही नहीं उठता। 'प्लैटानिक प्रेम' सर्वोच्च ही नहीं, पर्याप्त भी होना चाहिए।

यह तर्क अकाट्य होता यदि इसमें एक मौलिक त्रुटि न हो तो। पर तर्क भूल जाता है कि संस्कृति में हम जिसका परिष्कार करते हैं वह अन्ततोगत्वा हमारी भौतिक जैविक क्रियाएँ ही हैं। भौतिक जैविक-जीवन से विच्छिन्न कोई क्रिया सम्भव नहीं है। इसलिए मात्र-आदर्श पर आधारित मानव-चेतना की कल्पना तो एक सिरे से क्रियाशीलता की सम्भावना को ही आस्वीकार कर देगी, और साहित्य सम्भव नहीं रह जायगा। यदि हम सर्वत्र, ब्रह्म ही देखेंगे तो प्रक्रिया-मात्र माया होगी। हम केवल अनादि अनन्त कर्म-हीनता में स्थित रह जायँगे। अध्यात्मिक दृष्टि से यह स्थिति कितनी ही सुरक्षित क्यों न हो साहित्य के लिए उर्वर भूमि नहीं है। इसलिए बुद्धि, इच्छा, अन्तरात्मा—संस्कृति के जो भी तत्त्व हम मानें—उनकी क्रियाशीलता का आधार इन्द्रियाँ ही हैं। इसीलिए हमें बार-बार लौटकर इन पर आना पड़ता है। ऐन्द्रिक क्रियाओं को फिर से आत्मसात् करना पड़ता है। उनकी व्यप्ति को विस्तृत करना और उनकी आवृत्ति को विविधता देनी पड़ती है। हम इन्द्रियों से अलग नहीं हो सकते—केवल उनका परिष्कार कर सकते हैं। कालान्तर से नई स्थापित आनुभूति-प्रक्रियाएँ पुरानी पड़ जाती हैं। उनमें ठहराव नहीं रह जाता, जो हमारी कल्पना को छिछली, निरर्थक पाशविकता की ओर जाने से रोके। अतः फिर नये अनुभूति-आयामों की तलाश होती है। साहित्य एक करवट लेता है। नया युग आता है। उदाहरण के लिए रीतिकालीन कवियों तक नारी-पुरुष की अनन्त शारीरिक चेष्टाओं को परिष्कृत बनाने के लिए राधा-कृष्ण का नाम काफी था। इस नाम-मात्र में संस्कृति के इतने तत्त्व थे, जो उस समस्त वर्णन को तत्कालीन समाज में अश्लील समझे जाने से रोकते थे।[1] किन्तु वहाँ तक आने पर हम देखते हैं कि राधा-कृष्ण के नाम का वह जादू, जो जयदेव की रक्षा करता है, समाप्त हो चुका है। परदा झीना पड़ता जा रहा है। अनुभूतिहीनता बढ़ती जा रही है और वर्णन अधिकाधिक अश्लील होता जा रहा है। इसके बाद नये विचार, नई कल्पनाएँ, नया युग, आता है। राधा-कृष्ण और भगवन्नाम की सर्वपापनाशिनी शक्ति में सन्देह हो जाता है। लगता है कि कृष्ण का नाम लेकर बहुत-सा ढोंग, मिथ्याचार घुस आया है और तब रीति-काल की अश्लीलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगती है। भगवान् के नाम के स्थान पर भगवान् के चरित् की आदर्शवादी स्थापना होती है।

१. मैंने अक्सर मौलवियों को देखा है कि शिष्यों को उर्दू गज़लें पढ़ाते समय जहाँ तसव्वुफ नहीं भी है, वहाँ भी खामखाह 'इश्क हकीकी' की व्याख्या करते हैं। उनके विचार में केवल जीव और परमात्मा का नाम ले लेने से समस्त यौन-आकर्षणों का वर्णन अश्लीलता के चंगुल से छूट जाता है और विद्यार्थियों को बे-खटके पढ़ाया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक काल में, साहित्य के अन्तर्गत हर बात को बहुत-कुछ खोलकर कहने की प्रणाली चली है। बहुत कुछ यह यथार्थवाद की ही विकसित निष्पत्ति है, इसके अतिरिक्त पुराने नैतिक शुद्धतावाद को जीवन के लिए अपर्याप्त पाने पर उपजा विद्रोह भी है। यह एक प्रयास है कि जीवन का अनुभव एकांगी और अगोचर न रह जाय। सामाजिक सन्दर्भ में अश्लीलता का प्रश्न मानसिक-सामाजिक वर्जनाओं (inhibitions) से सम्बद्ध है। प्रारम्भिक स्थितियों में मनुष्य शायद अपने शारीरिक अंगों एवं प्रक्रियाओं की, गोपनीयता के प्रति उतना जागरूक नहीं था। बीच का सभ्य-युग वर्जनाओं का पुञ्ज जान पड़ता है। आज शायद हम फिर वर्जनाओं को तोड़ने की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह आदिम मानव की ओर लौटना नहीं है। क्योंकि वर्जनाओं के प्रति हमारा आधुनिक दृष्टिकोण अज्ञान के कारण नहीं, कुतूहल की समाप्ति के कारण है। निसन्देह इस युग में इन वर्जनाओं को काटकर गिराने में फ्रायड और उसके मनोविश्लेषण का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हम फ्रायड के अन्यान्य परिणामों से सहमत न हों, यह दूसरी बात है। परन्तु उसने यौन-आकर्षण को कलंक और अपराध की श्रेणी से निकालकर मानवोचित और स्वाभाविक स्थान दिया इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

फिर भी स्मरण रखने की बात है कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड ने जिसे प्रतिष्ठा दी, समाज एवं नैतिकता के क्षेत्र में वह क्रान्ति यूरोप में पहले हो चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप में नैतिक सापेक्षतावाद के उत्कर्ष का युग है। अध्यात्म से नैतिक व्यवहार विच्छिन्न हो गया। यह माना जाने लगा कि 'अपने में' कोई क्रिया नैतिक या अनैतिक नहीं होती। यह गहरे उतरकर समझने और देश-काल के सन्दर्भ में परखने की वस्तु है। ऐसे बौद्धिक वातावरण में नैतिक अपराध दण्ड की नहीं बल्कि सामाजिक विश्लेषण की वस्तु बन गया। फ्रायड की क्रान्ति ने उसे सामाजिक विश्लेषण की वस्तु भी न रहने दिया। अब तो वह मात्र रोग बनकर रह गया। ज्वर होने पर हम रोगी को दण्ड नहीं देते, इलाज करते हैं। उसी प्रकार सिद्धान्ततः नैतिक अपराध के लिए पुलिसमैन या जेलर की उतनी आवश्यकता नहीं रह गई, जितनी डाक्टर की। जैविक दृष्टि से देखने पर यौन-आकर्षण हमारे रक्त-मांस-मज्जा में व्याप्त है। प्रश्न उसे वर्जित करने का नहीं है, उसे सही दिशा देने का है। यह गोपनीय, अवांछनीय अथवा अमंगलकारी वस्तु नहीं है। यह एक शक्ति है, स्फुरण है, जीवन-ईप्सा है, जिसे हम स्वीकार करते हैं आदिस्रोत के रूप में।

इन समस्त नई धारणाओं ने यौन-चर्चा की गोपनीयता और नैतिकता दोनों ही के सम्बन्ध में सामयिक विचारों में भारी उलटफेर किया है। श्लील और अश्लील का भेद उतना अनुल्लंघनीय नहीं रह जाता जितना पहले था। वर्जनाएँ टूटती हैं। हम देखते हैं कि मनुष्य के कोई भी अनुभव प्रत्यक्ष मांसल अनुभव भी—जीवन की गहरी अनुभूति के लिए बहिष्कृत या अप्रासंगिक नहीं माने जा सकते। समूचा मनुष्य—अपने सुकृतों और कलंकों समेत—मूल्यवान है। आलोचकों ने प्रायः प्रेमचन्द की आलोचना करते हुए कहा है कि उनमें मानवता को सफेद और सियाह में बाँट देने की प्रवृत्ति है। कहा गया है कि ऐसा करना अस्वाभाविक और अयथार्थ है। इससे एक ही कदम और आगे हम यह भी कह सकते हैं कि ऐसा करना अपरिपक्व और खतरनाक भी है। जब हम यथार्थ के नाम पर मनुष्य को धूप-छाँह का सम्मिश्रण मानकर कला का विषय बनाते हैं तो मानव-अस्तित्व में गुणात्मक अन्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकट करने करने के लिए व्यक्तित्व को पूर्णता प्रेरक लक्ष्य बन जाती है। 'समूचे मनुष्य की उपलब्धि' यह एक जोरदार आकर्षण यथार्थवाद के बाद के लेखकों का रहा है। किसी हद तक ऐसी बहुत-सी स्थितियाँ, जिन्हें सतही तौर पर आधुनिक अश्लीलता कहकर ठुकराया जा सकता, इस बौद्धिक खोज का परिणाम है। बहस इससे नहीं है कि यह खोज हमें सम्पूर्ण सत्य के दर्शन कराती है या नहीं, क्योंकि संसार के साहित्यकार ने 'सम्पूर्ण सत्य' की स्थापना का ढोंग छोड़कर 'कम-से-कम एकांगी' होने का प्रयास उसी दिन अपना लिया जिस दिन वह अपने को स्वयम्भू ऋषि के स्थान पर साधारण मनुष्य मानने लगा। हिन्दी का साहित्यिक और समीक्षात्मक वातावरण ऋषित्व के इस बचपने से मुक्त नहीं हुआ है। कन्तु तेजी से एक क्रान्ति हो रही है इतना तो हमारी आँखों के सामने स्पष्ट है। जब तक नई पीढ़ी पुरानी पड़ेगी, बहुत-कुछ बदल जायगा, यदि इसी बीच देश में धवल केशों की तानाशाही न स्थापित हो गई तो।

अनिवार्यतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सुरुचि के नाम पर वर्जनाओं की सूची बना देना आज न केवल असम्भव है, बल्कि एक प्रकार से कुत्सित (Vulgar) भी है। इससे हम मानव-अनुभव के एक बहुत बड़े खण्ड को अछूता और अपरिष्कृत छोड़ देते हैं। अब यह कहना कि ऐन्द्रिक वासना छिछोरपन का ही द्योतक है उतना निर्विवाद नहीं रह गया है जितना गोस्वामी तुलसीदास के काल में था। आज यह सम्भव है कि शरीर की भूख के आधार पर हम पूरा एक जीवन-दर्शन खड़ा कर डालें। वह ग़लत हो या सही इससे बहस नहीं है; जीवन्त, प्राणवान अवश्य होगा और उसमें मानसिक और सामाजिक सन्तुलन एवं स्वास्थ्य की ऐसी कोटियाँ होंगी जो पुराने आध्यात्मिक दर्शन में छूट जाती हैं। जब तक कोई दृष्टि जीवन्त है अनुभूति को प्रखर करती है और यदि अनुभूति की प्रखरता है, अप्रासंगिक अनुभवों को जोड़कर सार्थकता देने की सम्भावना विद्यमान है तो साहित्यकार हमेशा आस-पास मँडराता हुआ दिखाई पड़ेगा।

मैंने जान-बूझकर साहित्यिक अश्लीलता के अन्तर्गत उन घटिया, छिछली रचनाओं पर विचार नहीं किया जिन्हें अनुभूति नहीं बल्कि 'शारीरिक सिहरन' पर आधारित कहा जा सकता है। ऐसी मलिन और फूहड़ रचनाएँ समाज में हमेशा होती रही हैं और उन्हें पहचानना असम्भव नहीं है। गम्भीर आलोचना के लिए वे कोई प्रश्न इसलिए नहीं उपस्थित करतीं, क्योंकि कभी भी आलोचकों में इस पर मतभेद हुआ ही नहीं कि वे साहित्य की कोटि में नहीं आतीं और उनके लेखक भी कलाकारों की कोटि में नहीं आते। ऐसी कृतियाँ यदि बढ़ते-बढ़ते संक्रामक-रोग का रूप धारण कर लें तो राज्य उन्हें जब्त कर सकता है, अवैध घोषित कर सकता है, साहित्य को इससे रंच-मात्र भी क्षति नहीं पहुँचेगी और न किसी आलोचक को इससे सिर-दर्द होगा।

मैंने केवल एक अन्तर्दृष्टि देने का प्रयास किया है जिससे हम श्लीलता-अश्लीलता के विवेक की ओर बढ़ सकते हैं। सावधानी बरतने की आवश्यकता वहाँ आती है जहाँ नग्न-वर्णन को जीवन की नई और प्रखर अनुभूति के साथ जोड़ने का बौद्धिक प्रयास भी शामिल रहता है। मैं यह नहीं कहता कि यह दृष्टि सिर्फ नग्नता की ही ओर ले जायगी, किन्तु इतना अवश्य है कि यदि कभी नग्नता दिखाई भी पड़ गई तो तपस्या भंग होने की सम्भावना हमें विचलित नहीं करेगी। हाल के लेखकों में, चाहे यशपाल हों, या जैनेन्द्र या अज्ञेय या इलाचन्द्र जोशी, यह कहना कठिन है कि उनके नग्न चित्रण की बाध्यता-मात्र सस्ते और आकर्षक मनोविनोद प्रस्तुत करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकों के पन्द्रह-बीस संस्करण बेच लेने की रही है, हास्यास्पद होगा। यह भी कहना कि उनका उद्देश्य वासना में अरुचि पैदा करना है मूर्खतापूर्ण होगा। वस्तुतः वे जीवन को अपनाने, पूर्णतः अपनाने के सफल या विफल प्रयास हैं। आवश्यकता है कि उनकी सफलता या विफलता का मानदण्ड प्रस्तुत किया जाय, न कि उन्हें 'केवल एकान्त में पढ़ने योग्य' मानकर समाज में 'छिः छिः' करके ऋषित्व की रक्षा की जाय।

डॉ० हरदेव बाहरी

व्रीडाजुगुप्सामंगलव्यंजकत्वात्

अश्लीलता की बात उठाने में भी अश्लील हो जाने की सम्भावना है। इसलिए लेख में की अश्लीलता के लिए क्षमा चाहते हैं। हमने जो २०-२५ उदाहरण अपने कथन की पुष्टि में दिये हैं, उनका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी की अन्य कृतियों अथवा अन्य सभी लेखकों में अश्लीलता नहीं है, या कम है। ऐसे उदाहरण सैकड़ों की संख्या में उपस्थित किये जा सकते हैं। जिन साहित्यकारों की पंक्तियों को यहाँ उद्धृत किया गया है, उनसे हम क्षमा माँगते हैं कि संयोगवश उनकी रचनाओं पर हमारा ध्यान गया। उनके प्रति हमारी बड़ी श्रद्धा है।

कोशों में अश्लील का अर्थ है भद्दा, फूहड़, लज्जाजनक, अशोभन, गन्दा, अभद्र, गँवारू, नग्न। अश्लील वाणी सुनकर अथवा अश्लील कर्म देखकर लोग छिः छिः करने लगते हैं। कहा जाता है कि श्लील-अश्लील का प्रश्न देश, काल, समाज और संस्कृति पर निर्भर है। भारत में लोगों के देखते अपनी पत्नी का चुम्बन अश्लील है, पश्चिमी देशों में यही शिष्टाचार है; इसलिए पश्चिमी साहित्य में प्रेमी-प्रेमिका का चुम्बन-आलिंगन प्रेम का परिचायक होने के नाते आवश्यक रूप से आता है। पश्चिम में कोई लड़की अपने माता-पिता से इसका उल्लेख करने में लजाती नहीं। काल के अन्तर से भी श्लीलता की परिभाषा बदल जाती है। लोक-गीतों से विदित होता है कि किसी समय में लड़कियाँ अपने पिता, मामा और चाचा से कहती थीं कि मुझे वर चाहिए, वह वर काला न हो, छोटा न हो, बहुत लम्बा न हो, बुड्ढा न हो और बच्चा भी न हो कि जिसे गोदी में खिलाना पड़ जाय। आज कोई कन्या ऐसा कहने का साहस करे तो उसे निर्लज्ज और निगुरी कहा जायगा। बड़े-बूढ़े आपस में अनेक बातें कह लेते हैं जिनको युवकों और बच्चों के समाज में कहते उन्हें शर्म आती है। पुरुष कभी-कभी कोई बात कहने में झाँक लेते हैं कि कोई महिला तो नहीं सुन रही। सांस्कृतिक स्तर के भेद से भी श्लीलता का स्तर बदल जाता है। ग्रामीण और नागरिक, सभ्य और असभ्य, शिक्षित और अशिक्षित की वाणी में अन्तर होता है। गाँव के लोग जिन शब्दों को दिन में अनेक बार बोलते नहीं अघाते, सुसंकृत व्यक्ति उन्हें कभी मुँह पर नहीं लाते। व्यक्तिगत संस्कृति से भी श्लील-अश्लील का अन्तर बना रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति में टट्टी, गर्भिणी, गोपनीय इन्द्रिय, बीमारी, मृत्यु आदि शब्दों को हेर-फेर से कहने की चिन्ता सदा रही है। टट्टी का अर्थ केवल आड़ ही तो है, लेकिन घृणित प्रयोग के कारण इसे हटाकर 'बाहर', 'जंगल', 'शौच' आदि शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। गर्भिणी की जगह 'पाँव से भारी है', 'उसे आस है', 'दिन पूरे हैं' इत्यादि कहते हैं। 'मृत्यु हो गई' को बदलकर 'प्राण-पखेरू उड़ गए', 'स्वर्गवास हो गया', 'देह त्याग दिया', 'देहान्त हो गया' आदि कहा जाता है।

ऐसे शब्द प्रत्येक भाषा में मिलते हैं। कुछ बातें ऐसी हैं जो सभी देशों, सभी कालों में अश्लील कही जायँगी। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी बात को अभद्र, अशोभन अथवा लज्जाजनक मानता है।

साहित्य साधारण कथन से अधिक भद्र, शोभन और सुन्दर होना चाहिए। अशिष्ट, असभ्य, गँवार और जंगली लोगों का कोई ललित साहित्य नहीं होता। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ ही साहित्य का विकास होता है। तब तो साहित्य में अश्लीलता अपेक्षाकृत अधिक खटकने वाली चीज होगी। कहने वाले कह सकते हैं कि कला तो सौन्दर्य है, कलाकार अंधड़ और बवण्डर में भी सुन्दर के दर्शन करता है, वह न तो धर्म का ठेकेदार है और न ही आचार-शास्त्री, जो श्लील-अश्लील की चिन्ता करे। परन्तु हमारा मत है कि कलाकार बेशरम, निर्लज्ज और जंगली हब्शी नहीं है। उसकी भावना अधिक सूक्ष्म होती है, उसके लिए अश्लील असुन्दर का ही पर्याय है, अशिव का पर्याय है। जो साहित्य 'स्वान्तः सुखाय' लिखता है, उसे अपनी रचना प्रकाशित कराने की आवश्यकता नहीं है। अकेले में नंगे होने का हक तो उसे है, पर जब वह समाज के सामने आता है तो उसे समाज-सम्मत आवरण डालना ही पड़ेगा, उसे अपनी नग्नता को ढककर रखना होगा। लोक-मंगल की इच्छा करने वाला साहित्यकार लज्जाजनक, घृण्य और अमंगल सृष्टि नहीं कर सकता।

साहित्यकार तो अपने को ऋषि और स्वयम्भू कहता है, वह गन्दी वाणी क्यों बोले? वह घृणाद्योतक अथवा अमंगल-सूचक बातें क्यों करे? वह साहित्य-मन्दिर में अशुचि वस्तु क्यों आने दे? वह अपने को साधक मानता है। चुम्बन-आलिंगन, कुच-कपोल, सम्भोग-रति-क्रिया आदि की बात वह योगी क्यों करे? शारीरिक क्रियाओं और कोकशास्त्रीय चर्चाओं की व्याख्या करने क्यों बैठता है?—

एक ही संग इहाँ रपटे सखि
वे भये ऊपर हौं भई नीचे। (पद्माकर)
मोहि तुम्हैं यह अन्तर पारत
हार उतारि उतै धरि राखौ। (ठाकुर)
लाल जगाई कौन घर कहो सखि तुम रैन
पियरो लगे है रूप सब और उनींदे नैन। (सम्राट् शाह आलम)

कहते हैं कि रीति-काल के कवि दरबारों में राजाओं-महाराजाओं के मनोविनोद के लिए इस प्रकार की कविता कहते थे जिसमें विलासिता, कामुकता, चुलबुलाहट और उकसाहट रहती थी। इसीसे इसमें अश्लीलता अधिक है। इसके अधिक उदाहरण जुटाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह हिन्दी के प्रत्येक पाठक को भली भाँति विदित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीतिकाल के शृंगारी कवि तो बदनाम हैं ही, आज के प्रायः अधिकांश कवि अश्लीलता में उनसे कम नहीं हैं, पर वे व्यञ्जना का आश्रय लेते हैं। वे नग्नता का चित्रण करके, उस पर रहस्यवाद का झीना आवरण डालते हैं। वे वासना को 'एष धर्मः सनातनः' कहकर आनन्द-विभोर होते हैं। वे बातें कहते हैं बिहारी, पद्माकर, ठाकुर और आलम की-सी, लेकिन उन पर आवरण डालते हैं नानक, कबीर और दादू का।

हम उस साहित्य को साहित्य की संज्ञा देने को तैयार नहीं हैं जो असंस्कृत, अमंगल और वासनामय भावना को स्फूर्ति दे। जो चित्रण सौन्दर्य के आधार के प्रति कामातुर करे अथवा उस सौन्दर्य को वासनाजन्य प्रेरणा दे, वह चित्रण अश्लील है।

त्रिधा अश्लीलं, त्रिधेति व्रीडाजुगुप्सामंगलव्यञ्जकत्वात्। (काव्यप्रकाश, ७)

'जिस बात से लज्जा, घृणा और अमंगल की भावना उत्पन्न हो, वह अश्लील है। चाहे कोई जंगली हो, अँग्रेज हो, रोमन हो, भारतीय हो अथवा इस्कीमो, उसके लिए जो बात व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगल की व्यञ्जक हो वह अश्लील है।

अश्लीलता अर्थग्रहण में भी हो सकती है। यदि कोई उक्ति (भले ही कहने वाले की भावना अच्छी रही हो) अर्थ-प्रेषण में अश्लील है, तो वह निश्चय ही निन्द्य है। जब लोग भाव-व्यञ्जक पंक्तियों का अर्थ भी क्या-का-क्या ले लेते हैं, तो सचमुच के वासनोत्तेजक साहित्य की शिष्टता कौन जानेगा! ऐसी पंक्तियों के रचयिता लाख चिढ़ें, लाख बुरा मानें, वे अर्थग्राहक की मनोवृत्ति से सचेत हों। उन्हें लगेगा कि अश्लीलता भी कोई वस्तु है। वह उनकी अपनी इच्छा से नहीं, लोक की इच्छा से घोषित होगी। साहित्यकार को अपनी शब्द-योजना ऐसी रखनी चाहिए जिससे शुद्ध चिन्तन की प्रेरणा हो।

निम्नलिखित पंक्तियों की व्यञ्जना को अश्लील कहा जायगा। लेखकों से हमारा सीधा प्रश्न है—क्या ये पंक्तियाँ वे अपनी माँ, बहन, बेटी के सामने पढ़ने को तैयार हैं? क्या कोई अध्यापक इनकी व्याख्या अपने शिष्य-शिष्याओं के आगे कर सकता है?

१. तुम रति-रत मैं मनसिज सकाम, यह अन्धकार, है चाह प्रिये
(भगवतीचरण वर्मा)

२. **लाज की सीमा प्रिये तुम तोड़ दो**
आज मिल लो मान करना छोड़ दो
यह हृदय की भेंट है स्वीकार हो
आज यौवन का सुमुखि अभिसार हो। (भवानीचरण वर्मा)

३. **आज अधर से अधर मिले हैं**
आज बाँह से बाँह मिली
आज हृदय से हृदय मिले हैं
मन से मन की चाह मिली। (बच्चन)

४. **जागो फिर एक बार**
सहृदय समीर जैसे पोंछो प्रिय नयन-नीर
शयन-शिथिल बाहें भर स्वप्निल आवेश में
आतुर उर-वसन मुक्त कर दो, सब सुप्ति सुखोन्माद हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छूट-छूट अलस फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल ऋजु-कुटिल प्रसारगामी केश-गुच्छ ।

(निराला)

५. आज सोहाग हरूँ मैं किसका, लूटूँ किसका यौवन ?
किस परदेशी को बन्दी कर सफल करूँ यह वेदन ?

(अंचल)

६. आज न सोने दूँगी बालम !
आज विश्व से छीन तुम्हें प्रिय निज वक्षस्थल में भर लूँगी ।
मृदुल गोल गोरी बाहों में कम्पित अंगों में कस लूँगी।

(नरेन्द्र)

पन्त की 'ग्राम्या' में बच्चन की 'मिलन-यामनी' और 'निशा-निमन्त्रण' में, अंचल की 'मधूलिका' और 'अपराजिता' में, नरेन्द्र की 'प्रभात-फेरी' में, आरसीप्रसादसिंह की 'कितना अच्छा होता वह दिन' तथा 'आओ मेरे आगे बैठो' शीर्षक कविताओं में, अज्ञेय की 'आह्वान', 'सावन-मेघ', 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' आदि कविताओं में प्रेम के जुगुप्साजनक चित्र मिलते हैं।

'नई कविता' में भी चुम्बन-आलिंगन के भेद गिनाये जा रहे हैं :

एक चुम्बन वह
कि जिसमें उष्ण श्वासों की उमस नस-नस कसे उन्माद
अधर-मधु के साथ मिश्रित दंशनों का स्वाद

(जगदीश गुप्त)

निम्नलिखित वाणी किस पन्थ के साधक की कही जायगी ?

तब तक समझूँ कैसे प्यार,
अधरों से जब तक न कराये
प्यारी उस मधुरस का पान ?
... ... आदि आदि ।

जिस कृति में इस प्रकार की नग्नता हो (चाहे वह रोमांस के नाम पर हो, चाहे यथार्थ और जीवन की व्याख्या के बहाने), उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता ।

विश्रान्तिर्यस्याः सम्भोगे सा कला न कला मता ।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला।।

शारीरिक आनन्द की प्राप्ति की कामना काम है, पशु-वृत्ति है; आत्मिक आनन्द के उद्देश्य की पूर्ति से प्रेम होता है। नारी के सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाले कवि आज बहुत पैदा हो गए हैं। इन्हें नारी में कोई आन्तरिक सौन्दर्य ही दृष्टिगोचर नहीं होता ! ये लोग नख-शिख-वर्णन करने में किसी देव या दास से कम नहीं हैं—अन्तर यही है कि पुराने लोग स्पष्टवादी थे, आज के लोग व्यंजकता से काम लेते हैं। नायिकाओं के भेद तो इस युग में इतने वर्णित हुए हैं कि एक थीसिस लिखा जा सकता है।

गद्य में भी अश्लीलता भरपूर है। ऐसा समझा जाता है कि उपन्यास तो है ही इसके साहित्यिक प्रदर्शन के लिए। इधर प्यारेलाल आवारा, कुशवाहा कान्त, गोविन्दसिंह आदि ने तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमाल कर दिया है। आज से २०-२५ वर्ष पूर्व उपन्यास पढ़ना लुच्चों का काम समझा जाता था। बड़े-बूढ़े ध्यान रखते थे कि लड़के उपन्यास तो नहीं पढ़ते। इसलिए हमने बहुत उपन्यास तो नहीं पढ़े, लेकिन इधर सुना कि प्रेमचन्द के बाद साहित्यिक कोटि के सुन्दर उपन्यास लिखे गए हैं तो जिज्ञासा बढ़ी। इस पर भी पुराने संस्कारों के कारण हिम्मत नहीं हुई—बहुत-कुछ नहीं पढ़ा। भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि मित्रों के कुछ उपन्यास पढ़े। धारणा वही है जो मेरे बाप-दादा की थी। बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है। एक ही उदाहरण—अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में नायिक-नायिका के प्रेम का विस्तृत वर्णन—इसका साक्षी है और लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'मुक्ति का रहस्य' नाटक में भी डाक्टर के साथ आशादेवी का ऐसा ही वर्णन है।

कहानियों में कमल जोशी की हाल की एक कहानी 'चार के चार', जो इस नाम के संग्रह में प्रकाशित हुई है, उदाहरण के रूप ली जा सकती है :

"लंगड़े ने कपासी से कहा, 'तुम नहीं चलोगी ?'

'हूँ' कपासी के स्वर में शिथिलता थी। फिर वे चुपचाप बैठे रहे।........

आधी रात के बाद किसी के धक्के से लंगड़े की नींद खुल गई। कपासी बहुत धीरे से बोली—'चुप, ज़रा भी आवाज़ न करना, नहीं तो ये लोग जग जायँगे।'

...मनुष्य के शरीर की गन्दी बू, आकाश में चाँद, लेक के उस ओर अन्धकार, (रेलवे) सिगनल की लाल रोशनी।

...चोर की तरह चुपचाप आकर वे सो जाते हैं। आकाश के चाँद और पृथ्वी के गूँगे घोड़े के अलावा उनके निशीथ अभियान का कोई साक्षी नहीं रहता।"

ऐसे दृश्य-चित्रण से समाज का क्या मंगल होगा, हम नहीं जानते। हमें तो 'निशा-निमन्त्रण' के इन वर्णनों में भी अमंगल की सूचना मिलती है :

घाट से कुछ फासले पर
सित कफन की ओढ़ चादर
एक मुर्दा जल रहा था बैठकर अपनी चिता पर।

कितना वीभत्स दृश्य है ? गिरिधर गोपाल को अमंगल में ही मजा आता है। उसका शव भी बोलता है :

लौटे मुझे सब छोड़कर
देखा नहीं मुख मोड़कर
कुछ दूर होती जा रही
हर साँस बन्धन तोड़कर,
मैंने नहीं काटी निशा अब तक किसी पीपल तले
मुझसे न एकाकी चला जाता मरण की राह में।

और

किसकी अर्थी, कैसी चिता, अरे कैसे अंगारे
टूट रहे मेरी पलकों पर सूरज-चाँद-सितारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोता कौन ? अरे बिल्ली, क्या सचमुच बिल्ली रोई ?
आज अचानक चील लगी क्यों इस घर पर मँडराने ?

(अग्निमा)

किसी एक पाठक के मन में भी इसे पढ़कर यदि अमंगल की भावना जग जाय, तो यह साहित्य अश्लील हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

अनुशीलन

डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव

रामानन्द-सम्प्रदाय में योग

कबीरदास तथा अन्य सन्त-कवियों के साहित्य में नाथपंथी प्रभावों को देखकर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि स्वयं रामानन्द स्वामी ने ही योग और भक्ति का समन्वय अपने मत में किया था और कबीरदास आदि शिष्यों ने अपने गुरु से इसी समन्वित योग की दीक्षा पाई थी। रामानन्द के नाम पर योग-सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ भी प्रचलित हो गए हैं और लोगों ने प्रायः उन्हींको आधार मानकर अपना उपर्युक्त मत निश्चित किया है। यही नहीं रामानन्द-सम्प्रदाय की एक प्रमुख शाखा का भी नाम 'तपसी शाखा' है, और राजस्थान, पंजाब, सौराष्ट्र आदि में उसके बड़े-बड़े केन्द्र आज तक वर्तमान हैं। सम्प्रदाय के 'भक्तमाल' आदि प्रामाणिक एवं प्राचीन ग्रन्थों से यह भी ज्ञात होता है कि कृष्णदास पयोहारी जी ने रामानन्द-सम्प्रदाय की पहली गद्दी राजस्थान में योगियों को अपने चमत्कारों द्वारा पराजित करके ही स्थापित की थी। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के अनुसार पयोहारी जी ने आग की धूनी को अपनी अंगोछी में उठा लिया था, योगियों के महन्त का गधा बना दिया था और उनके प्रभाव से योगियों की मुद्राएँ अपने-आप निकलकर पयोहारी जी के समक्ष एकत्र हो गई थीं। प्रश्न यह उठता है कि पयोहारी जी को यह योग मिला कहाँ से? क्या अनन्तानन्द ने भी योग-साधना की थी और वही पयोहारी जी को गुरु-दीक्षा के रूप में प्रदान की थी अथवा पयोहारी जी ने स्वयं ही नाथपन्थियों के सम्पर्क में आकर उन्हें परास्त करने के लिए योग में भी सिद्धि प्राप्त कर ली थी? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर मिलने पर ही रामानन्द और कबीर के वास्तविक सम्बन्ध की परीक्षा की जा सकती है।

डॉ० बड़थ्वाल ने 'सिद्धान्तपंचमाभा' ग्रन्थ के आधार पर सिद्ध किया है कि रामानन्द जी के गुरु स्वामी राघवानन्द जी ने भक्ति और योग दोनों का ही समन्वय अपने मत में किया था और एक किंवदन्ती के अनुसार उन्होंने रामानन्द को योगस्थ करके ही उनकी जीवन-रक्षा की थी, अतः यह यह सम्भव है कि स्वामी रामानन्द जी ने अपने गुरु से ही वैष्णवी दीक्षा प्राप्त करने के साथ ही योग की भी दीक्षा पाई हो। किन्तु, जहाँ तक रामानन्द जी की प्रामाणिक रचनाओं—'श्री वैष्णव मताब्जभास्कर' तथा 'श्रीरामार्चन पद्धतिः'—का प्रश्न है, वे विशुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैष्णवाचार्य सिद्ध होते हैं। सम्प्रदाय के अधिकांश विद्वानों ने भी उन्हें वैष्णव भक्त एवं आचार्य माना है और 'अगस्त्यसंहिता', 'भक्तमाल' आदि प्राचीन एवं प्रामाणिक रचनाओं के आधार पर उनका विशुद्ध वैष्णव होना ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार अनन्तानन्द जी भी वैष्णव भक्ति-मार्ग के ही पथिक थे। उनका 'हरिभक्ति सिन्धुवेला' ग्रन्थ विशुद्ध वैष्णवी भक्ति से ओत-प्रोत है। अतः यह बहुत सम्भव है कि अनन्तानन्द जी से पयोहारी जी को योग न मिला होगा और अधिक सत्य यही प्रतीत होता है कि स्वयं पयोहारी जी ने ही रामानन्द-सम्प्रदाय में योग का समावेश किया है।

नाभादास जी के अनुसार कृष्णदास जी राजपूताने के दातिमा (दाधीच्य) ब्राह्मण थे। राजपूताना में विक्रम की १५वीं-१६वीं शताब्दी तक कनफटे योगियों का पर्याप्त प्रभाव था। अतः वहाँ की जनता का उनसे प्रभावित हो जाना असम्भव नहीं। पयोहारी जी पर भी बाल्यावस्था में इन योगियों की साधनाओं के स्पष्ट संस्कार पड़े ही होंगे। अनन्तानन्द से उन्होंने वैष्णव-धर्म में दीक्षा प्राप्त की थी अवश्य, पर संस्कारगत योग से वे मुक्त न हो सके होंगे। नाथपन्थियों को हटाकर जब सम्प्रदाय की गद्दी स्थापित करने का प्रश्न उठा होगा तो उनका यह संस्कार और भी प्रबल हो उठा होगा। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की एक बात और है। पयोहारी जी ने अपने दो प्रमुख शिष्यों—कील्ह और अग्र में कील्ह को ही गलता की गद्दी का अधिकारी बनाया, अग्र को नहीं। कील्ह की प्रवृत्ति योग की ओर अधिक थी। नाभाजी के अनुसार उन्होंने भीष्म पितामह की भाँति ही मृत्यु को स्ववश में कर लिया था सांख्य और योग दोनों ही शास्त्रों के सिद्धान्तों का उन्हें सुदृढ़ अनुभव हो गया था। प्रियादास जी ने इनके अनेक यौगिक चमत्कारों का वर्णन किया है। स्पष्ट है कि पयोहारी जी ने कील्ह की इन्हीं सिद्धियों से प्रभावित होकर अपनी गद्दी का अधिकारी उन्हें बनाया होगा। नाथपन्थियों की दृष्टि गलता की ओर लगी ही रही होगी, वे उसे हस्तगत भी कर लेना चाहते रहे होंगे। कील्ह ने वहाँ रहकर पयोहारी जी के उद्देश्य को पूरा भी किया। स्वयं योग-निष्णात तो वे थे ही, अपने शिष्यों को भी उन्होंने योग का भरपूर ज्ञान कराया। नरवर गढ़ के कछवाहा राजा आसकरन उनके शिष्य थे। मथुरा के राजा मानसिंह के यहाँ उन्हें सम्मानपूर्वक बुलाया ही जाता था। इससे स्पष्ट है कि राजस्थान के राजन्य वर्ग पर इनका बहुत ही प्रखर प्रभाव था, नाथपन्थी योगी इनके विरोध में सिर नहीं उठा सकते थे।

कील्ह के उपरान्त उनके शिष्य द्वारकादास ने योग की परम्परा को और भी आगे बढ़ाया। ये भी अष्टांग योग में पूर्ण निष्णात थे। कूकस ग्राम में बहुत समय तक ये नदी के जल में डूबकर ध्यानावस्थित रहे। घर-द्वार से इन्हें पूर्ण विराग था। कील्ह के ये बड़े कृपा-पात्र थे, अतः उन्हींकी कृपा से इन्होंने माया का भी विनाश कर दिया। नाभा जी ने कहा है, **'अष्टांग योग तन त्यागियै द्वारकादास जानै दुनी।'**

इस प्रकार पयोहारी जी की शिष्य-परम्परा में भक्ति के साथ-साथ योगाभ्यास भी होने लगा। धीरे-धीरे रामानन्दी वैष्णवों की एक शाखा में योग-साधना का पूरा समावेश हो गया। यह शाखा 'तपसी-शाखा' के नाम से विख्यात हुई और इस शाखा के साधु, तपस्वी महात्माओं के नाम से पुकारे जाने लगे। आज भी राजस्थान, पंजाब आदि में तपस्वी महात्माओं का बाहुल्य है। अखाड़ों के नागा प्रायः इसी शाखा के अन्तर्गत आते हैं। इन्हें कभी-कभी 'अवधूत'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कहा जाता है और इस शाखा को 'अवधूत-मार्गी शाखा'।

तपसी-शाखा के मुख्य ग्रंथ हैं—'सिद्धान्तपटल', 'रामरक्षास्तोत्र' और 'योग चिन्तामणि'। ये तीनों ही ग्रन्थ रामानन्द जी द्वारा विरचित कहे जाते हैं, किन्तु अनेक पुष्कल प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि ये स्वामीजी-कृत नहीं हैं। फिर भी तपसी-शाखा के मूल-सिद्धान्त इनमें निहित हैं, अतः इनके विवेच्य विषय पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

'सिद्धान्त पटल' अवधूत-मार्ग का एक प्रमुख ग्रन्थ है और इसमें अवधूत-मार्ग की विचार-धारा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसमें एक ओर उन सभी सामग्रियों का वर्णन किया गया है जो वस्त्राभूषणादि के रूप में नाथपन्थी योगियों द्वारा धारण की जाती थीं—जैसे सेली, सिगी, कुब्जी, कड़ा आदि और दूसरी ओर नाथपन्थी पारिभाषिक शब्दावली—हन्सा, शब्द, अगम, सोहम्, पिंड, अजपा, सतगुरु, निर्गुण, निरंजन, विभूति, अलख, गगन, अष्टकमल, त्रिवेणी-सेज, चन्द्र, सूर्य,-नवनाथ चौरासी सिद्ध आदि का भी समावेश किया गया है। इसके साथ ही माला, सुमिरनी, तिलक, गायत्री, हनुमान की पूजा, सालिग्राम, यज्ञोपवीत, रामलक्ष्मण, जानकी माता, ब्रह्मा विष्णु महेश्वरादि देवता, प्रसादी, कंठी, शंख, सम्प्रदाय मन्त्र आदि का भी इसमें पर्याप्त प्रयोग मिलता है। इस ग्रन्थ का आदेश है कि 'वैष्णवों को गुरुबीज मन्त्र का जप करना चाहिए, इससे मन का बन्धन कटता है और भक्त को वैकुण्ठ मिलता है।' ग्रन्थ के अंत में ठाकुर जी के टहल-माहात्म्य का भी वर्णन है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्वामी रामानन्द की कृति न होने पर भी इस ग्रन्थ का एक अद्भुत एवं अद्वितीय महत्त्व है। इसमें निश्चित रूप से नाथपन्थी योग और वैष्णव-भक्ति का समन्वय स्थापित किया गया है। इस प्रयास की अवहेलना नहीं की जा सकती।

'योगचिन्तामणि' में भी काया, कटक, नाद-बिन्दु, सतगुर, अष्टदलकमल, हंसा, सरोवर, शब्द, सुरत, सबल आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह योग-प्रणाली पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ है, किन्तु प्रचार की दृष्टि से इसका कुछ भी महत्त्व नहीं है।

'श्री रामरक्षास्तोत्र' में भी सन्ध्या, निरंजन, नाद, सुषुम्ना, पंचमुद्रा, खेचरी, भूचरी, आगोचरी, उन्मनी, चाचरी, पिंड (पिन्ड) त्रिकुटी, अलख, अष्टदलकमल, विन्दु आदि के साथ ही लक्ष्मण, जानकी, हनुमान और राम का भी बीच-बीच में नाम आ गया है।

उपर्युक्त तीनों ही ग्रन्थों में 'सिद्धान्त पटल' अवधूत-मार्ग का सर्वप्रिय ग्रन्थ है इसका पर्याप्त प्रचार भी है। अतः तपसी-शाखा के विचारों का इसमें पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है। योग और प्रेम का बहुत ही सुन्दर समन्वय यहाँ मिलता है। रामानन्द का सिद्धान्त विशुद्ध प्रेम पर बल देता था और इस प्रेम को लेकर संसार-क्षेत्र में आने वाले यात्रियों ने वातावरण के अनुकूल उसे ढाल दिया। रामानन्द की प्रेम-भावना और नाथ-पन्थ के योग को समेटकर आगे बढ़ने वाली 'तपसी-शाखा' का प्रयास बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। बहुत सम्भव है ऐसा ही उदार दृष्टिकोण लेकर कबीरदास ने ही तपसी-शाखा के महात्माओं का मार्ग-प्रदर्शन किया हो। स्वयं रामानन्द में ये प्रवृत्तियाँ समवेत हो गई हों, इसके पुष्कल प्रमाण नहीं मिलते। जो-कुछ भी सामग्री अब तक प्रामाणिक सिद्ध हुई है उससे स्पष्ट ही वे विशिष्टाद्वैत मतानुयायी वैष्णव भक्त प्रतीत होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

बच्चन सिंह

नया साहित्य : नये प्रश्न

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विभिन्न रूपों को समझने-समझाने का जितना तलस्पर्शी प्रयास आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने किया है उतना अन्य कोई व्यक्ति अब तक अकेले नहीं कर सका है। आधुनिक साहित्य के अतिरिक्त सूर और तुलसी-साहित्य के अन्तरंग का भी उनका गहन अध्ययन है। सूर-साहित्य के अन्तरंग पक्ष का गहन अध्ययन उनके 'महाकवि सूरदास' के कतिपय अन्तिम अध्यायों में मिलेगा।[1] नये-पुराने साहित्य के सम्बन्ध में उन्होंने जो-कुछ लिखा है उसमें दृष्टिकोण की नवीनता, अन्तरंग का गहन विश्लेषण और पकड़ की अद्भुत क्षमता दिखाई पड़ती है। यह सच है कि मुख्यतः नये साहित्य और उसकी समस्याओं के चिन्तन और मनन ने उनके दृष्टिकोण को नूतन अलोचनात्मक चेतना दी है, यह भी सच है कि यूरोपीय साहित्य के गम्भीर अध्ययन ने उनकी चिन्ता को नवीन उन्मेष और स्फूर्ति दी है; लेकिन इससे उनकी भारतीय समीक्षा-दृष्टि को सम्पन्नता, परिष्कृति और संतुलन प्राप्त हुआ है। इस नवीन दृष्टिकोण के फलस्वरूप ही वे भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा रस-निष्पत्ति का पुनराख्यान कर सके हैं।

वाजपेयी जी की नवीनतम समीक्षा-पुस्तक 'नया सहित्य : नये प्रश्न' में दो दार्शनिक निबन्धों का भी संग्रह है फिर भी समग्रतः इसमें नये साहित्य से सम्बद्ध नये प्रश्नों के विश्लेषण तथा विविध समस्याओं के सन्तुलनात्मक हल प्रस्तुत करने के प्रयास किये गए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक पाँच भागों में विभक्त है—'निकष', 'विवेचन और निरूपण', 'वार्ता और वक्तव्य', 'दो दार्शनिक निबन्ध' और 'परिशिष्ट'। इस पुस्तक में समय-समय पर लिखे गए निबन्धों, वार्ताओं आदि को संग्रहीत किया गया है। इसलिए स्वाभाविक है कि कुछ बातों को पुनः-पुनः ले आना पड़ा है। अतः इसकी प्रमुख विवेचनाओं और मान्यताओं को समीक्षा की परिधि में ले आने के लिए मुझे अलग क्रम बनाना पड़ रहा है। 'निकष' वाजपेयी जी की गम्भीर और रोचक आत्म-समीक्षा है। शेष खण्डों में नवीन यथार्थवाद की पृष्ठभूमि में आधुनिक-काव्य, नये उपन्यास, समस्या-नाटक, नई समीक्षा तथा पश्चिमी और भारतीय समीक्षा-शास्त्र को कई कोणों से देखा गया है।

---

1. वस्तुतः ये ही अंश उनके द्वारा लिखे भी गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'निकष' में वाजपेयी जी ने अपने कृतित्व की उपलब्धियों और अभावों का विवेचन किया है और नये साहित्य की दिशा निर्देशित करके उसके लिए एक 'निकष' भी तैयार किया है। समीक्षा के क्षेत्र में वाजपेयी जी का आगमन प्रसाद, निराला और पन्त के विवेचक रूप में हुआ था। ये ही इनकी समीक्षा के केन्द्र-विन्दु थे। वे 'नये जीवन-दर्शन, नई भाव-धारा, नूतन कल्पना छवियों और अभिनव भाषा-रूपों को देखकर उनकी ओर आकृष्ट हुए। उनके अभाव 'साकेत', 'प्रिय प्रवास' और रत्नाकर की काव्य-कृतियाँ इन्हें अनाकर्षक लगीं। इसके फल-स्वरूप, जैसा वाजपेयी जी का कहना है, उनके विवेचन में गहरी एकांगिता आ गई। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में प्रेमचन्द-सम्बन्धी जो निबन्ध संग्रहीत हैं, उसमें उन्होंने अपनी रुचि की प्रमुखता को स्वीकार किया है। अपनी इस एकांगिता को उन्होंने अपनी अन्य समीक्षा-पुस्तकों में सन्तुलित करने का प्रयास किया है।

यद्यपि वाजपेयी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि वस्तुमुखी दृष्टि के अभाव में उनके साहित्यिक मूल्यांकन में कोई बड़ी कमी आ गई है, यह कहना अतिरंजना होगी; फिर भी वे अपनी एकांगिता के प्रति जारूगक जरूर हैं। लेकिन जिसे वाजपेयी जी ने एकांगिता कहा है वह अपने-आपमें पूर्ण है। 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के छायावादी कवियों से सम्बद्ध निबन्धों के अतिरिक्त महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'रत्नाकर', मैथिलीशरण गुप्त, 'साकेत' और 'रामचन्द्र शुक्ल' पर लिखे गए निबन्ध उनकी तलस्पर्शिनी दृष्टि, अन्तर्भेदिनी प्रतिभा और अचूक पकड़ के द्योतक हैं। इन सभी कवि-लेखकों पर पहली बार नये ढंग से विचार किया गया है जो आज भी अपनी ताजगी और पैनेपन के कारण विचारोत्तेजक बने हुए हैं। समीक्षा के क्षेत्र में भी कुछ हद तक वाजपेयी जी का भी अनुकरण हुआ—विशेष रूप से आचार्य राम-चन्द्र शुक्ल को लेकर। कुछ तरुण आलोचक वाजपेयी जी की बात को ठीक ढंग से दुहरा भी न सके। इन्हींके सम्बन्ध में टी० एस० इलियट ने कहा है कि 'The majority of critics can be expected only to parrot the opinions of the last master of criticism'.

उनकी दूसरी पुस्तक 'जयशंकर प्रसाद' में प्रसाद के काव्य (कामायनी), नाटक, उपन्यास (कंकाल) पर भिन्न-भिन्न समयों पर लिखे गए निबन्ध संग्रहीत हैं। प्रसाद के काव्य-नाटकों पर लिखी गई अनेक पुस्तकों के बावजूद भी प्रसाद को समझने के लिए आज भी वह पुस्तक अपना विशेष महत्त्व रखती है। उनकी तीसरी पुस्तक 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में प्रेमचन्द पर संगृहीत निबन्ध की एकांगिता दूर करने की दृष्टि से लिखी गई है, पर इसमें एक दूसरी एकांगिता आ गई है जिससे प्रेमचन्द की त्रुटियों का पक्ष काफी निर्बल पड़ गया है। यह पुस्तक उनके गौरव के बहुत अनूकूल नहीं हो सकी है। उनकी चौथी पुस्तक 'आधुनिक-साहित्य' '५० में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में 'प्रयोगवाद' सम्बन्धी लेखक 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के लेखों की तेजस्विता को पुनः ताजा कर देता है। इसके सम्बन्ध में उन्होंने 'निकष' में स्वयं लिखा है : ''प्रयोगवाद के लिए मेरी चौथी पुस्तक में एक भी संवर्धना का शब्द नहीं है, बल्कि ऐसी तीव्र समीक्षा है जिससे बहुत से प्रयोग वादी तिलमिला उठे हैं। कुछ ने सफ़ाई देने की कोशिश की है तथा एक महाशय ने उस निबन्ध को मेरा बचकाना प्रयास माना है। 'तार सप्तकं' के सप्त महारथियों के लिए मेरी उस निबन्ध की दुर्द्धरता सचमुच अभिमन्यु का बचकाना प्रयास ही है। खैरियत यह हुई कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहिंसात्मक युद्ध किसी के सिर नहीं बीता, पर हृदय परिवर्तन बहुतों का हुआ है। बहुत प्रयोगवादी नये सिरे से समझदार हो गए हैं और कई तो खेमा छोड़कर बाहर चले गए हैं। जिस तरह शुक्ल जी सम्बन्धी वाजपेयी जी के लेखों ने समीक्षा-सम्बन्धी अनेक नवीन महत्त्व तत्त्वों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया उसी प्रकार इस लेख द्वारा भी प्रयोगवाद-सम्ब अनेक संकीर्णताओं का उद्घाटन हुआ। इस पुस्तक के कुछ अन्य निबन्धों की चर्चा उ नवीनतम पुस्तक की चर्चा के साथ की जायगी, क्योंकि क्रम-स्थापन की दृष्टि से इन्हें पुस्तकों में रख दिया गया है।

'नया साहित्य : नये प्रश्न' में साधारणतः पाठकों को जिज्ञासा हो सकती है कि ये प्रश्न क्या हैं और वे क्यों उत्पन्न हुए हैं। इन जिज्ञासाओं का समाधान 'विवेचन और निरू खण्ड के पहले निबन्ध—नवीन यथार्थवाद—में मिलेगा। इस निबन्ध को अन्य निबन्धों पृष्ठभूमि समझना चाहिए। यथार्थवाद के नाम पर दो विचार-पद्धतियाँ प्रचलित हैं—मा वादी विचार-पद्धति और अन्तश्चेतनावादी विचार-पद्धति। मार्क्सवादी विचार-पद्धति या सम वादी यथार्थवाद 'वर्ग-संघर्ष की भूमि पर काव्य की ऐतिहासिक प्रगति का आकलन करता है अन्तश्चेतनावादी साहित्य को मन की दमित वृत्तियों के प्रकाशन का माध्यम मानते हैं, सा की सामाजिक उपयोगिता पर उनका विश्वास नहीं है। वाजपेयी जी ने इन दोनों मतों परस्पर-विरोधी और अतिवादी कहा है। लेकिन वे इनका सर्वथा तिरस्कार नहीं करते, धारणाओं में वे इनकी सहायता अवश्य लेना चाहते हैं। उनका निश्चित मत है कि सा का लक्ष्य और स्वरूप आज की इन यथार्थवादी सीमाओं को पार करने पर ही दिखाई दे आज जब हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन हो चुकी है तो उसे वर्गों, फिर्कों या सम्प्रदा विभक्त कर परखना अत्यधिक आत्मघाती नीति है। अपने इसी निबन्ध में वाजपेयी साहित्यकारों का ध्यान नवीन राष्ट्रीय जागृति की ओर आकृष्ट करके स्वस्थ और जीवन्त सा के निर्माण का समर्थन किया है।

'आधुनिक काव्य का अन्तरंग' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने बतलाया है कि काव्य जीवन की समस्या के नाम पर काव्य 'यथार्थवाद' द्वारा अनुशासित हो रहा है। इनके अति जीवन सम्बन्धी एक तीसरा दृष्टिकोण है—प्रयोगवाद, जिसे निहिलिस्ट दृष्टिकोण कहा गया लेकिन आज काव्य में मार्क्सवाद का शोर और अन्तश्चेतनावाद का आतंक बहुत-कुछ शा गया है। प्रयोगवाद, जिसे वाजपेयी जी ने निहलिस्ट दृष्टिकोण कहा है, अब नकारात्मक रह गया है। 'अज्ञेय' के 'बावरा अहेरी' की कुछ कविताओं को इसके प्रमाण-स्वरूप उ किया जा सकता है। हाँ, नकेनवादी आज भी प्रयोग या स्थापत्य को साध्य मानक की समस्त साहित्यिक मान्यता—साधारणीकरण, प्रेषणीयता, संवेगात्मक अनुकूलत्व (Emotional Response)—को अस्वीकार करके सच्चे निहलिस्ट होने के दावे पर अड़े हुए इस सिलसिले में वाजपेयी जी ने एशिया के पुनर्जागरण, अणु-बम की छाया में शान्ति वाले मानव-सहयोग आदि के क्रियाशील तत्त्वों को पहचानने के लिए कलाकारों का आह्वान है, जो सचमुच में काव्य के अन्तरंग को पुष्ट और प्रशस्त करने में काफी दूर तक योग देगा

इस संग्रह में उपन्यास-सम्बन्धी चार निबन्ध संग्रहीत हैं—'नये उपन्यास', 'व्यक्ति उपन्यास', 'नवीन कथा-साहित्य—विचार-पक्ष' और 'उपन्यासकार जैनेन्द्र'। पहले निब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी-उपन्यास के उपलब्धि-अभाव को उसके ऐतिहासिक विवेचना-क्रम में उपस्थित किया गया है। प्रेमचन्द के बाद वाजपेयी जी ने उपन्यास-लेखकों की जो त्रयी मानी है उसमें—भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्र सम्मिलित हैं। इनके पश्चात् एक दूसरी त्रयी का उल्लेख किया गया है जिसमें यशपाल, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आते हैं। प्रथम त्रयी की उपलब्धि है उपन्यासों को विवरणात्मक पद्धति से हटाकर उन्हें मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करना, लेकिन मनोवैज्ञानिक ऊहापोह में संलग्न हो जाने से उनका सामाजिक पक्ष अत्यन्त अशक्त और कहीं-कहीं रुग्ण हो गया है। दूसरी त्रयी नये यथार्थवाद के किसी-न-किसी रूप से बुरी तरह आक्रान्त है। यशपाल मार्क्सवाद की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाते तो इलाचन्द्र अन्तश्चेतनावाद का, अज्ञेय इन दोनों के सन्धि-स्थल पर खड़े हैं। कदाचित् इसीलिए अज्ञेय का चरित्रांकन अधिक सूक्ष्म और गहरा है। टेकनीक-सम्बन्धी अनेक उपलब्धियों के बावजूद प्रेमचन्द की मानवीय संवेदना की ओर हमारे उपन्यासकार अभी अच्छी तरह उन्मुख नहीं हो पाए हैं। यह उनका सबसे बड़ा अभाव है। उपन्यास कार जैनेन्द्र को उनकी समग्रता में इस तलस्पर्शिनी दृष्टि से देखा गया है कि उनको केन्द्रीय स्थापना, परिदृश्य, दृष्टिकोण, टेकनीक आदि के अनेक पहलुओं का मार्मिक उद्घाटन हुआ है। इसमें जैनेन्द्र का सन्तुलित विवेचन हुआ है, जो वाजपेयी जी के गहरे चिन्तन का द्योतक है।

नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र सम्बन्धी निबन्ध में मुख्य रूप से समस्या-नाटकों पर विचार किया गया है, जो कई अर्थों में नवीन और विचारोत्तेजक है। समस्या-नाटक मूलतः रूढ़ि-विध्वंसक, बौद्धिक और विचारों को उद्बुद्ध करने वाले हैं। समस्या-नाटकों के आविर्भावक इब्सन के विचार-पक्ष का उल्लेख करते हुए शॉ ने लिखा है कि उसके विचार हमारे ऊपर निर्दय आघात करते हैं और आदर्शों के आतंकों से बच निकलने की उत्तेजनात्मक प्रेरणा देते हैं। उनसे भावी जीवन की वास्तविकताओं के प्रति हमें दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं।[1] मिश्र जी की समस्याओं का बहिरंग तर्कपूर्ण है, लेकिन समाधान भावात्मक और आदर्शवादी। उनकी समस्याएँ न अद्यतन समस्याओं का स्पर्श करती हैं और न हो हमारी रूढ़ियों पर निर्दय प्रहार। वाजपेयी जी ने उन्हें मूलतः पुनरुत्थानवादी और उग्र हिन्दुत्ववादी कहा है जो नाटकों की विषय-वस्तु और परिसमाप्ति को देखते हुए बहुत-कुछ संगत प्रतीत होता है।

इस पुस्तक में समीक्षा-सम्बन्धी चार निबन्ध हैं—'हिन्दी समीक्षा का विकास', 'द्विवेदी-युग को समीक्षा-देन', 'नव्यतम समीक्षा-शैलियाँ', 'समीक्षा सम्बन्धी मेरी मान्यता'। प्रथम तीन निबन्धों में हिन्दी-समीक्षा के क्रमिक-विकास तथा उसकी प्रमुख भूमियों का उल्लेख करते हुए अपनी साहित्यिक परम्परा को आत्मसात् करने पर बल दिया गया है। इनमें से प्रथम और तृतीय निबन्धों में मार्क्सवादी तथा मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की अतियों पर जमकर प्रहार किया गया है। वैसे इनकी आंशिक आवश्यकता स्वीकार की गई है। साहित्यिक मूल्यों से केन्द्र-च्युत होकर मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र के जंगलों में भटकने वाले अलोचकों से इलियट ने भी निवेदन किया है—And further more there is a philosophic border line, which you must not transgress too far or too oft en, if you wish to preserve your standing as a critic, and are not prepared to persent your-

1. Raymond William, Drama : From Ibsen To Eliot of pp 42.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

self as a philosopher metaphysician, socialogist or psychologist instead" 'स॰ सम्बन्धी मेरी मान्यता में' वाजपेयी जी ने बतलाया है कि यूरोप की सामाजिक स्थिति भारत की सामाजिक स्थिति में पर्याप्त अन्तर है। पश्चिम कई अर्थों में पूर्व से आगे है, साहित्य स्वस्थ होने के साथ प्रतिगामी भी है। हमारा समाज और साहित्य स्पष्टतः विसोन्मुख स्थिति में है। अतः हमें समीक्षा-विधियों को पश्चिम से उधार नहीं लेना चाहिए। उनकी दृष्टि में भारतीय समीक्षा-पद्धति की दीर्घ और सुदृढ़ परम्परा को नजर-अन्दाज़ करना कभी भी श्लाघ्य नहीं है। इसके साथ ही वे पश्चिम के अनेक नवीन विचारों को सन्निविष्ट कर अपनी समीक्षा-पद्धति को पुष्ट करना चाहते हैं। वे सच्चे अर्थ में प्रगतिशील हैं। उनका कहना है—"किसी भी देश का साहित्य केवल शैलियों की सुघरता या शब्दों के चमत्कार से बड़ा नहीं बनता। उनके लिए आवश्यकता होती है अदम्य साहस की, अव्यभिचारी चरित्र की और उदात्त जीवन-चेतना की।" आज के सर्जनात्मक और समीक्षात्मक साहित्य के स्रष्टाओं के लिए उन्होंने जिस महान् राष्ट्रीय चेतना और उसकी प्रगति पर अडिग आस्था की आवश्यकता बतलाई है वह उनके व्यापक, पूर्वग्रह-हीन और सन्तुलित दृष्टिकोण की द्योतक तथा स्वस्थ साहित्य की मार्गदर्शिका है।

व्यावहारिक आलोचना के अतिरिक्त सैद्धान्तिक आलोचना-सम्बन्धी तीन स्पष्ट, सुविचारित और नवीन उद्भावनाओं से सम्वलित निबन्ध भी इस पुस्तक में संग्रहीत हैं। 'पाश्चात्य समीक्षा: सैद्धान्तिक विकास' निबन्ध में पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के सैद्धान्तिक विकास को तर्कपूर्ण तथा सुलझे हुए ढंग से उपस्थित किया गया है। इसकी सुसम्बद्धता और एकतानता पर विशेष रूप से दृष्टि रखी गई है।

'भारतीय समीक्षा की रूपरेखा' में अनेक मौलिक प्रश्न उपस्थित किये गए हैं, जो वाजपेयी जी के दीर्घकालिक स्वतन्त्र चिन्तन के परिणाम हैं। भारतीय समीक्षा के पुनः परीक्षण और पुनर्व्यवस्था की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने जो नवीन उपपत्तियाँ उपस्थित की हैं वे गम्भीर चिन्तन की माँग करती हैं। उनका कहना है कि इसकी नवीन व्याख्या और पुनर्व्यवस्था के लिए व्याख्याता या व्यवस्थापक को पश्चिमी समीक्षा की एकतानता और परम्परा के नैरन्तर्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी होनी चाहिए। यद्यपि भारतीय समीक्षा-शास्त्र अतिशय समृद्ध है फिर भी पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र की भाँति सुगठित नहीं है। इसलिए आज की पीढ़ी उसके मूल्यों का लाभ न उठाकर पश्चिमी समीक्षा के शब्दों को उधार लेती है।

वाजपेयी जी ने निकोल और बोसांके के 'काव्यशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र' का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि उनमें भारतीय समीक्षा-शास्त्र के नगण्य विवरण का प्रमुख कारण भारतीय समीक्षा-शास्त्र की स्पष्ट रूपरेखा का प्रस्तुत न किया जाना। उन्होंने भारतीय समीक्षा-शास्त्र की उन कतिपय त्रुटियों का भी उल्लेख किया है जिनके कारण वह आज के पाठकों के लिए अगम्य और विकर्षक भी हो गया है। उदाहरणार्थ भरतमुनि का 'नाट्य-शास्त्र' नाट्य-विज्ञान की अपेक्षा नाट्य-कला और रंगमञ्चीय कला का विधि-निर्देशक ग्रन्थ रह गया है। कई स्थानों पर तत्त्व-चिन्तन मनोवैज्ञानिक और कलागत विवेचन के साथ इस प्रकार सम्पृक्त हो गया है कि उनकी विभाजक रेखा लुप्त हो गई है। इसी तरह काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थों में सिद्धान्त और रीति-व्याकरण पास-पास आ गए हैं। आज इन्हें वैज्ञानिक ढंग पर अलग-अलग करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ बातों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है। जैसे, रस, रीति, अलंकार आदि के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वे मूल रूप में काव्य-सिद्धान्त के विभिन्न पक्ष थे, न कि सम्पूर्ण काव्य-दर्शन के स्थानापन्न। यह केवल अनुमानाश्रित है, इसके लिए समुचित प्रमाणों का अभाव है। फिर भी भारतीय समीक्षा-शास्त्र के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में जो सुझाव उन्होंने दिये हैं वे अत्यन्त मूल्यवान हैं। वे अलंकार के अन्तर्गत कवि के कल्पना-पक्ष, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के अन्तर्गत अभिव्यंजना की स्थिति और रीति को व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण काव्यात्मक अभिव्यंजना के रूप में स्वीकार करते हैं। इस नव-निर्माण का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उनका कहना है 'नवनिर्माण के इस कार्य में हमारा प्रयोजन कुछ आधारभूत तत्त्वों, सिद्धान्तों या काव्य-शास्त्र के सम्प्रदायों से नहीं, प्रत्युत इतिहास के समस्त विकास-क्रम से है जिससे विभिन्न स्थितियों में विभिन्न तत्त्वों, सिद्धान्तों और सम्प्रदायों का रूप-निर्णय, निर्माण और पुनर्निर्माण किया है, एवं उन्हें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वस्तु प्रदान की है।' इसके लिए उन्होंने इतिहास की गत्यात्मक पृष्ठभूमि का अध्ययन आवश्यक माना है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अध्येता को सारी परिस्थितियों पर विचार करने के लिए स्वतन्त्र और वस्तुमूलक दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा।

इस संग्रह में 'रस-निष्पत्ति'-सम्बन्धी निबन्ध कदाचित् सबसे अधिक विचारोत्तेजक और विवाद-ग्रस्त है। 'रस-निष्पत्ति' का विवेचन करते समय जो नई व्याख्या वाजपेयी जी ने प्रस्तुत की है वह मूलतः लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मतों तथा साधारणीकरण के प्रश्न से सम्बद्ध है। लोल्लट के मत का उल्लेख करते हुए उन्होंने बतलाया है कि 'इन्होंने रस की स्थिति नायक आदि पात्रों में मानी है।' लेकिन आगे चलकर जब वाजपेयी जी लोल्लट के प्रसंग में नायक आदि का अर्थ कवि-कल्पित नायक ग्रहण कर लेते हैं तब कई शंकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अभिनव गुप्त और मम्मट के मत से 'रामादावनुकार्ये' का सामान्य अर्थ ऐतिहासिक राम आदि से लिया गया है न कि कवि-कल्पित राम से। लेकिन वाजपेयी जी का मत शास्त्रीय उद्धरणों के आधार पर अन्यथा नहीं माना जा सकता। एक तो लोल्लट आदि की अपनी कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं दूसरे मम्मट और अभिनव ने स्पष्ट रूप से उसके मत का उल्लेख नहीं किया है। मम्मट के उद्धरण के आधार पर यदि राम को एक ओर ऐतिहासिक राम माना जा सकता है तो वहाँ कवि-कल्पित राम भी माना जा सकता है। सत्य तो यह है कि काव्य-नाटक के राम कवि-कल्पित ही होंगे।

'रस-निष्पत्ति' निबन्ध में साधारणीकरण के सम्बन्ध में भी वाजपेयी जी ने एक मौलिक स्थापना की है कि साधारणीकरण समस्त कवि-कल्पित व्यापार का होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन बातें कही हैं—

(१) 'साधारणीकरण का अभिप्राय यह कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या विशेष वस्तु आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(२) रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है···किसी भाव की व्यञ्जना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला

१. दे० अभि० भा० प्र० खण्ड पृ० २७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलम्बन होता है।

(३) जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील द्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई-न-कोई भाव थोड़ा-बहुत अवश्य जगा रहता है, अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।

यदि शुक्ल जी की पहली बात अर्थात् आश्रय के साथ तादात्म्य होने पर साधारणीकरण की स्थिति स्वीकार कर ली जाय तो कई असंगतियाँ उठ खड़ी होंगी। जिनके प्रति हमारे मन में पूज्य-भावना है उनके रति-वर्णन को सुनकर क्या हम आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। ऐसा न तो शास्त्रीय दृष्टि से सम्भव है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही। शुक्ल जी की दूसरी और तीसरी बात में कोई पार्थक्य नहीं पड़ता। शील की दृष्टि से जब कोई पात्र श्रोता या पाठक के किसी भाव का आलम्बन होता है तब भी वह अप्रत्यक्ष रूप से कवि के भाव के साथ ही तादात्म्य स्थापित करता है, जिसका उल्लेख शुक्ल ने एक पृथक कोटि (दे० उ० ३) में किया है।

डॉ० नगेन्द्र ने 'रीति-काव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता' में साधारणीकरण की विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण चर्चा की है। उनकी पकड़ मुख्यतः मनोवैज्ञानिक है। उन्होंने भट्टनायक और अभिनवगुप्त का हवाला देते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।' आगे चलकर उन्होंने इसे और साफ करते हुए कहा है कि 'हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं।'

वाजपेयी जी अनुभूति शब्द का व्यवहार न करके 'समस्त काव्य-प्रक्रिया' शब्द का व्यवहार करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण कवि की 'समस्त काव्य-प्रक्रिया' का होता है। काव्य-प्रक्रिया अनुभूति की अपेक्षा व्यापक शब्द है। इसमें कवि की अनुभूति, विचार, दृष्टिकोण, अभिव्यक्ति आदि सभी बातों का समाहार हो जाता है।

संक्षेप में 'नया साहित्य : नये प्रश्न' में साहित्य की अनेक महत्त्वपूर्ण नई-पुरानी समस्याओं का सन्तुलित और विचारपूर्ण हल प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि सभी प्रश्नों के विवेचन में शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रमुखता दी गई है फिर भी साहित्येतर मूल्यों के यथोचित संनिवेश में उन्होंने कभी अनास्था नहीं प्रकट की है। यथार्थवादी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण तथा उसका साहित्यिक मूल्यानुचिन्तन, नवीन राष्ट्रीय दृष्टिकोण, भावी स्वस्थ साहित्य की रूपरेखा तथा उसके भवितव्य का निर्देशन, भारतीय समीक्षा-शास्त्र की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता आदि बहुत-से विषयों के समावेश तथा सन्तुलित विवेचन में वाजपेयी जी ने समन्वयात्मक और नवीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार-पद्धति अपनाई है। वह अपने-आपमें एक आदर्श समीक्षा-सरणि बन गई है।

इस पुस्तक से प्रतीत होता है कि आज भी वाजपेयी जी का व्यक्तित्व विकसनशील है, यह उनके साहित्यिक विकास की नई मंजिल है। प्रस्तुत पुस्तक में उनके विचारों में जो सन्तुलन और प्रौढ़ता तथा भाषा-शैली में जो स्पष्ट निखार दिखाई पड़ता है वह उनकी भावी प्रौढ़तर कृतियों का द्योतक है।[1]

बालकृष्ण राव

अतिमा : आधुनिक और पुरातन का सन्तुलन

: १ :

पन्त जी के नवीनतम कविता-संग्रह की पहली कविता की पहली पंक्तियाँ हैं :

तुम कहते उत्तर-वेला यह,
मैं सन्ध्या का दीप जलाऊँ !

निश्चय ही, इसके 'तुम' और 'मैं' किसी के भी प्रतीक क्यों न हों, भावकवर्ग की आँखों में यह रचना कवि का ही चित्रण करती जान पड़ेगी। स्वर वही चिर-परिचित स्वर है, कथन की शैली वही भलीभाँति जानी-पहचानी शैली है, भाषा वही पुरानी ग्रान्थिक भाषा है—और, एक प्रकार से देखा जाय तो, कथ्य भी वही पुराना आत्म-विश्वास का उद्घोष है। "मैं प्रभात का रहा दूत नित, नव प्रकाश सन्देशवाह स्मित", "मैं मानस धर्मा, अक्षय वय"—अपने सर्वथा सजीव और सक्रिय होने का दावा, भिन्न शब्दों में सही, वयःप्राप्त कवि बहुधा करते रहे हैं। बहुधा इस तरह का दावा करना ही खतरे की पहली घण्टी की तरह भावकवर्ग के कान खड़े करने का काम करता है। कवि जब यह पूछता है कि :

नव विकास पथ में मुड़ मैं अब,
क्यों न भोर बन फिर मुस्काऊँ ?

तो मानो प्रतिध्वनि उत्तर देती है : "इस कारण नहीं, क्योंकि अब तुम मुस्काना भूल गए हो"—और एक बार भूलकर फिर मुस्काना सीखा नहीं जा सकता, भले ही मुस्काने की प्रक्रिया को दुहराते क्यों न रहा जाय।

पन्त जी की यह कविता बड़े साहस की कविता है। यह स्वीकार करने में उन्हें कुछ भी संकोच नहीं हुआ कि "मैंने कब जाना निशि का मुख ?"—न इस अपरिचय और अनुभूति के कारण उन्हें इस आमन्त्रण (अथवा चुनौती) के देने में ही कोई संकोच हुआ कि :

आओ तम के कूल पार कर,
नव अरुणोदय तुम्हें दिखाऊँ !

१. नया साहित्य : नये प्रश्न'; लेखक—नन्ददुलारे वाजपेयी; प्रकाशक—विद्या मन्दिर ब्रह्मनाल, बनारस—१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम कवि का आमन्त्रण स्वीकार करके उसके साथ बढ़ते हैं। इसे हम आमन्त्रण ही मानेंगे, चुनौती नहीं। 'उत्तरा' की भूमिका के बाद कवि उस स्तर से बहुत ऊँचा उठ गया जिस स्तर पर लोग चुनौतियाँ देते और स्वीकार करते हैं। बाह्य और आन्तरिक का सामञ्जस्य ऊर्ध्व संचरण के द्वारा करने की क्षमता रखने वाला कवि हमें आमन्त्रण ही दे सकता है, चुनौती नहीं। वह हमें अपने साथ तम के कूल पार करके नव अरुणोदय दिखाने ले जायगा और इस तरह प्रमाणित कर देगा कि वह 'प्रभात का रहा दूत नित, नव प्रकाश सन्देशवाह स्मित'। 'अतिमा' की कविताओं में यही आमन्त्रण निहित है।

: २ :

संग्रह के छोटे-से विज्ञापन में पन्त जी ने संग्रहीत कविताओं का तीन श्रेणियों में विभाजन कर दिया है। एक श्रेणी प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं की है, जिनके अतिरिक्त 'अधिकतर' ऐसी रचनाएँ संग्रहीत हैं "जिनकी प्रेरणा युग-जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई सृजन-चेतना नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है।" अतः प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त एक श्रेणी इस प्रकार की कविताओं की हुई, जो 'अधिकतर' हैं, इसलिए तीसरी श्रेणी में वे होंगी जो इन अधिकतर कविताओं के अलावा हैं। यही अच्छा होगा कि हम संग्रहीत कविताओं का अनुशीलन इन्हीं तीन श्रेणियों में करें। कवि और उसकी कृति के साथ हम सम्भवतः इसी प्रकार तादात्म्य स्थापित करने में सबसे अधिक सफल हो सकेंगे।

प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में दो प्रमुख हैं: 'जन्म-दिवस' और 'कूर्माचल के प्रति'। दोनों इस संग्रह की अन्य सभी कविताओं से आकार में बड़ी भी हैं। दोनों ही उस पार्वत्य प्रदेश से सम्बन्धित हैं जहाँ कवि अपने जीवन के उषःकाल में भावी काव्य-कृतियों के लिए प्रकृति से प्रेरणा पाता रहा। 'जन्म-दिवस' में पहले अपने घर-द्वार, स्नेही-सम्बन्धियों, पुरजनों और परिजनों के अत्यन्त सुन्दर शब्द-चित्र अंकित कर, उनका हमसे परिचय कराने के बाद कवि बड़ी ही भावप्रवणता और उत्कृष्ट शिल्प-कौशल का परिचय देता हुआ एक साधारण प्रादेशिक प्रेम-कथा का हृदयग्राही चित्रमय अंकन करता है। इसमें कवि को कितनी सफलता मिली है यह नीचे की दो पंक्तियाँ ही प्रमाणित कर देंगी:

> गूँज रही होंगी गिरि वन अम्बर में दुहरी तानें,
> और पास खिंच आये होंगे दो जन इसी बहाने।

इसके बाद, अधिक गम्भीर स्वर में, कवि अपने जन्म-स्थान और जन्म-काल को नव-युग के अरुणोदय का प्रतीक मानकर प्रस्तुत आलम्बनों के सहारे अपने विकसित जीवन-दर्शन को अभिव्यक्ति देने की चेष्टा करता है। कवि कहता है:

> था निमित्त शिशु, नवयुग था अवतरित हो रहा निश्चय
> बहिरन्तर का धूम चीर हँसता था नव अरुणोदय।
> इसीलिए सम्भव हिमाद्रि का स्वर्गोन्मुख आरोहण
> युग सनाभि शिशु के मन के हित रहा महत् आकर्षण।

कविता वहीं पूरी हो गई थी। उसके बाद प्रतीकों के नागदन्तों पर कवि अपने दर्शन-वसन टाँगने में लग गया। मात्र शिल्प के बल पर कविता का-सा प्रभाव इन प्रतीकों का भी हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है—पर वह प्रभाव ही है, भाव नहीं।

'कूर्मांचल के प्रति' कवि की नगाधिप के प्रति, उसके और अपने गौरव के अनुरूप, विपुल हेम-मुद्राओं से परिपूर्ण श्रद्धाञ्जलि है। इसमें भी अन्त में कवि ने प्रतीकों के सहारे दार्शनिक प्रवचनों को अटका देने की चेष्टा की है, पर यह कविता इनके बोझ को सह सकती है—यही नहीं, इसके सहारे अटकाया जाकर विदग्ध चिन्तन सहज ही कवित्वमय हो गया है। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे, एक इस बात का प्रमाण देने के लिए कि कवि की हेम-मुद्राएँ खरे सोने की हैं, दूसरा इसका कि कविता (यद्यपि उसकी अपेक्षा नहीं करती, फिर भी) दार्शनिक प्रवचनों को सहज सुन्दर क्षमता से न केवल सँभाल लेती है अपितु उन्हें और भी ऊँचा उठाने में समर्थ हो सकी है। पहला उदाहरण है :

राजहंस-सा तिरता शशि मुक्ताभ नीलिमा जल में
सीपी के पंखों की छहरा रत्न छटा जल थल में।
धुली बाष्प पंखड़ियों में रँग भरते कला सुघर कर,
सुरधनु खण्डों में किरणों की द्रवित कान्ति कर वितरित,
रंग गन्ध के लता-गुल्म से गिरि द्रोणी अतिरञ्जित
देवदारु रज पीत सुहाती ग्रामवधू-सी सुन्दर !

और दूसरा :

रुके मूक भू मानस गह्वर, रुके स्तब्ध गिरि कन्दर,
(शतियों के पुञ्जित तमिस्र से पीड़ित जिनका अन्तर !)
बिछ प्रतीक्षा में प्रसार होने को तुमसे दीपित !
धूमिल क्षितिज, गरजता अम्बर, उद्वेलित जन-सागर,
जड़ चेतन की दृष्टि निर्निमिष लगी ज्योति-शिखरों पर,—
मानवता का दिक् प्रशस्त उन्नयन तुम्हीं पर आश्रित !

यह कवि की परम सफलता है कि इस दर्शन के शांत-पट से ढका जाकर नगाधिप मिट्टी का ढेर नहीं हो जाता, प्रत्युत और भी ऊँचा उठ जाता है! 'गिरि प्रान्तर' का कृत्रिम चित्र शिल्प के सहारे अपने-आपको प्रकाश में सुरक्षित नहीं रख पाता। शिल्प बहुत पुराना हो चुका, चित्र की कृत्रिमता प्रकट हो ही जाती है। पर 'पतझर' सफल और सुन्दर कृति है, जो बरबस कीट्स के 'ओड टु आटम' की याद दिलाती है। 'पतझर' कीट्स की प्रख्यात कविता से कम गम्भीर नहीं है, पर उत्कृष्ट शिल्प और ऊँचे दर्शन के बावजूद, कविता की दृष्टि से यह कीट्स के 'ओड' की समता नहीं करती। पन्त जी की अतिशय ग्रान्थिक भाषा एक ऐसा दुर्वह भार है जिसे पीठ पर लादकर कविता लड़खड़ाने लगती है, थककर बैठ जाती है और लाख कोशिश करने पर भी अपने मुख पर सहज मुसकान नहीं ला पाती। छायावादी युग की काव्य-भाषा का मोह पन्त जी की बहुत-सी कविताओं को उसी प्रकार निर्वीर्य बना देता है जैसे बहुधा उनका दार्शनिक, उपदेशात्मक स्वर उन्हें मुक्त विहग-सा उड़ाने न देकर पर काटकर पिंजड़े में बन्द कर देता है। पिंजरे में बन्द होकर भी विहग तो विहग ही कहलायगा, पर कहलाये जाने की वजह से ही उड़ तो नहीं पाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

संग्रह की विशिष्ट कविताएँ वे हैं जिनकी ओर पन्त जी ने यह कहकर संकेत किया है कि उनमें "सृजन-चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में, युग-जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई, काव्याभिव्यक्ति की प्रेरणा मूर्त हुई है।" 'अतिमा' की सबसे ऊँची कविताएँ ये न भी हों, सबसे अधिक आकर्षक अवश्य हैं। इनमें नवीनता है—ऐसी नवीनता, जो बलात् भावक को अपनी ओर आकृष्ट करती है। पर क्या यह नवीनता सचमुच प्राणगत आधुनिक है? उत्तर के लिए कविताओं पर दृष्टि-निक्षेप करें।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि संग्रह की दूसरी कविता 'गीतों का दर्पण', इस द्वितीय (नवीन रूपकों तथा प्रतीकों वाली) श्रेणी में रखी जानी चाहिए अथवा नहीं, पर यदि न भी रखी जा सके तो भी इसका पता लगाने के लिए इस कविता का महत्त्व और मूल्य संग्रह की किसी भी कविता से कम नहीं है, कि कवि स्वर आधुनिकता है अथवा मात्र नवीन, क्योंकि संग्रहीत कविताएँ एक वर्ष की अवधि में ही लिखी गई थीं। 'गीतों का दर्पण' भी 'नव अरुणोदय' की तरह कवि की ओर से एक सन्देश अथवा विज्ञापन है। 'नव अरुणोदय' में कवि ने हमें याद दिलाया था कि वह 'नव प्रभात का रहा दूत नित' अब 'गीतों के दर्पण' में हमें आमन्त्रित करता हुआ कहता है—

> **यदि मरणोन्मुख वर्तमान से**
> **ऊब गया हो कटु मन**
> **... ... ...**
> **तो मेरे गीतों में देखो**
> **नव भविष्य की झाँकी।**

जयदेव ने इससे कहीं कम दावा किया था। **'यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलास-कलासु कुतूहलं, मधुर कोमलकान्त पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्'** : इसमें कवि इतना ही कहने का साहस करता है कि यदि उस दिशा की ओर जाना चाहते हो जिधर वह स्वयं जा रहा है, तो उसके साथ हो लो। पन्त जी इससे अधिक आशा दिलाते हैं; उनकी कविता इसकी अपेक्षा नहीं करती कि भावक उस प्रकार का पदार्थ चाहता हो जो वह दे सकते हैं, वह सन्देश सुनना चाहता हो जो उन्हें सुनाना है—इतना ही चाहिए कि उसका मन वर्तमान, मरणोन्मुख वर्तमान, से ऊब गया हो : नव भविष्य की झाँकी देखना ही उसके लिए वांछित संजीवनी है, और वह संजीवनी कवि के पास है। यह स्वर अन्वेषक का नहीं, सिद्ध का है, विज्ञान-प्रेरित आधुनिक जिज्ञासा का नहीं, प्रयोगशाला से बाहर आकर प्रयोग की सफलता की घोषणा करने वाले लब्धकाम आत्म-विश्वास का है, एवरेस्ट का दर्शन करके लौटते हुए तेनसिंह का है। पर यह कौन-सा 'वर्तमान' है जो मरणोन्मुख है, जिसकी मरणोन्मुखता के बीच रहते-रहते मन कटु हो गया है? कवि इस कटुता इस व्याधि की कुछ और व्याख्या-सी करता हुआ जन-मन के व्याधिग्रस्त होने के कुछ और लक्षण हमें बताता है :

> **उठते हों न निराश लौह पग**
> **रुद्ध श्वास हो जीवन!**

'लौह पग' मशीन सभ्यता के प्रति संकेत है—पर यह आज का स्वर है अथवा बीसवीं शती के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रारम्भिक दशक का ? कवि आगे कहता है :

रिक्त बालुका यन्त्र,—खिसक हो
चुके सुनहले सब क्षण,
तर्कों वादों में बन्दी हो
खिसक रहा उर-स्पन्दन ।

बालुका यन्त्र की रिक्तता भी स्पष्ट संकेत है—वर्तमान के मरणोन्मुख होने की ओर । पर आज का उर-स्पन्दन क्या सचमुच तर्कों और वादों में बन्दी है ? क्या यह द्वितीय महा समर के पहले की युग-मनःस्थिति का चित्रण नहीं है ? आज का युग स्थावरता का नहीं संक्रान्ति का, अथवा पन्तजी की 'अतिमा' के अनुसार अतिक्रान्ति का, युग है : यह कविता पचीस वर्ष पूर्व निःशब्द, निराकार जन-मन के बन्द कक्ष में घुट रही थी, प्रकट होने में जो विलम्ब हुआ वह वर्ड्स्वर्थ के इस कथन की सत्यता प्रमाणित करता-सा जान पड़ता है कि 'कविता भावोद्वेग की शान्त-मन पुनरावृत्ति है ।' कवि का मन विमल और सर्वथा शान्त है, उसका अतीन्द्रिय आमन्त्रण आनन्द की उपलब्धि के लिए है । कवि के शब्द हैं :

यदि यथार्थ की चकाचौंध से
मूढ़ दृष्टि अब निष्फल,—
डूबो गीतों में, जिनका
चेतना-द्रवित अन्तस्तल ।

'अनबूड़े बूड़े, तरे जो बूड़े सब अंग ! बूड़ने वाले के लिए ही यह गीतों का दर्पण है जिसमें वह अपना 'श्री-नव आनन' देख सकता है ।

उस 'ऊर्ध्व-संचरण' का आग्रह, जिसकी व्याख्या कवि ने 'उत्तरा' की भूमिका में की थी, हमें 'अतिमा' में सर्वत्र मिलता है । 'जन्म-दिवस' में हम 'हिमाद्रि का स्वर्गोन्मुख आरोहण' देखते हैं जो 'कूर्मांचल के प्रति' के 'शाश्वत शिखरों' में निखरा, शान्त और समुज्ज्वल हो जाता है । 'नव-जागरण' में हम देखते हैं कि :

रजत प्रसारों में उड़ नूतन
प्राण मुक्त करते आरोहण

और जहाँ संचरण नहीं है वहाँ ऊर्ध्वोन्मुखता ही संचरण का स्थान ले लेती है । 'बाहर भीतर' में :

भू को अन्धकार का है भय,—
शिखरों पर हँसता अरुणोदय :

यह 'हँसना' निस्सन्देह ऊर्ध्व-संचरण का ही निमन्त्रण है ।

पर 'अतिमा' का स्वर केवल उर्ध्व-संचरण का ही हो, ऐसी बात नहीं है । 'जिज्ञासा' शीर्षक विशुद्ध रूमानी कविता में हमें कवि शिखरों की नहीं अतलताओं की पावनता की बात कहता मिलता है, समतल प्रदेश पर खड़ा गाता है :

कौन स्रोत ये ?
ये किन आकाशों में खोए
किन अवाक् शिखरों से झरते ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किस प्रशान्त समतल प्रदेश मे
रजत फेन मुक्ता रव भरते !
ये किन स्वच्छ अतलताओं की
कौन नीलिमाओं में बहते ?
किस सुख के स्पर्शों से स्वर्णिम
हिलकोरों में कँपते रहते !

कविता इतनी सुन्दर और सरस है कि उसकी थोड़ी-सी पंक्तियाँ उद्धृत करके सन्तोष नहीं होता, पर एक छोटे-से लेख में थोड़ी-सी पंक्तियाँ ही उद्धृत की जा सकती हैं। कुछ पंक्तियाँ और देखिए :

कौन स्रोत ये !
श्रद्धा औ' विश्वास—रुपहले
राज मरालों के-से जोड़े
तिरते सात्विक उर सरसी में
शुभ्र सुनहली ग्रीवा मोड़े।
शोभा की स्वर्गिक उड़ान से
भर जाता सहसा अपलक मन,
बजते नव छन्दों के नूपुर
अलिखित गीतों के प्रिय पद बन !

निःसन्देह शैली में नवीनता का आग्रह नहीं है, स्वर कवि का चिर-परिचित छायावादी स्वर ही है, फिर भी यह कविता बासीपन के दोष से मुक्त है; क्योंकि सुन्दर ही नहीं, सरस भी है। मैंने सरस जान-बूझकर कहा है, क्योंकि इस कविता की सहायता से पन्त जी के काव्य पर सामान्यतया लगाए जाने वाले एक आरोप का आवश्यक खण्डन करना सुकर हो सकता है। रस की सर्जना निःसंशय काव्य का धर्म है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि शिल्प की दृष्टि से कितनी भी उत्कृष्ट क्यों न हो, कविता यदि भावक के मन को रसार्द्र नहीं कर पाती तो भावक के लिए वह कविता नहीं है। पर जिस मन को रसार्द्र करना कविता का स्वाभाविक कर्म और सर्वमान्य धर्म है वह मन केवल छलकते हुए उद्वेगों का पात्र नहीं है, वह विशद चेतना-भूमि है जिस पर भावना और विचार, हृदय और मस्तिष्क समान अधिकार के साथ निवास करते हैं और प्रभाव डालते हैं। रस केवल भावोद्वेग नहीं है, अनुभूति केवल इन्द्रियाश्रित नहीं है। 'जिज्ञासा' में (और अपनी अधिकांश सफल कविताओं में) पन्त जी जिस रस की सृष्टि करते हैं वह साधारणतया स्वीकृत परिभाषा से बँधा नहीं है; व्यापक अर्थ में, व्यक्ति-चेतना का सहज-ग्राह्य अतीन्द्रिय रस है। पन्तजी की कविता का उस भावकवर्ग के लिए कोई मूल्य नहीं है जो रस की संकीर्ण परिभाषा करता है—पर उस भावक वर्ग के लिए सम्भवतः साँस लेने की प्रक्रिया ही जीवन है। नये विचारों का आघात जिनके लिए ऐन्द्रिक अनुभूति की-सी प्रभावोत्पादिनी शक्ति नहीं रखता उनके लिए पन्त जी कह सकते हैं 'जानन्ति ते किमपि, तान्प्रति नैष यत्नः' है।

यह बात 'अतिमा' की बहुत-सी—यह कहना भी अनुचित न होगा कि अधिकतर रचनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए कही जा सकती है। इनमें कुछ असाधारण कृतियाँ हैं, जैसे 'स्फटिक वन', जो छायावादी सज्जा में आधुनिक भावोन्मेषण की काव्यमयता की सफल उपलब्धि है;—कुछ सुन्दर, शीतल पर निष्प्राण चित्राकृतियाँ हैं, कुछ सर्वथा अकवित्वमय पत्रकारिता हो जाने से मात्र शब्द-शिल्प के द्वारा बचा ली जाती हैं, जैसे 'नेहरू-युग'; और कुछ ऐसी हैं "जिनकी प्रेरणा युग-जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई सृजन-चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है।"

: ४ :

अब तक हम जिन कविताओं को देख रहे थे उनके विषय में यह कहना सम्भव नहीं है कि वे इस विशिष्ट श्रेणी में आयँगी या नहीं—शायद नहीं। पर जिनके विषय में सन्देह हो ही नहीं सकता वे हैं—सोनजुही; आ : धरती कितना देती है; कौए, बतखें और मेढक; प्रकाश, पतिंगे और छिपकलियाँ; केंचुल; स्वर्णमृग आदि। इनमें सम्भवतः 'सोनजुही' सुन्दरतम है और 'केंचुल' अपेक्षाकृत सबसे कम सफल हो सकी है। 'सोनजुही' से कुछ थोड़ी-सी पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करना निरर्थक होगा, क्योंकि एक तो यह कविता समूची उद्धृत करने योग्य है, दूसरे इसे आधुनिक हिन्दी-कविता के प्रायः सभी पाठक जानते ही हैं। इसके अन्त में भी पन्त जी दार्शनिक प्रवचन चिपका देने का लोभ संवरण नहीं कर पाए—और यह प्रवचन कविता के साथ मिलकर एक नहीं हो पाया, चिपका ही रहा। इस तरह की कविता के साथ यह व्यवहार कुछ टाल्स्टाय के ढंग का लगता है, जो अपने कलाकार-व्यक्तित्व को उपदेशक और विचारक-व्यक्तित्व का जरखरीद गुलाम समझता था। भाग्यवश 'सोनजुही' का दार्शनिक विश्लेषण कविता से स्पष्टतः इतना असम्पृक्त जान पड़ता है कि भावक के लिए उसे अलग रखकर कविता का आस्वादन करना सुकर ही नहीं स्वाभाविक हो जाता है।

इसमें ही पन्त जी की सफलता और असफलता का एक साथ परिचय मिल जाता है। यह उनकी सफलता है कि अपने जीवन-दर्शन की ऊँची बरफीली पहाड़ी चोटी पर भी उन्हें काव्य-कुसुम खिले मिलते हैं। उनकी असफलता यह है कि उनमें से बहुत-से कुसुम निर्गन्ध होते हैं। 'सोनजुही', 'आ : धरती कितना देती है !' आदि कविताएँ अपवाद-सी इतस्ततः विकर्ण जान पड़ती हैं।

इन कविताओं में यदि 'सृजन-चेतना के नवीन रूपकों' की खोज न भी की जाय तो भी उनके कवित्व में कोई कमी नहीं आती, हाँ, उनकी नवीनता अवश्य अदृश्य हो सकती है। तो क्या मात्र नवीनता लाने के लिए ही कवि ने उनमें 'नवीन रूपकों और प्रतीकों' की निर्माण-प्रक्रिया का समावेश किया है ? ऐसी भ्रान्ति 'सोनजुही' को देखकर हो सकती है, क्योंकि 'सोनजुही' इन नवीन प्रतीकों का भार आसानी से नहीं उठाती—कहना तो यों चाहिए कि उठाती ही नहीं। पर अन्य रचनाओं के विषय में यह कहना अन्याय होगा। 'कौए, बतखें और मेढक', 'स्वर्णमृग' आदि ऐसी कविताएँ भी 'अतिमा' में मिलेंगी जिनका सृजन ही इन प्रतीकों को काव्यात्मक प्रेषणीयता देने का नाम है। इस तरह की रचनाओं में सम्भवतः सबसे सफल और सबसे ऊँची कविता 'सन्देश' है, जो आरम्भ से ही अपनी शक्तिमत्ता का परिचय देती हुई प्रतीकों में प्राण-वायु का संचार करती चलती है और अन्त होते-होते सच्ची कविता की वह सम्पन्नता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त कर लेती है जो अक्षय और अपरिहार्य होती है और जिसका आशय उसके अर्थ से कहीं व्यापक और सबल होता है। 'सन्देश' के आरम्भ की पंक्तियाँ हैं :

मैं खोया-खोया-सा, उचाट मन, जाने कब
सो गया तखत पर लुढ़क, अलस दोपहरी में,
दुःस्वप्नों की छाया से पीड़ित, देर तलक
उपचेतन की गहरी निद्रा, में रहा मग्न।

जब सहसा आँख खुली तो मेरी छाती पर
था असन्तोष का भारी, रीता बोझ जमा,
....

इतने में मेरी दृष्टि फर्श पर जा अटकी,
जिस पर जाड़े की चिट्टी, ढलती, नरम धूप
खिड़की की चौखट को कुछ लम्बी, तिरछी कर
थी चमक रही टूटे दर्पण के टुकड़े सी—

इस प्रकार कवि हमारा परिचय उस धूप से कराता है जो सन्देश-वाहिका बनकर आई थी। किसे सन्देह हो सकता है कि यह सचमुच धूप नहीं है, मात्र प्रतीक है। अपराह्न में उदास मन लेटकर सो रहने के बाद उठने पर जिस रिक्तता का अनुभव हम सबको होता, हो सकता है उससे यह, 'असन्तोष का भारी, रीता, बोझ' क्या भिन्न है? पर इस साधारणीकरण में वैशिष्ट्य का लोप नहीं हुआ है। असाधारण, किन्तु सहज, सिद्धहस्तता का परिचय देता हुआ कवि 'जाड़े की चिट्टी, ढलती, नरम धूप' को ऐसी विलक्षणता दे देता है कि उसके लिए सन्देशवाहक का कार्य अद्भुत व असाधारण नहीं रह जाता। यह कविता छायावाद और आधुनिक युग की भावभूमियों के बीच सेतु-सी, दोनों से कुछ भिन्न पर दोनों की सम्पत्ति है और पन्त जी के काव्य की अद्यतन परिणति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'अतिमा' न आधुनिक है, न पुरातन: उसकी सार्थकता और सीमा इसीमें है कि वह दोनों को एक-दूसरे से मिलाती और एक को दूसरे का पूरक बनाने की चेष्टा करती है।[1]

डॉ० रामरतन भटनागर

वर्तमान कविता में नये गीति-स्वर

'दिवा लोक' में शम्भूनाथ सिंह की ४२ कविताएँ संग्रहीत हैं। इन कविताओं में से अधिकांश प्रगीतात्मक हैं, यद्यपि लय और छन्द के अनेक प्रयोग इन प्रयोगात्मक कविताओं में मिलेंगे। ग़ज़ल, सॉनेट और लोक-गीतों की धुन से समन्वित कुछ रचनाएँ भी हैं, परन्तु वे अधिक नहीं

१. 'अतिमा'; लेखक—सुमित्रानन्दन पन्त; प्रकाशक—भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यह स्पष्ट है कि 'दिवालोक' के कवि की प्रमुख प्रवृत्ति गीतात्मक है और इसी सन्दर्भ में हमें उनकी इस कृति को परखना होगा।

संग्रह में सबसे अधिक रचनाएँ कवि के वैयक्तिक सुख-दुःख से अनुप्राणित हैं और मिलन-वियोग, हर्ष-विषाद के स्वरों को मुखरित करती हैं। इस कोटि की रचनाओं में छायावादी प्रगीति-काव्य के सन्दर्भों, मूर्ति-विधानों और प्रतीकों का प्रचुर रूप से प्रयोग है और एक तरह से हम उन्हें उस गीत-धारा से सम्बन्धित कर सकते हैं जो छायावादी गीति-काव्य के विकास के रूप में परवर्ती युग में चल रही है। यह गीत-धारा उस नव्य स्वच्छन्दतावादी (या प्रतीकवादी) धारा से अलग अस्तित्व रखती है जो नये काव्य का एक प्रमुख अंग है, परन्तु उसका विकास उसके समानान्तर ही हुआ है। कवि ने छायावादी प्रगीतों से ही बहुत-कुछ नहीं सीखा है, उस पर ग़ज़ल के छन्दों, लोक-गीतों की धुनों और संगीतात्मक प्रेरणाओं का भी ऋण है। यह स्पष्ट है कि शम्भूनाथ सिंह की ये रचनाएँ इस गीत-धारा के ही अन्तर्गत आती हैं।

इन गीतों में से कुछ में कवि ने अपने भीतर के विषाद का बड़ा मार्मिक अंकन किया है। "मैं सभी का हूँ न कोई किन्तु मेरा।", "दिन हैं खोए-खोए, भूली-भूली रातें।", "तुम्हें याद मेरी न आती कभी क्या?", "है वही चाँद, पर दूसरी चाँदनी।", "जी सकूँ चुपचाप" और "आषाढ़स्य प्रथम दिवसे" रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इस विषाद की गहन छाया का चरमोत्कर्ष हमें उन पंक्तियों में मिलता है जहाँ कवि जीवन को ही नहीं, मरण को भी चुपचाप स्वीकार कर लेना चहता है :

तुम पुकारो पार से जब,
स्वर सुनूँ स्वरकार के जब,
मैं तुम्हारा प्यार ले तब,
प्रिय तुम्हारे चरण पर मर
भी सकूँ चुपचाप।
प्रिय, मैं जी सकूँ चुपचाप।

मिलन और उल्लास के गीत थोड़े हैं, परन्तु उनमें कवि की आध्यात्मिक जाग्रति की भी व्यंजना बहुत सुन्दर ढंग से हो गई है। 'छवि-दर्शन', 'स्वयं से दूर' और 'तृप्ति'-जैसी रचनाओं में आत्मा की परिपूर्ण उपलब्धि की बड़ी सुन्दर और पुष्ट अभिव्यक्ति हुई है, जैसे :

भर दिए आज तुमने अमर गान से।
स्वप्न सच हो गए।
अश्रु-घन खो गए।
प्राण फिर चाँदनी-
अंक में सो गए,
दूर तुम से हुआ मैं अचल तम-प्रहर,
पूर्णिमा-क्षण बना एक मुसकान से। (तृप्ति)

कुछ गीतों में प्रकृति का भी सुन्दर चित्रण है, जैसे "चाँदनी", 'मधु ऋतु' और 'सागर की पूर्णिमा' शीर्षक रचनाओं में। अन्तिम कविता में सागर के हिल्लोलित जल पर प्रतिबिम्बित पूर्ण चन्द्र की छटा को कल्पना के सम्पूर्ण ऐश्वर्य से उभारा गया है। अन्तिम बन्ध है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल की तमपूर्ण गुफा ज्योतित,
कण-कण में एक रूप बिम्बित,
पारद-सी ज्योति-शिखा अनगिन,
बिखरी हैं लहरों में नर्तित,
चल जल के शीशमहल में, लो,
बिजली का दीपस्तम्भ हिला।

परन्तु इन स्वतन्त्र प्रकृति-गीतों को छोड़ दें, तब भी अन्य रचनाओं में प्रकृति-सम्बन्धी उपमानों और प्रतीकों का व्यापक रूप से और कभी-कभी एकदम नवीन सन्दर्भ में उपयोग हुआ है, जो कवि की रसात्मक प्रवृत्ति पर अच्छा प्रकाश डालता है।

दूसरी कोटि की रचनाएँ वे हैं जिनमें कवि ने युग-सत्य को प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा की है या जिनमें उसकी राजनीतिक अथवा विश्व-जीवन-सम्बन्धी चेतना स्पष्ट रूप से उभर आई है। संग्रह की पहली कविता 'स्वप्न और सत्य' में ही अपने काव्य के द्विविध रूप की ओर कवि ने संकेत किया है। वह कहता है :

तुम्हें सुलाता हारा
मन बेचारा।
जिसका कहीं न इति-अथ
यह अनन्त नीरव पथ
फिर भी जिस पर प्रति पल
करता है अतीत कोलाहल
मुखरित प्राणों का वन,
बजती रोम-रोम में मुरली निस्वन,
वर्तमान से कितना सुखद पलायन।
पर धिक् रे मन,
यदि चरणों में है गति
उर में कम्पन, तो अतीत क्या बन सकता है बन्धन।

'जीवन की आग', 'पथ में', 'बढ़ रहे चरण', 'मुक्ति-दीप' और 'विश्व मेरे' शीर्षक रचनाओं में प्रगतिशील जीवन और विकासमान मानवीय चेतना की ही पुकार दीप्तिमान है। बढ़ते हुए चरणों के आत्म-गौरव और मार्ग की कठिनता का वर्णन करता हुआ कवि उन्हें प्रगति का प्रतीक बनाकर उपस्थित करता है :

पथ पर बढ़ रहे चरण।
श्रम-सीकर से सिंचित,
धूसर रजकण-मण्डित,
फूलों से अपमानित,
शूलों से अभिनन्दित,
अंकित कर चिह्न विरल,
गिरि-पथ चढ़ रहे चरण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक अन्य रचना 'कर्म-पथ' में उसने युग की कर्मण्यता को ललकारते हुए तारुण्य के चिरजयी जीवन-दर्शन को इस प्रकार अभिमन्त्रित किया है :

हो ध्येय का ध्यान,
दिन-रात सम मान,
मन मत करो म्लान,
बढ़ते रहो, तट कि मझधार।
पथ को करो प्यार।

बच्चन के 'हार मत' गीत की तरह यह गीत भी कर्म की ऊर्जस्विता और नये जीवन की अदम्य गतिशीलता का अभिनन्दन करता है। 'जन-देवता' कविता में नये जागरण के सम्बन्ध में कवि की विचार-धारा का पूरा स्वरूप मिलता है। रात चली गई है, प्रभात हो गया है परन्तु जन-जीवन को मुक्ति नहीं मिली है। अर्गला नहीं खुली है। कवि एक 'नई दासता' का अनुभव कर रहा है। जन-जीवन के इस गत्यवरोध और आभ्यन्तरिक कुण्ठा का वर्णन कवि अत्यन्त सफल प्रतीकों में करता है :

गगन मिला पर न पंख मिल रहे,
किरन मिली पर न कमल खिल रहे,
पंथ मिला पर न चरण हिल रहे,
दीप-सजल नयनों से निज असीम वेदना,
कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन देवता ?

और अन्त में कवि प्रश्न करता है :

कब तक यह अनृत यह प्रवञ्चना ?
कब तक यह करुण अश्रु-अर्चना ?
कब तक यह मोह-मरण-साधना ?
क्रान्ति-शान्ति-समता-आनन्द हेतु क्या कहो,
प्रलयंकर रुद्र न होगे क्या जन-देवता ?

जन-जीवन की इस अन्तर्वर्ती व्यथा को कवि पहचानता है और नये विश्वास की स्वर्ण-शिखा से मण्डित आशा का प्रदीप लेकर प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता है। इसीलिए उसकी रचना नये प्राण से ओत-प्रोत है। उसका निराशावादी स्वर अन्त में अदम्य रूप से आशावादी हो उठा है, क्योंकि वह एक नये अनागत सवेरे की कल्पना का अभिनन्दन करता है जब मनुष्य ऊर्ध्वबाहु हो उद्घोषित कर उठेगा कि :

... ...हम अनश्वर
शक्ति के हैं केन्द्र जीवन के प्रणेता।
क्षुद्र तिनके काल-धारा के विजेता
अब बनेंगे, एक-एक नहीं सहस शत
एक हो कर। आत्म मुक्त समष्टि-चेता
व्यक्ति होगा, काल के रथ पर चढ़ेगा।
प्राणवन्त, नई दिशाओं में बढ़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संग्रह की जिस अन्तिम कविता 'विश्व मेरे' से ये पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, वह निश्चय ही बड़ी मार्मिक बन पड़ी है और उसमें नई आशा के स्वर बड़ी सुन्दरता से बँध सके हैं।

परन्तु स्वप्न और सत्य के इन दो छोरों के बीच जो भावुक क्षण कवि ने पकड़े हैं, वे इनसे कहीं अधिक मार्मिक हैं और उनमें हमें ऐसी चीज़ें मिलती हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। 'एक क्षण', 'आधी रात', 'आज' और 'हिमालय-सम्बन्धी पाँच सॉनेट' में हमें कवि की कला का सुन्दर निखार मिलता है। गीति-काव्य की तन्मयता, केन्द्रीयता, आत्मनिष्ठा और रसग्राही भावुकता इन रचनाओं में पूर्ण रूप से पल्लवित हुई है। उदाहरण के लिए 'आज' शीर्षक कविता में प्रेमिका की अप्रत्याशित उपलब्धि को कवि ने कितनी भावुकता से, कितने मोह से पकड़ा है और प्रत्येक बन्ध में नये उपमानों में, नई भाव-भंगिमा से उस उपलब्धि को विभूषित किया है। ये क्षणों के फूल सहज में बँध नहीं पाते। परन्तु इन्हीं के बाँधने में कला की सार्थकता है। शम्भूनाथ सिंह के काव्य में ये क्षण बड़ी सुन्दरता से बँध गए हैं।

हिमालय-सम्बन्धी सानेट-पंचक का इस संग्रह में अपना स्वतन्त्र स्थान है। इसमें कवि ने पुराण-गाथाओं, प्राकृतिक प्रतीकों, वस्तु-चित्रों और कल्पना-रेखाओं के माध्यम से हिमालय के अप्रतिम सौन्दर्य और अतलगर्भी रहस्य से स्नेह का व्यक्तिगत नाता जोड़ा है। यह चित्र कवि की पौराणिक मूर्तिमत्ता का नमूना है :

थी पार्वती धरती जलती तप से निर्जल,
था महाकाल ज्यों समाधिस्थ निर्द्वन्द्व अचल,
सहसा झंकृत अनंग-धनु से शर छूट पड़े,
बन पंचबाण के पुष्प बरसते थे बादल।

अंतिम सॉनेट में कवि ने सचमुच ही प्रस्तर के अन्तर के रसमय स्रोतों को ढूँढ़ निकाला है।

इन थोड़ी रचनाओं में ही हमें शम्भूनाथ की काव्य-शक्ति का सुन्दर परिचय मिल जाता है और उनके काव्य-विकास को देखकर मन आश्वस्त होता है। उनकी प्रतिभा गीतात्मक होते हुए भी क्लासिकल रचनाओं से अनेक सूत्र ग्रहण करती चलती है और उन्होंने भीतर बाहर को दो अनिवार्यतः विभिन्न और विरोधी वस्तुएँ न मानकर स्वप्न-सत्य का काव्योचित गठबन्धन किया है। समर्थ भाषा और प्रतीकों एवं प्रयोगों की नई भूमि की जो झाँकी इस रचना में दिखलाई देती है वह आगे और भी निखार पाए तो समसामयिक काव्य की पुष्टि होगी। हिन्दी-कविता का भविष्य न वाद-ग्रस्त काव्य के हाथ में सुरक्षित है, न पश्चिम से उधार लिये अनगढ़ प्रयोगों में। नवीन काव्य-भूमि के उद्घाटन के लिए कल्पना और कला के क्षेत्र में नई साधना की अपेक्षा है। इस संकलन में इस साधना के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं।[1]

---

१. 'दिवालोक'; लेखक—शम्भूनाथ सिंह; प्रकाशक—साधना-मन्दिर, काशी की ओर से राजकमल, प्रकाशन दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NOT TO BE ISSUED

प्रयागनारायण त्रिपाठी

रीति, गीति और नई कविता

'नाव के पाँव' में जगदीश गुप्त की ५७ कविताएँ संग्रहीत हैं। इन्हें दो खण्डों में विभाजित किया गया है—'नाँव के पाँव' और 'टूटती लहरें'। संग्रह की भूमिका में जगदीश जी ने इस विभाजन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, "प्रथम खण्ड में मेरी सन् १९५१ के बाद की प्रायः सभी कविताएँ संग्रहीत हैं और द्वितीय खण्ड में इसके पूर्व की कुछ कविताएँ। नई और पुरानी रचनाओं को एक साथ मिलाकर रखना मुझे उचित नहीं लगा और पिछली कृतियाँ मैं सर्वथा छोड़ भी नहीं सका। कुछ पूर्वाभास देने की दृष्टि से और कुछ शायद मोह के कारण।" जगदीश जी के उक्त कथन से इस संग्रह की कविताओं पर विचार करना काफ़ी सरल हो जाता है। इस विभाजन के फलस्वरूप हम न केवल एक विशिष्ट कवि-व्यक्तित्व के विकास-क्रम को हृदयंगम करते हैं प्रत्युत हिन्दी-कविता के एक महत्त्वपूर्ण संक्रमण को भी देख सकते हैं और क्योंकि इस परिदर्शन में 'टूटती लहरें' के अन्तर्गत कविताएँ पहले आती हैं, अतएव पहले मैं इसी खण्ड की कविताओं पर विचार करूँगा।

इस खण्ड की दो दर्जन कविताओं के अन्तर्गत अधिकांश गीत हैं और प्रायः सभी सुन्दर गीत हैं। लगता है जैसे गीत-शैली ही जगदीश जी की अपनी शैली हो। प्रवाह, परिमार्जन, शब्द-मैत्री, भाव-संवेग—प्रत्येक दृष्टि से ये गीत अपना विशिष्ट स्थान बनायेंगे, इसमें सन्देह नहीं। पर इन गीतों पर पूर्ववर्ती और तत्कालीन गीतकारों की छाया भी स्थान-स्थान पर सुस्पष्ट है। जब कवि लिखता है:

> यह चाँद ज्योति का कमल फूल
> तारक छितरे किंजल्क जाल
> ज्योत्स्ना पराग की धवल धूल
> यह चाँद ज्योति का कमल फूल
> उर का कलंक काला भँवरा
> कन-कन में अमृत मरंद भरा
> रस की बूँदों में सनी पाँख
> उन्मद मदमाती मुँदी आँख
> मूर्च्छित चुम्बन-श्लथ विसुध गात
> बेबस उड़ना तक गया भूल
> यह चाँद ज्योति का कमल फूल

सन्दर्भ ग्रन्थ REFRENCE BOOK

—तो हमें बरबस प्रसाद और महादेवी का स्मरण एक साथ हो आता है। चाँद कवि का विशेष प्रिय उपमान प्रतीत होता है। सम्पूर्ण संग्रह में—नई कविताओं में भी चाँद—और चाँदनी का उजलापन छाया हुआ है। 'यह चाँद ज्योति का कमल फूल', 'सुकुमार चाँदनी रही भूल', 'देख शशि को आ रही होगी तुम्हें भी याद मेरी', 'यह चंदन-सा चाँद मँहकता, 'यह चाँद-सी रात', 'याद पिछली चाँदनी रातें करें आओ', 'तरुणाई-सी खिली जुन्हाई'—ये हैं विभिन्न कविताओं की कुछ पंक्तियाँ; जो कवि की चन्द्रासक्ति को व्यक्त करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। जिन गीतों से ये ली गई हैं, वे अपने-आप में, संग्रह से बाहर, बहुत समीचीन प्रतीत होते। किन्तु संग्रह में एक जगह जुट जाने पर इन्होंने जगदीश गुप्त के इस कथन को ही सत्य सिद्ध कर दिखाया है कि "परम्परागत अनुर्वर तथा कुण्ठित माध्यम में नवीन अनुभूतियों को अधिक समय तक व्यक्त नहीं किया जा सकता।" यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ कि 'नयी कविता' के सम्पादक जगदीश गुप्त ने स्वयं अपने ही मोह के माध्यम से मोहाविष्ट कवि-समुदाय की दुर्बलताओं और असफलताओं पर स्पष्ट प्रकाश डाल दिया।

परन्तु पुराने माध्यमों में भी नई अनुभूति कितनी खिलकर सम्मुख आती है, इसे 'चाँदनी और चाँद' कविता में देखिए:

रच दिया पथ ज्योति के आवर्तनों से चाँद ने
रात की वेणी किरण की उँगलियों से खोलकर
बाँध अपने को लिया अनगिन घनों से चाँद ने।
याद है वह नींबुओं की साँवली छाया घनी?
ओस की सुकुमार बूँदों से भरी पलकें उठा,
आसमानी चाँद से कहती कपूरी चाँदनी।

इस प्रकार 'दो मुक्तक' की यह पंक्तियाँ:

नीले अम्बर से ढकी
धरती एक समाधि है।

बहुत ही सशक्त और गहरी काव्यात्मक संवेदना से ओत-प्रोत हैं; जिनके सम्मुख 'सच हम नहीं, सच तुम नहीं'-जैसी पंक्तियाँ बहुत हल्की लगती हैं—फीकी और काव्य-गुण-विहीन।

परन्तु चाँद-सितारों और कल्पना-चित्रों की दुनिया का मोह त्यागकर आज के कवि को शीघ्र ही धरती पर उतर आना पड़ता है—आज की वस्तु-स्थिति की पुकार पर और व्यक्तित्व की चौहद्दियों के तकाजे पर। 'नाँव के पाँव' शीर्षक खण्ड के अन्तर्गत समाविष्ट कविताओं में इसी अवतरण की सशक्त और ईमानदार अभिव्यक्तियाँ हैं। इनमें सबसे सुन्दर मुझे 'बिखरा हुआ अहम्' लगी। यह जगदीश जी की सर्वोत्कृष्ट कविताओं में एक है, क्योंकि इसमें जहाँ उनका अपना व्यक्तित्व बोल रहा है, वहीं उनका कलाकार अपने अनुभूत को कलाकार की निर्वैयक्तिकता के साथ मुखर कर सका है:

मैं बिखर गया हूँ
अपने ही चारों ओर।
मेरा एक अंश—सामने के नीम की
नंगी टहनियों में लगी उदास पीली
पत्तियों के बीच उलझ गया है—
और उन्हींके साथ
पतझर के रूखे किन्तु खुमारी भरे
झोंकों की चोट से—एक-एक कर,
नाचता-गिरता-लहरता-थिरता
जटाओं-जैसी भूरी सूखी धूल भरी घास पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उतर रहा है—उतर रहा है।
मेरा दूसरा अंश-वर्षा के बाद के बचे उन
खोये-भटके हलके-दुधियारे बादलों के साथ
आकाश में डोल रहा है,
जिनमें न जल है न जलन, न ओले, न गलन,
कभी-कभी सियाह चीलें मँडराती हुई
इधर-से-उधर निकल जाती हैं
किन्तु वे ठहरते नहीं—रुकते नहीं।
मेरा एक तरल अंश—गंगा की लहरों पर दिन-रात तिरता है।
डाँडों के साथ-साथ उठता है, गिरता है।
उनकी कोरों से टपकती बूंदों-सा,
वृत्त बनाता हुआ—फैल जाता है—फैल जाता है।
इन सबसे अलग एक गहरा अंश—मेरा ही
चाँद के सीने के उन दाग़ों में जा छिपा है
जिन्हें चाँदनी रूप-जल से धो-धोकर हार गई।
पर जो अमिट थे—अमिट हैं,
मेरे इन सब बिखरे-बिखरे अंशों को
कौन सँजोये
मुझे कौन पूरा करे,
पीली पत्तियों को फैलते जल-वृत्तों में कौन बाँधे
बह जायँगी वे।
काले दाग़ों पर बहके सफ़ेद बादलों को कौन साधे,
ढक जायेगा चाँद, खो जायेंगी चीलें।

यह तथा 'पुरवा के झोंके', 'अँधेरा और पथरीला दर्द', 'नखत की परछाईं', 'गंगा-तट का एक खेत' ऐसी कविताएँ हैं जो जगदीश गुप्त की ओर से हमें आश्वस्त बनाती हैं। इनमें वह शक्ति है, वह बिम्ब ग्रहण करने की क्षमता है, वह संवेदनात्मक ताज़गी है, आज के जीवन-यथार्थ के प्रति वह सजग चेतना है, जो नई कविता का प्राण है। इसके विपरीत 'आस्था' और 'अव्यक्त चुम्बन'-जैसी कविताओं में न तो कोई स्पष्ट जीवन-दृष्टि है, न संवेदना। एक उलझी अनुभूति का धुँधला-सा आभास-मात्र उनमें मिलता है। यह नई हिन्दी-कविता के लिए अभीष्ट नहीं है, छायावादी या रहस्यवादी कविता के लिए भले ही इसका कुछ महत्त्व रहा हो। इसी प्रकार 'अभिव्यक्ति का संकट', 'कहा सुना', 'क्या कहोगे'-जैसी कविताओं में कवि कलाकार की निर्वैयक्तिकता तक नहीं उठा सका है, फलतः अभिव्यक्ति हल्की हुई है।

कला की दृष्टि से मुझे ऐसा लगता है कि जगदीश गुप्त अपने-आपको परम्परागत काव्य-शैली से मुक्त नहीं कर पाए हैं। 'रव की भैरवता', 'न जल हो न जलन', 'निज भाल पर रूमाल', 'किसी कवि की कसी रस में बसी'—ऐसे मोहक शब्द-समूहों के जाल में वे प्रायः उलझ जाते हैं। यह बात नहीं कि आज का कवि रीतिकालीन शब्द-सौन्दर्य का सर्वथा तिरस्कार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके काव्य रचना करता है, पर उनको वह सहज-स्वाभाविक रूप में ही स्वीकार करना चाहता है, कृत्रिम रूप में नहीं। उन्हें क्या, ऐसे नये वाक्यांशों को भी जैसे 'कैनाइन टीथ' या 'स्लेटी तहें' हमें सर्वथा अकृत्रिम रूप में ही स्वीकार करना होगा। उन्हें बरबस खींच लाने से कविता का हित न हो पायगा। जगदीश जी ने एक-दो जगह व्याकरण की भूलें भी की हैं जैसे 'अधखुले द्वार' की यह पंक्ति :

"मैं ही अपने से कहा किया अपनी गाथा।"

या 'लो फिर सुनो" की यह पंक्ति—

"कि जिनको हर क़दम पर हाकने वाला ज़रूरत हो" पर मैं मान लेता हूँ को इस प्रकार की भूलें, भूलें ही हैं, जान-बूझकर तोड़ी गई व्याकरण की कड़ियाँ नहीं।

'नाँव के पाँव' नई कविता के एक यशस्वी कवि का संग्रह है। अतः इसकी ओर सभी प्रबुद्ध और संवेदनशील पाठकों का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक है। परन्तु मुझे आश्चर्य न होगा यदि 'नाँव के पाँव' के पाठक मेरी ही तरह, कुल मिलाकर, इस संग्रह से निराश हों—कम-से-कम पहले खण्ड की अधिकांश रचनाओं की ओर से। मैं समझता हूँ कि यदि जगदीश जी रचनाओं को काल-क्रम से न सँजोकर मिले-जुले रूप में रखते तो सभी के लिए अधिक अच्छा होता।

परम्परानुसार दो शब्द पुस्तक की छपाई-सफ़ाई पर भी कहना उचित मालूम होता है। इस दृष्टि से 'नाँव के पाँव' एक आदर्श प्रकाशन है। जगदीश जी स्वयं एक अच्छे चित्रकार हैं और उन्होंने सभी कविताओं का निचोड़ उनके नीचे दिये गए लघु-चित्रों में दे दिया है। सच पूछिए तो कई चित्रों को देखने के बाद कविताएँ उनके सम्मुख फीकी लगने लगती हैं। चित्रकार जगदीश को मेरी भूरि-भूरि बधाइयाँ।

यह जगदीश जी का पहला कविता-संग्रह है। जगदीश जी में अनुभूति है। वे अनुभूत को सचाई के साथ व्यक्त करने के लिए आकुल-व्याकुल रहते हैं। वे अपने और अपनों के दुःख-दर्दों में गहराई तक उतर सकते हैं। वे इन दुःख-दर्दों को सशक्त शब्दों और बिम्बों के माध्यम से हम तक पहुँचाने की ईमानदार चेष्टा करते हैं। ये सभी दुर्लभ गुण हैं, जो जगदीश से भविष्य में वे कृतियाँ लिखाकर रहेंगे जिनके स्वागत की तैयारी में मैं 'नाव के पाँव' का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।[1]

डा० कामिल बुल्के

मानस की 'रूसी' भूमिका

प्रस्तुत रचना के सम्बन्ध में यह सुनकर बड़ी उत्सुकता हुई थी कि यह तुलसी-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसे पढ़कर घोर निराशा हुई। प्रोफ़ेसर बरान्नीकोव

१. नाव के पाँव; लेखक—जगदीश गुप्त; प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सहृदयता तथा तुलसी पर उनकी श्रद्धा के स्पष्ट प्रमाण अवश्य मिलते हैं लेकिन इसमें कहीं भी ऐसी सामग्री नहीं है, जो तुलसी के अध्ययन के लिए अनिवार्य अथवा महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हो। अनुवादक का कहना है ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य लेखकों की अपेक्षा प्रो० वरान्निकोव का ऐतिहासिक दृष्टिकोण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[1] किन्तु आलोच्य पुस्तक के विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'वाल्मीकि रामायण' के बाद का राम-कथा-साहित्य लेखक के सामने नहीं आया, यहाँ तक कि 'अध्यात्म-रामायण' का भी उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त तुलसी की अन्य रचनाओं का भी निरीक्षण नहीं हुआ है। अतः तुलसी का प्रस्तुत अध्ययन अनिवार्य रूप से अधूरा तथा अपूर्ण ही होगा।

प्रथम अध्याय। 'तुलसी का युग' अत्यन्त संक्षिप्त है (पृ० १—८)। इसमें विशेष रूप से भारतीय संस्कृति पर मुसलमान विजेताओं का प्रभाव प्रस्तुत किया गया है। यह प्रभाव तुलसी की फारसी शब्दावली तथा विशेषकर नये धार्मिक पंथों के उद्भव में परिलक्षित है, "हिन्दू-समाज ने अपने को दो संकटों के बीच पाया। एक ओर तो असह्य अत्याचार, लूट-पाट और शारीरिक यन्त्रणा की आपदा थी······और दूसरी ओर मुसलिम प्रभाव से महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रसूत धार्मिक विरोधी शाखाओं (Hereues) आदि से उत्पन्न हिन्दू-समाज की आन्तरिक छिन्न भिन्नता का संकट" (पृ० ८)। गोस्वामी तुलसीदास ने इन संकटों को देख लिया, उन्होंने "अपनी आवाज़ उठाई और घोषणा की कि छुटकारा मिलेगा; तथा यह भी कहा कि भयंकर बर्बर शासकों से देश तथा उसकी संस्कृति की (युद्ध के समय) रक्षा देशवासियों की एकता में ढूँढ़नी पड़ेगी····" (पृ० १०)। 'तुलसीकृत रामायण—ऐतिहासिक स्तम्भ के रूप में' नामक नवें अध्याय में (पृ० १३६-४०) लेखक फिर मुसलमान शासकों के प्रति तुलसी के भावों का उल्लेख करते हैं। अब तक अनुसन्धानकर्ता यह मानते चले आ रहे हैं कि "तुलसी वाल्मीकि के संस्कृत-काव्यों का अनुसरण करते हुए पौराणिक नायक तथा धूमिल अतीत की कल्पनात्मक घटनाओं का वर्णन करते हैं। हमारे समय तक, एक भी अनुसन्धानकर्ता ने, आवश्यक रूप में तुलसीदास के काव्य के अपने युग से सम्बन्ध के प्रश्न पर विचार नहीं किया है। इस तथ्य की निरीक्षण बहुत कठिन नहीं है कि कल्पनात्मक नायकों के वेग और क्रिया-कलाप में तुलसीदास तत्कालीन भारत का चित्रण अत्यन्त स्पष्ट कर रहे हैं।······विशेष स्पष्टता से तुलसीदास मुसलमान शासकों की ओर से हिन्दुओं पर किये गए अत्याचार और हिन्दू-समाज की विच्छिन्नता का वर्णन करते हैं।······दाननों के शासक राजा रावण में इस देश को सताते और नष्ट करते हुए, भारत के मुसलमान शासकों को पहचानना कठिन नहीं है।"[2] प्रमाणस्वरूप बालकाण्ड से रावण-चरित की कुछ पंक्तियाँ, अयोध्याकाण्ड से भरत की एक उक्ति ("बेचहिंवेद धरम दुहि लेहीं") तथा उत्तरकाण्ड से कलियुग का विस्तृत वर्णन उद्धृत किया गया है। कलियुग के वर्णन पर तुलसी के समय की परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट है; उसे प्रायः सब समालोचक मानते ही हैं। लेकिन रावण में मुसलमान शासकों को पहचानना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

'तुलसीदास और उनकी कारयित्री प्रतिभा' शीर्षक द्वितीय अध्याय में (पृ० ९-१९) लेखक ने तुलसी की जीवनी-विषयक सामग्री के अभाव की ओर निर्देश किया है तथा उनकी

१. देखिए भूमिका, पृ० ६९।
२. पृ० १३६-१३७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बारह रचनाओं का उल्लेख किया है। जीवनी के सम्बन्ध में प्रो० वरान्नीकोव तुलसी की रचनाओं का अध्ययन सबसे आवश्यक समझते हैं वे मानस का यह उद्धरण देकर—

सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँति। अजु सुराजु कि गांडर तांती॥
कबिहि अरथ आखर बलु साँचा। अनहरि ताल मतिहिं नर नाचा॥

कहते हैं कि "अपने विषय में इससे अधिक दृढ़ (Concrete) उद्गार हमें तुलसीदास में नहीं मिलते (पृ० १४)। इस उक्ति से स्पष्ट है कि लेखक ने 'विनयपत्रिका' अथवा 'कवितावली' का अध्ययन नहीं किया है।

तृतीय अध्याय में 'तुलसीदास की रामायण की कथावस्तु' का संक्षिप्त वर्णन किया गया है (पृ० १७-४२)। इसमें भी कई अशुद्धियाँ हैं। उदाहरणार्थ—चित्रकूट पर राम का निवास जानकर "आकाशवासी देवता जंगली जातियों, कोल और किरात का रूप धारण करके जंगल के किनारों पर बस गए" (पृ० २५)।

'तुलसीदास की रामायण की प्रबन्धात्मकता' नामक चौथा अध्याय सबसे विस्तृत है (पृ० ४३-६२)। इसमें प्रोफेसर वरान्नीकोव ने पाँच कारणों का विश्लेषण किया है, जिनका प्रभाव मानस की प्रबन्ध-योजना पर पड़ा है, अर्थात् (१) पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा; (२) कवि के साम्प्रदायिक और दार्शनिक सिद्धान्त; (३) भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा; (४) विभिन्न छन्दों का तथा (५) तीन साहित्यिक भाषाओं का प्रयोग। **पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा** का विश्लेषण 'मानस' तथा 'वाल्मीकि रामायण'-मात्र की तुलना पर निर्भर है। कहीं भी 'अध्यात्म रामायण' अथवा मानस के अन्य आधार-ग्रन्थों का अध्ययन तो दूर, उल्लेख भी नहीं मिलता। उदाहरण-स्वरूप अहल्या की कथा दी गई है, जिसकी ओर तुलसीदास संकेत-मात्र करते हैं लेकिन जिसे वाल्मीकि ने विस्तार से वर्णित किया है। लेखक की धारणा है कि वाल्मीकि के अनुसार अहल्या गौतम के शाप के कारण १०,००० वर्ष तक पत्थर बन गई थी, सच बात यह है कि 'वाल्मीकि रामायण' में अहल्या के पत्थर बन जाने का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। कवि के साम्प्रदायिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में लेखक का इतनाही कहना है कि वाल्मीकि के नायक सूर्य-वंश के राजकुमार राम अब परब्रह्म के अवतार माने जाते हैं। बालकाण्ड का प्रायः आधा भाग रामचरित (जन्म, बालक्रीड़ा, विवाह) से सम्बन्ध रखता है, फिर कहा जाता है—"पहले काण्ड का केवल थोड़ा ही अंश राम से सम्बद्ध है और तीन चौथाई में राम के दार्शनिक स्वरूप, नैतिक समस्याएँ और राम के अवतार के तत्त्व की विशिष्टता का निदर्शन हैं" (दे० पृ० ५७)। भारतीय काव्यशास्त्र के (विशेषकर महाकाव्य के लक्षण-सम्बन्धी) नियमों के पालन ने भी मानस की प्रबन्धात्मकता को प्रभावित किया है इसके सम्बन्ध में प्रो० बरान्नीकोव मानस के वर्णनों का, जिनमें राम का नखशिख प्रधान है, तथा उनके सुभाषितों का उल्लेख करते हैं। इसके अनन्तर लेखक तुलसी द्वारा प्रयुक्त विभिन्न छन्दों का विश्लेषण करते हैं। वे क्रमशः चौपाई, दोहे, सोरठे और 'छन्द' का निरूपण करते हैं; 'छन्द' से इनका अभिप्राय हरि-गीतिका से है (चवपैया और त्रिभंगी का उल्लेख नहीं मिलता)। दो दोहों के बीच में चौपाइयों की बदलती हुई संख्या के विषय में इनका विचार यह है—"चूँकि तुलसीदास की कविता के वर्तमान रूप में, महत्त्वपूर्ण परिणाम में वृद्धि की गई है, यह सम्भव है कि कतिपय स्थिति में यह बढ़ी हुई चौपाइयाँ बाद में प्रक्षिप्त प्रमाणित हो सकें" (पृ० ६८) दोहे (सोरठे), और चौपाई के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में इनकी धारणा यह है कि दोहे (सोरठे) के द्वारा "सामान्यतया कहानी आरम्भ की जाती है या चार या अधिक चौपाइयों से निसृत निष्कर्ष व्यक्त किया जाता है। यह निष्कर्ष कहानी को और आगे प्रेरित करता है, जो चौपाइयों के रूप में चलती है" (पृ० ६६)। 'छन्द' (अर्थात् हरिगीतिका) के विषय में लेखक का विचार इस प्रकार है—"छन्द में कथा का प्रयोग कभी नहीं हुआ। यह काव्य के कथांशों के बीच भावातिरेक से पूर्ण निदर्शन के लिए पुनरावृत्ति करता हुआ प्रविष्ट होता है और पूर्ववर्ती चौपाइयों में जो-कुछ कहा गया है उसे विशेष प्रकार से साथ लेकर चलता है।···इसका प्रयोग अन्य छन्दों के साथ नियमित रूप से नहीं हुआ है" (पृ० ७०)। मानस के पाठक जानते ही होंगे कि अयोध्याकाण्ड में हरिगीतिका का प्रयोग नियमित रूप से ही हुआ है और कि बालकाण्ड-उत्तरार्द्ध के हरिगीतिका छन्दों में पुनरावृत्ति-मात्र नहीं हुई है, इनमें कथानक को भी आगे बढ़ाया गया है। लेखक यति-भंग की निम्नलिखित परिभाषा देते हैं—"पंक्ति के भाव के कुछ अंश का दूसरी पंक्ति में मौलिक रचनान्तरण करना" (पृ०७२)। उदाहरणार्थ :

तब रघुनाथ लंकेस के सीस भुजा सर चाप।
कारे भये बहुत बढ़े जिमि तीरथ कर पाप॥

इस प्रकार के स्थलों के विषय में लेखक समझते हैं कि प्रक्षेप की सम्भावना अधिक है। मानस की प्रबन्ध-योजना पर प्रभाव डालने वाला अन्तिम कारण यह है कि मानस में तीन साहित्यिक भाषाओं का प्रयोग हुआ है; अर्थात् अवधी, व्रज और संस्कृत। अन्तिम के विषय में लिखा है, "स्पष्टतया संस्कृत के प्रयोग का प्रधान उद्देश्य कविता को पूर्ववर्त्ती परम्परा से सम्बद्ध करना है" (पृ० ७४)। व्रज का प्रयोग, लेखक के अनुसार, हरिगीतिका छन्दों में हुआ है। अवधी तथा व्रज का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार समझाया गया है—"कवि अवधी में लिखे गए वस्तु विषय की पुनरावृत्ति और उसे विकसित करता हुआ शैली की उच्च भव्यता की अभिव्यक्ति के लिए व्रज का प्रयोग करता है" (पृ० ७६) और "व्रज भव्यतापूर्ण पुनरावृत्ति का प्रयोग करती है और उच्च शैली की विशिष्टता को प्रदर्शित करती है" (पृ० ८०)। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मानस की भाषा साहित्यिक अवधी है, वह बहुत-से स्थलों पर संस्कृत-गर्भित तथा व्रज-रंजित अवश्य है, किन्तु हरिगीतिका छन्दों में व्रज के स्वतन्त्र प्रयोग के विषय में प्रो० वरान्नीकोव का निष्कर्ष भ्रामक है। प्रस्तुत अध्याय के अन्त में मानस के प्रक्षेपों का पता लगाने के तीन उपाय बताए जाते हैं—(१) चूँकि तुलसीदास स्पष्टतया इंगित करते हैं और कई बार दोहराते हैं कि उनकी कविता राम की विख्यात कथा से भिन्न है, वह सोचा जा सकता है कि तुलसीदास की कविता की वाल्मीकि की कविता से समानता या नैकट्य का संकेत बाद की चीज है, जो कि उद्देश्य की निकटता से प्रवर्तित हुआ", (२) दो दोहों के बीच चौपाइयों की अधिक संख्या; (३) सुभाषित का प्रयोग : "बहुत-सी चौपाइयों के बाद इसके प्रयोग का तथ्य किसी त्रुटि की ओर संकेत देता है और पाठ के कलुषित होने का संकेत दे सकता है, जो कि बाद की प्रक्षिप्तता के फलस्वरूप घटित हुआ।" अन्तिम उपाय का कोई उदाहरण नहीं दिया गया है; प्रथम उपाय निराधार है तथा दूसरे उपाय के विषय में मेरा निवेदन यह है कि मानस में अर्द्धाली-समूह इतना अनिश्चित है कि इसके आधार पर प्रक्षेपों का पता लगाना वैज्ञानिक नहीं होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस अध्याय में एक ओर बहुत-सी भ्रामक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारणाओं का प्रतिपादन है और दूसरी ओर कथानक तथा प्रबन्धात्मकता का इतना विस्तृ विश्लेषण होने पर कहीं भी विभिन्न संवादों अथवा रचना-क्रम की समस्याओं की ओर संके नहीं किया गया है।

'तुलसी की कविता का विशिष्ट स्वरूप' शीर्षक अध्याय में (पृ० ८३-१०३) लेख ने रूसी पाठकों को भारतीय काव्य के प्रसिद्ध उपमानों का परिचय दिया है। अगले अध्याय 'तुलसीदास के दार्शनिक विचार' प्रस्तुत किये गए हैं (पृ० १०४-१२०)। इसमें विशेष उन बातों का उल्लेख होता है, जो पाश्चात्य पाठकों के लिए नवीन हों—ब्रह्म, जीव औ संसार का सम्बन्ध; अवतारवाद; जन्मान्तरवाद; कर्मवाद; भक्तिमार्ग। 'तुलसीदास के धार्मि विचार' नामक अध्याय में (पृ० १२०-१३०) लेखक ने मानस में उल्लिखित देवताओं वर्गीकरण इस प्रकार किया है—(१) वैदिक देव-मण्डल के देवता—इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, स स्वती (२) ब्राह्मणत्व के युग के देवता—ब्रह्मा, विष्णु और शिव। इस सिलसिले में तुलसीदास समन्वयवाद का उल्लेख हुआ है, अर्थात् इनका शैवों तथा वैष्णवों की उपासना में सामंज स्थापित करने का प्रयास। (३) परब्रह्म, जो राम के रूप में अवतार लेते हैं। 'तुलसीदास सामाजिक एवं नैतिक कथन' (पृ० १३१-१३५) शीर्षक आठवाँ अध्याय अत्यन्त संक्षि है। इसमें तुलसी के समाज-सम्बन्धी विचारों में विरोध दिखलाने की चेष्टा की गई है। ए भक्ति-मार्ग में प्रेम का ही सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है और जाति-भेद को मान्यता न मिलती और दूसरी ओर बहुत-से स्थलों पर वर्णाश्रम-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। लेख का अनुमान है—"सम्भवतः उनकी कट्टर परम्परागत उक्तियाँ, उन ब्राह्मणों द्वारा बाद की जोड़ी हुई प्रतीत होती हैं, जो निस्सन्देह तुलसीदास की प्रभुता और लोकप्रियता के सहारे अपने को ऊँचा उठाने की चेष्टा कर रहे थे" (पृ० १३३)। वास्तव में तुलसीदास के सामाजिक विचारों में कोई विरोध नहीं है। सब भक्ति के अधिकारी अवश्य हैं, लेकिन सब को अपने वर्ण का धर्माचरण करना चाहिए। वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन मानस में इतना व्यापक है कि उसे ब्राह्मणों द्वारा प्रक्षिप्त मानना कष्ट-कल्पना ही है। अन्तिम अध्याय, 'अनुवादक के स्वरूप के विषय में' (पृ० १४१-१४४), रूसी पाठकों के लिए ही है; इसमें अनुवाद-सम्बन्धी कठि नाइयों और विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

प्रो० वरान्नीकोव की रचना की उपर्युक्त त्रुटियों से विद्वान् अनुवादक अनभिज्ञ नहीं हैं। उन्होंने इनकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना अनुचित समझकर यह अप्रिय कार्य समालोचकों के लिए छोड़ दिया है। अप्रिय होते हुए भी यह कार्य अत्यन्त आवश्यक ही है, क्योंकि उत्तर भारत के महत्तम कवि के विषय में भ्रामक धारणाओं को यथासम्भव रोकना ही चाहिए। अनुवादक ने अपनी विस्तृत भूमिका में कुछ अंश तक मूल लेखक की त्रुटियों की पूर्ति की है तथा तुलसी-सम्बन्धी अपने विचार भी प्रकट किये हैं। 'प्रेम रामायण' तथा 'गौतम चंद्रिका' नामक पुस्तकों के विषय में, जिनकी हस्तलिपियाँ काशी में सुरक्षित हैं, अब कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रामाणिक सिद्ध होने पर इन दोनों रचनाओं के सहारे तुलसी के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत ही बढ़ेगी (दे० भूमिका पृ० २६-३३)। प्रस्तुत अनुवाद का परिशिष्ट 'गोस्वामी तुलसीदास और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में प्रमुख विदेशी विद्वानों के विचारों का सारांश', अत्यन्त उपयोगी है। इसमें गार्सां द तासी, ग्रियर्सन, ग्रीव्स आदि विद्वानों के तुलसी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धी विचारों का हिन्दी में अनुवाद और संकलन किया गया है। इसके लिए अनुवादक विशेष रूप से बधाई के पात्र हैं। इस परिशिष्ट में मैकफाई का अभाव खटकता है; आपने मानस पर २५४ पृष्ठ का ग्रन्थ लिखकर अंग्रेजी में तुलसीदास की लोकप्रिय रचना का सबसे विस्तृत विश्लेषण किया है। (दे० The Ramayan of Tulsidas, J. M. Macfie, Edinburgh, 1930)'

लक्ष्मीकान्त वर्मा

संत्रस्त पात्रों की घटनाहीन कथा

: १ :

परम्परागत उपन्यास-शैली को लेकर बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि आधुनिक मानव-जीवन की कथा को व्यक्त करने में वह उतना सफल माध्यम नहीं सिद्ध हो रही है जितना कि उसे होना चाहिए। काफी सीमा तक इस कथन में एक सूक्ष्म सत्य भी निहित है, क्योंकि उपन्यास के तथाकथित माध्यम और उसकी रूढ़िग्रस्त शैली आज के जीवन की अनेक मानसिक स्थितियों और विभिन्न परिस्थितियों को सम्पूर्ण समग्रता के साथ ग्रहण करने में असमर्थ ही नहीं, अनुभव-शून्य भी है। इसके कई कारण हैं—(१) सर्वप्रथम तो यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आज उपन्यास न तो केवल मनोरंजन की वस्तु रह गया है और न ही वह केवल कथा-प्रवाह का माध्यम-मात्र रहकर जीवित रह सकता है। (२) दूसरा कारण, जिसे स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए, आज के मानव-जीवन की कथा यथार्थ से पृथक् केवल कल्पना के आधार पर नहीं व्यक्त की जा सकती। (३) आज मानव-जीवन की निर्लेप तटस्थता का भी कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि आज के सापेक्ष मूल्यों की जड़ में व्यक्ति आचरण का आग्रह है और इन आग्रहों के बीच ही जीवन का नया दृष्टिकोण नित्य-प्रति विकसित होता जा रहा है। (४) यह मानना होगा कि आज की जीवन-परिधि अपेक्षाकृत पूर्व जीवन-वृत्त से बहुत बड़ी होने के साथ अधिक व्यक्तिवादी भी हो गई है। किसी भी कथा के तत्व में व्यक्ति-मर्यादा और समाज-सत्य के परिप्रेक्षण सर्वथा नये आयामों और संदर्भों की माँग कर रहे हैं। (५) मानव-मनोविज्ञान की जटिलता भी आज की कथा-शैली की संवेदना को प्रभावित करती है। परम्परागत शैली की सीमाएँ हैं और इन सीमाओं के भीतर आज की मानव-गाथा का विस्तार होना कठिन है।

अस्तु, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नवीन उपन्यास आधुनिकतम जीवन की जटिलताओं को

१. मूल लेखक—स्व० श्री० ए० पी० वरान्नीकोव। अनुवादक—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल। प्रकाशक—विद्या मन्दिर लखनऊ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज से २० साल की पृष्ठभूमि में रखकर परम्परागत उपन्यास-शैली के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास है। यही कारण है कि आधुनिक जीवन की समस्त समस्याएँ, मनोग्रन्थियाँ और अनुभूतियाँ केवल विकृति के रूप में ही व्यक्त होकर उभरी हैं, उनमें वह औचित्य नहीं आ सका है जो किसी भी सफल उपन्यास के लिए अपेक्षित है। इससे भी अधिक विचित्र बात इस उपन्यास में यह है कि अनेक भाव-स्थल इस सम्पूर्ण कृति में ऐसे हैं जो केवल शिल्पगत दुरूहता के कारण पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाए हैं। पात्रों के विश्लेषण में भी स्वयं लेखक का वक्तव्य प्रधान है। पात्रों का कार्य-व्यवहार और उनकी स्वाभाविकता की अपेक्षा लेखक का नोट अधिक श्रेयस्कर समझा गया है। ऐसा लगता है जैसे अश्कजी अपने पात्रों को इतना अधिक नियन्त्रित और अनुशासित रखना चाहते हैं कि उनका प्रत्येक आचरण स्वाभाविक भले ही न हो, उनके मनोनुकूल होना स्वाभाविकता से भी अधिक श्रेयस्कर है। आधुनिक उपन्यास-शैली को देखते हुए उनकी यह रचना-प्रक्रिया खरी नहीं उतरती और तब ऐसी परिस्थिति में केवल ऐसे 'हिप्नाटिक' पात्र बनकर रह जाते हैं जिनमें रीढ़ की हड्डी तक उधार ली हुई मालूम पड़ती है, जैसे उनका स्वयं का अस्तित्व कुछ है ही नहीं।

: २ :

एन्थानी ट्रालोपो ने इन्हीं परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर लिखा है:

"The novelist's characters must be with him as he lies down to sleep and as he wakes from his dreams. He must learn to hate and to love them. He must argue with them and even submit with them."

किन्तु अश्कजी ने इसके विपरीत पात्रों के साथ जीवन-चेतना का संसर्ग स्थापित करने की अपेक्षा 'हिप्नाटिज्म' की शैली का प्रयोग किया है। जहाँ एक अच्छे उपन्यास में लेखक और पात्रों का अनुभूत्यात्मक सम्पर्क इसमें नई स्फूर्ति पैदा कर देता है वहाँ अश्कजी का उपन्यास इस अनुभूत्यात्मक सम्पर्क के अभाव में मात्र चेतनाशून्य स्थिति पैदा करके पात्रों को काठ के पुतले-सा नचाता हुआ प्रतीत होता है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' का प्रत्येक पात्र अपनी स्वाभाविक मनःस्थिति में नहीं रह पाता। उसके ऊपर एक ओर 'देवा जी' का आतंक है और दूसरी ओर लेखक का अनावश्यक हस्तक्षेप। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि ये पात्र अपनी अनुभूत स्थिति से विस्थापित तो हैं ही, साथ ही लेखक की पैनी दृष्टि से इतने अधिक बँधे हैं कि उनकी निष्कृति ही नहीं हो पाती। उपन्यास के सभी पात्र स्वयं अपनी प्रकृति से तटस्थता निभाने में निपुण हैं। न तो उनसे घुल-मिलकर घटना विकसित करने का प्रयास है, न उन पात्रों को इसकी स्वतंत्रता ही प्राप्त है।

अस्तु 'बड़ी-बड़ी आँखें' केवल संत्रस्त पात्रों की घटनाहीन कथा बनकर रह जाता है। समूह-का-समूह दबी हुई इच्छाओं (repressed wishes) का एक विक्रान्त दल है, जो देवाजी-जैसे आदर्शवादी नेता के खोखलेपन को चित्रित करने के लिए मोम के पुतले-सा कोमल और कठोर काठ की मोहरों-सा निर्जीव है। यदि देवाजी का खोखला आदर्शवाद इस आन्तरिक मानसिक अस्वस्थता के कारण यथार्थ स्वीकार करने में असफल रहा है तो दूसरी ओर वह यथार्थ भी उतने सशक्त स्वरों में नहीं उभर सका है जितना कि उपन्यास के विस्तार को देखते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए आवश्यक है। ऐसा नहीं है कि उपन्यास में तीव्रतम अनुभूतियों की अवहेलना की गई हो, किन्तु यह सत्य है कि केवल लेखक के अनावश्यक हस्तक्षेप के कारण वे नहीं उभर सकीं। शैली-गत रूढ़ियाँ और उनकी दुरूहता के कारण माध्यम यथार्थ को नहीं वहन कर पाया है।[1]

इस उपन्यास की मनःस्थिति यह है कि सारी कथा परोक्ष की घटना बनकर सामने प्रस्तुत होती है। यह परोक्ष ही आतंकित वातावरण को पैदा करता है। प्रायः सभी पात्र एक-दूसरे को शंकित दृष्टि से देखते हैं। देवाजी अपनी धर्मपत्नी से आतंकित हैं; मधावट साहब देवाजी की सौम्यता से आतंकित हैं; ज्ञानीजी स्वयं अपनी आदर्शवादिता के मिथ्या बोझ से संत्रस्त हैं; तीरथराम अपनी मूर्खता से पीड़ित है; संगीत अपने वैचित्रिक अहम् से आक्रान्त है; वाणी अपने मानसिक दबावों के कारण रुग्ण है; नंबी अपने संस्कारों से प्रताड़ित है; नन्दलाल एक पछतावे के साथ समझौता करता घूम रहा है। सारा आश्रम विकल मनःस्थिति वाले व्यक्तियों का ऐसा विचित्र संग्रहालय है कि स्वाभाविकता और औचित्य दोनों को ठेस पहुँचती है।

यद्यपि यह सही है कि आज के सामाजिक गठन में व्यक्ति का स्वातंत्र्य एक बहुत बड़ी समस्या बनकर उपस्थित हो गया है, फिर भी इस उपन्यास का एक भी पात्र न तो आदर्शवादी जीवन के प्रति श्रद्धा रखता हुआ दिखलाई पड़ता है और न इस सामाजिक बाह्यारोपण के प्रति विद्रोह ही कर पाता है। कोई भी निजी प्रतिज्ञा (Self-commitment) जीवन के सम्पूर्ण अस्तित्व से बड़ी नहीं हो सकती, किन्तु इस उपन्यास में जिन संभावनाओं का आभास मिलता है, वे विचित्र हैं।

(१) क्या कोई भी सामाजिक व्यवस्था समूची मानव-आस्था को इस प्रकार विकीर्ण कर सकती है कि उस वातावरण में कोई भी ऐसा पात्र न विकसित हो जो समस्त दुराग्रहों के प्रति विद्रोह कर सके या उनके विरोध में नये उभरते हुए जीवन-सत्यों को सबलता या सफलता के साथ प्रस्तुत कर सके? (२) यदि यह मान भी लिया जाय कि अश्कजी का विश्वास 'कम्यून' या आश्रम के जीवन के प्रति नहीं है तो क्या संगीत-जैसे नायक का चुपचाप समस्त कम्यून-आदर्श को त्यागकर चोरी से भाग जाना उचित है? यदि है तो इससे 'कम्यून' की रूढ़ियों में कमी कहाँ आती है। (३) कम्यून का रेजीमेण्टेड जीवन क्या इतना कठोर सत्य है कि उसके विरोध में कुछ भी कहना असंभव है? संगीत का जो नायक है, जो शिक्षित और जागरूक सदस्य है उसका इन थोथे विचारों के विरुद्ध आत्म-समर्पण यह सिद्ध करता है कि कोई भी व्यवस्था—चाहे वह आश्रम के रूप में हो या कम्यून के—व्यक्ति-स्वातंत्र्य की हत्या करती है। (४) एक सत्य, जो समस्त उपन्यास के कथा-तत्त्व से स्वतः विकसित होता है वह यह है कि इस प्रकार के 'कम्यून' अथवा आश्रम में फासिस्टवादी अधिनायकत्व का प्रधान स्थान होता है, जो मनुष्य से उसकी समस्त विवेक-शक्ति और चिन्तन-शक्ति को छीन लेता है, साथ ही उसे आत्मा के विरुद्ध समझौता करने के लिए बाध्य भी करता है। (५) फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि इस प्रकार का जीवन उन घृणित परिणामों में उपजता है तो फिर संगीत और वाणी

१. "The desire for worthiness in the artists' mind depends upon the conception of ideal forms which if not attainable are at least conceivable. The belief in a conceivable perfection of expression is at the very root of all artistic effort. No true artist is ever long satisfied with his own attainments."

—H. Caudwell.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे पात्रों के सामने तीरथराम-जैसे निम्न वर्ग के व्यक्ति का पराजित होना आवश्यक हो जाता है और यदि वह इस पराजय को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर उस व्यवस्था को खण्डित करने की शक्ति किसमें आयेगी ?

बात जो भी हो, समस्त उपन्यास को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि लेखक व्यक्ति-स्वातंत्र्य के पक्ष में है। आश्रम और देवाजी सामूहिक जीवन के खोखले आदर्शवाद के प्रतीक हैं। व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता इस प्रकार के रेजीमेण्टेड जीवन से पृथक् होकर ही रक्षित रख सकता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि लेखक की समस्त सहानुभूति बाह्यारोपित सामाजिक सत्य पर नहीं है, जिसमें कुण्ठाओं और कुत्सित मनोग्रन्थियों का बाहुल्य है। अश्कजी के उपन्यास के ये निष्कर्ष व्यापक मानव-जीवन की व्यक्ति-निष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हैं। आज के मनुष्य को किसी भी आदर्शवाद के माध्यम से (चाहे वह गांधीवाद हो या कम्यूनिज्म, चाहे वह देवाजी का आश्रम हो या कोई राजनीतिक पार्टी का कम्यून) रेजीमेण्टेड जीवन-प्रणाली की घुटन में कैद करके नहीं रखा जा सकता। हो सकता है कि अश्कजी का नायक संगीत चुपके-से उस व्यवस्था से फरार होकर मुक्त हो जाने में ही सफलता मान सके, किन्तु अन्य व्यापक जीवन का प्रतिनिधि व्यक्ति उस रेजिमेण्टेड जीवन के प्रति चोट करने में नहीं चूकेगा और उसका चोट करना शायद अधिक यथार्थ भी होगा।

: ३ :

साधारण मनोवैज्ञानिक आधार पर 'बड़ी बड़ी आँखें' दबी, कुण्ठाग्रस्त मनःस्थितियों वाले पात्रों का एक समूह है जो पुंस्त्वहीन उमस में घुट-घुटकर विकसित होता है और वह उमस और घुटन ऐसी है कि उसके शिकंजे में प्रायः सभी पात्र अर्द्धविक्षिप्त मनःस्थिति में ऐंठ-ऐंठकर रह गए हैं। चाहे वह उपन्यास का नायक संगीत हो, चाहे वह वाणी हो, चाहे रामतीर्थ हो या देवा जी की धर्मपत्नी हो, सभी विक्षिप्त हैं। देवाजी की पत्नी का व्यक्तित्व तो "कामरू कमच्छा" के देश की उस जादूगरनी-सा है जो प्रत्येक पात्र को भेड़ या बकरी बनाकर रखने में ही रस लेती है और शेष पात्रों की कृत्रिम हलचल ठीक उसी प्रकार लगती है जैसे सब-के-सब एक ठहराव में उपजे हुए कीटाणु हैं, जो केवल अपना जीवन-परिचय मात्र पानी की सतह पर कृत्रिम संकेतों द्वारा देते हैं। जो इनसे पृथक् हैं वे केवल विक्रान्त दासों की भाँति केवल परोक्ष में दबी-दबी असन्तुष्टता प्रकट करते हैं। वे न तो जीवन की मूल प्रकृति को अपना पाते हैं न उसकी विकृतियों में रस ही ले पाते हैं। सारा उपन्यास जिस विरोधाभास में पनपता है उसमें वे पेट के बल सरकने वाले जीव लगते हैं—लगते हैं इसलिए कि यदि वे सफलता के साथ ऐसे चित्रित किये गए होते तो भी कला की दृष्टि से उसमें कोई आपत्ति नहीं होती, किन्तु खेद तो इस बात का है कि वे वैसे भी नहीं हो पाए हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अभाव माध्यम को शिथिल और प्रेषणीयता की दृष्टि से कमजोर बना देता है।

संगीत और वाणी का मौन प्रेम भी इसी प्रकार का है जिसमें स्वास्थ्य की अपेक्षा रुग्ण मानसिक काई अधिक है। विरोधाभास यह है कि संगीत प्रौढ़ नायक है, जिसकी पत्नी मर चुकी

१. You try to replace quality by quantity and forget that all quantities raised to an infinite power are the same. By pounding on the keys with a hammer you merely break the string." —Middleton Murry.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और वाणी का अक्षत कुँआरापन—जिसे संगीत नन्ही बालिका के रूप में सर्वप्रथम स्वीकार करता है—उपन्यास के स्तर को स्वाभाविकता नहीं दे पाते। संगीत भी उपन्यास के अन्त तक पूरा तीर्थराम का प्रतिरूप बन जाता है। यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य होता यदि संगीत के व्यक्तित्व को लेखक के पूर्वाग्रहों से मुक्ति मिल पाती। लेकिन ऐसा न होकर वह एक असन्तुलित यौन-जिज्ञासा से प्रताड़ित प्रेतात्मा बनकर ही रह गया है। ठीक इसी प्रकार का व्यवहार वाणी का चरित्र है। वाणी का समूचा व्यक्तित्व उस रेजिमेण्टेड कम्यून टाइप जीवन के शिकंजे में इतना कसा हुआ है कि उसकी निष्प्राण बड़ी-बड़ी आँखें ही उपन्यास में आ पाई हैं उसका व्यक्तित्व नहीं। कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि वाणी संगीत के जीवन में स्वतः अपनी इच्छा-शक्ति से प्रवेश करती है किन्तु उसका समूचा व्यक्तित्व अनावश्यक सीमाओं में केवल समझौता बनकर रह गया है। उपन्यास का हल्का रोमान्स आश्रम के किचेन से आगे नहीं बढ़ पाता। यदि यह उस रेजिमेण्टेड जीवन का परिणाम होता तो भी उचित होता। किन्तु ऐसा न होकर वह समूचे उपन्यास के ढाँचे के दोष के कारण हुआ है इसलिए यह मनोवैज्ञानिक कृत्रिमता भी विचित्र लगती है।

देवा जी-जैसे पात्र आज हमारे समाज में बहुत मिल जायँगे किन्तु उपन्यास में देवा जी का व्यक्तित्व भी उन समस्त सम्भावनाओं के साथ नहीं प्रस्तुत हो सका है। जैसा कि स्पष्ट है उसका एक-मात्र कारण यह है कि क्या देवा जी और क्या उपन्यास का कोई और पात्र सब किसी जादूगर की झोली में बन्द खिलौने के समान हैं जिनका स्वयं का कुछ अस्तित्व ही नहीं है, वे केवल प्रदर्शित किये जाते हैं स्वयं प्रदर्शन नहीं करते। सबसे बड़ी बात है कि लगभग दो-ढाई सौ[1] पृष्ठों के इस उपन्यास में केवल एक छोटी-सी घटना गुलाम नबी को लेकर घटती है बाकी सारी कथा वर्णनात्मक मानसिक उपज है। वक्तव्य में भी कोई रस नहीं रह जाता, क्योंकि परिस्थितियों का संघर्ष और उत्कर्ष, उसकी उलझन और उलझनों में व्यक्तित्व को अपना पार्ट निभाने का कोई अवसर ही नहीं आता। कुछ पात्र तो ऐसे हैं कि बिना उनके कथा की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता जैसे मधवार साहब, नन्दलाल या कुलवीरसिंह इत्यादि!

कुछ पात्र तो अर्द्धविकसित-से केवल मूक छाया की भाँति उपन्यास में आते हैं। जिनका न तो कोई महत्त्व है और न कोई आकार-प्रकार। उपन्यास या नाटक में ऐसे पात्रों का क्षणिक प्रवेश निषिद्ध नहीं है किन्तु जब कभी ऐसे पात्र लाए जाते हैं तो जिस क्षण की पूर्ति के लिए वे प्रस्तुत होते हैं उस क्षण के वे जीवन्त तत्त्व होते हैं और अपने उस क्षणिक जीवन-काल में अपना एक अद्भुत प्रभाव भी छोड़ जाते हैं। 'बड़ी बड़ी आँखों' के पात्र इस प्रौढ़ता के साथ नहीं आते। परिणामस्वरूप वे महत्त्वहीन पैराशाईट के रूप में केवल फेन की तरह उपजते हैं और मिट जाते हैं।

वाणी और संगीत को जिस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भाव-स्तर पर 'अश्क' जी विकसित करना चाहते थे उसमें भी सफलता नहीं मिली है। दूसरा एक-मात्र कारण यह है कि सहानुभूति और प्रेम के भाव-स्तरों में जो मूल अन्तर है उसको जाने बिना ही इन पात्रों का चित्रण किया गया है। वास्तव में सहानुभूतिपरक रागात्मकता (Sympathetic feeling) और प्रेम-भावना

१. "What is making his works seem old-fashioned is precisely his alure of truth to detail." —Delocroix.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Love feeling) में बड़ा बारीक अन्तर है। वाणी का तथाकथित प्रेम केवल सहानुभूतिपरक रागात्मकता की सीमा तक विकसित हो पाता है। इन दोनों भाव-स्तरों को लेकर भी अच्छी ट्रैजेडी लिखी जा सकती है, किन्तु इन दोनों भाव-स्तरों को एक-दूसरे में मिला देने से और विवेक स्थापित न कर पाने से उपन्यास सर्वथा कमजोर हो गया है।

यहाँ पर एक बात कह देना और भी आवश्यक है कि निराशा और दुःखान्त में वही अन्तर है जो Frustration और Tragedy में है। तीरथराम निराश और पराजित पात्र है। संगीत केवल अपनी दुःखद मनःस्थिति के नाते विषादमय है किन्तु उपन्यास के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते इन दोनों पात्रों का आचार एक प्रकार-सा हो जाता है। तीरथराम की तरह संगीत भी वाणी को देखकर घबरा जाता है। वाणी की सारी सक्रियता और सम्भावना को संगीत केवल आदर्श की आड़ में उपेक्षित और तिरस्कृत करके वास्तविक वस्तुस्थिति में वही कर बैठता है जो तीरथराम करता है। एक दूसरी दृष्टि से संगीत पुन्स्त्वहीन नायक की भाँति भाग जाता है। वह परिस्थितियों का सामना करने के बजाय उनसे कतराकर निकल जाना ही श्रेयस्कर समझता है। ऐसा इसलिए हो सका है कि संगीत और तीरथराम के संस्कारों का आत्मदर्शन स्वयं लेखक को नहीं हो पाया है। यही कारण है कि उपन्यास भावस्तर पर रूढ़िग्रस्त परम्परा के विरुद्ध विद्रोहात्मक भावना प्रस्तुत करने के बजाय निराशा (Frustration) ही स्थापित कर पाता है।

टैबूज़ और पूर्वाग्रहों का मखौल उड़ाने के बजाय, या उनको तोड़कर नये स्वच्छ और सुन्दर विधान को विकसित करने के बजाय, उपन्यास में उनका समर्थन और उनकी अपूर्व शक्ति के सामने पराजय स्वीकार करने की भावना अधिक सबल रूप से व्यक्त हुई है। सारा उपन्यास इन्हीं टैबूज़ के वातावरण में लिपटा हुआ है। वाणी किचेन और डाइनिंग हाल के माध्यम से अपना प्रणय विकसित करना चाहती है, पिछले प्रेमियों के समान किचेन से लगे हुए टब में जूठे बरतनों को रखते समय केवल मौन आँखों के संकेत से उभरा हुआ अनुराग इतनी बड़ी कथा का सूत्रपात करता है। इन्हीं टैबूज़ का काम्प्लेक्स तीरथराम को भी है जो अर्द्ध-विक्षिप्त उद्दण्डता का प्रतीक बना फिरता है। ज्ञानी जी और स्वयं देवाजी का टैबूज से संत्रस्त व्यवहार करना तो उपयुक्त है ही। ऐसी स्थिति में हुआ यह है कि उपन्यास का कथानक भी घुटकर रह गया है। इसके बदले होना यह चाहिए था कि इन टैबूज़ और पूर्वाग्रहों की असमर्थता साधारण जीवन के स्वस्थ व्यवहार के समक्ष उभरकर व्यक्त होती। इस दृष्टिकोण से एक बार फिर यह कहना पड़ता है कि माध्यम के शिल्प का चुनाव (Choice of medium) यदि व्यंग्य या सीधा-सादा वर्णन होता तो शायद अधिक सफल होता।

यह तो हुई उपन्यास की मनोवैज्ञानिक असमर्थता। परिप्रेक्षण एवं दृष्टिकोण की दृष्टि से भी इस उपन्यास को देखना आवश्यक है, क्योंकि शिल्पगत एवं कथा के मनोवैज्ञानिक विकास के अभाव में यदि मात्र दृष्टिकोण या परिप्रेक्षण (Perspective) की नवीनता उसकी बृहत् व्यापकता भी किसी उदात्त मानव-मूल्य से सम्बन्धित हो तो भी रचना का महत्त्व बढ़ जाता है। इस दिशा में भी हमें उपन्यास में विशेष नवीनता नहीं दिखलाई पड़ती। एक ओर तो इसका कैनवेस इतना छोटा है कि उसमें सीमित परिस्थितियों के वातावरण में और कथानक के चयन में इस बात की कम सम्भावना हो सकी है। इसके साथ यह सम्भावना नष्ट भी हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु परोक्ष रूप से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समूह-निर्देश का संघर्ष इसमें अधिक उभरकर आया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह उपन्यास किसी भी प्रकार के रेजीमेण्टेड जीवन की असफलता सिद्ध करने का प्रयास है। 'अश्क' जी आज के इस युग के इस ज्वलन्त प्रश्न से अपने को नहीं बचा पाए हैं। निश्चय ही कथानक के लिए चुना गया स्थल कोई राजनीतिक कम्यून नहीं है फिर भी देवा जी का आश्रम मूल रूप में कम्यून के आधार पर ही विकसित हुआ है और वह कई ऐसे प्रश्न उठाता है कि जिनका सम्बन्ध कम्यून के बाह्यारोपित मतवाद और व्यक्ति के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य से है। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास का उद्देश्य इस बाह्यारोपित समूह-चेतना की अपेक्षा व्यक्ति-विवेक को अधिक मूल्यवान मानता है और इस बात की प्रेरणा देता है कि इन थोथे आदर्शों के माध्यम से जीवन का सत्य नहीं देखा जा सकता, व्यक्ति की आत्मनिष्ठा और उसके स्वत्व को मिटाकर कोई भी आदर्शवाद स्वस्थ रूप से नहीं विकसित हो सकता। केवल इस तथ्य का समर्थन जिस रूप से उपन्यास में विकसित हुआ है वह आधुनिकतम मूल्यों को उभारकर रखता है। यद्यपि सक्रिय रूप से लेखक उस व्यक्ति-मर्यादा का साथ नहीं दे पाया है फिर भी जिस अंश में और जिस मात्रा में यह सत्य उद्घाटित हुआ है वह प्रशंसनीय है।

एक समस्या और भी बहुत तीव्र ढंग से व्यक्त हुई है और वह यह कि क्या अभियोगी संस्कार से वर्ग विशेष मुक्त हो सकता है? गुलाम नबी का व्यक्तित्व यह प्रश्न प्रस्तुत करता है। संगीत इस प्रश्न को ग़लत सिद्ध करने का प्रयास करता है किन्तु कड़े रेजिमेण्टेड अनुशासन में इस सामाजिक प्रश्न पर प्रयोग करने का अवसर नहीं मिल पाता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस प्रकार के आश्रम या कम्यून द्वारा मूलभूत समस्याओं का निराकरण करना लेखक सदैव असम्भव समझता है, क्योंकि इस प्रकार के जीवन में बनावट अधिक होती है, यथार्थ कम। दूसरे यह कि इस प्रकार के प्रत्येक जीवन में व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा अंश सामूहिक अनुशासन के नाम पर किसी व्यक्ति-विशेष को समर्पित कर देना पड़ता है जिसका परिणाम यह होता है कि छोटे-से-छोटे मानवीय प्रश्न पर भी व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आज्ञा पाना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो जाता है।

उपन्यास में गुलाम नबी का प्रवेश बहुत ही सफलता से उपन्यास को उभार दे सकता था। अन्त में चाहे संगीत को उस समस्या पर सफलता मिलती या न मिलती—ये प्रश्न दूसरे थे—किन्तु यह समस्या उपन्यास को एक गहराई प्रदान कर सकती थी किन्तु शिल्पगत कमजोरी के कारण यह सफलतापूर्वक उभारा नहीं जा सका है और असाधारण घुटन के वातावरण में इस पात्र की अकाल मृत्यु भी हो जाती है। काश कि उपर्युक्त मनोग्रन्थियों से यह उपन्यास मुक्त होता और तब इस पृष्ठभूमि में कथा का स्रोत स्वाभाविक रूप में विकसित होता।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि 'अश्क' जी का यह प्रयास सराहनीय है, क्योंकि इससे उनके विचार-दर्शन पर काफी प्रकाश पड़ता है। वह व्यक्ति-मर्यादा के समर्थक हैं, साथ ही वह उस रेजीमेण्टेड जीवन के विरोधी भी हैं जिसमें झूठे आदर्शवाद के नाम पर वास्तविक स्वतन्त्रता नष्ट होती है। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि अश्कजी संस्कार-च्युत गुलाम नबी-जैसे मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों वाले दयनीय वर्ग के प्रतिनिधि के प्रति उस प्रकार नहीं सोचते जिस प्रकार कि रेजिमेण्टेड जीवन-विधान में सोचा जाता है। जहाँ तक इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक विकृतियों का प्रश्न है, लगता है अश्कजी क्रिश्चियन उदारता के समर्थक हैं।

हम आशा कर सकते हैं कि अश्कजी इस प्रकार की अन्य समस्याओं पर इतनी ही स्वतन्त्रता के साथ किन्तु अधिक प्रौढ़ शिल्प का परिचय देते हुए अधिक मर्मस्पर्शी कृति देंगे। उपन्यास की छपाई और गेट-अप सुरुचिपूर्ण है। हिन्दी-उपन्यासों की प्रकाशन-विधि को देखते हुए यह पुस्तक सुन्दर ढंग से छापी गई है। इसके लिए 'नीलाभ प्रकाशन' की प्रशंसा की जानी चाहिए।[1]

मोहन राकेश

एण्टन चेखव : एक इंटरव्यू

अक्तूबर १८८६ में एलेक्सी प्लेश्च्येव के नाम लिखे एक पत्र में चेखव ने लिखा था : "मेरे लिए संसार की सबसे पावन वस्तु है मनुष्य का शरीर, उसका स्वास्थ्य, उसकी प्रतिभा और बौद्धिक शक्ति, उसकी प्रेरणा, स्नेहशीलता और आज़ादी···किसी भी रूप में व्यक्त होने वाले अत्याचार और और फ़रेब से पूरी आज़ादी।" राजेन्द्र यादव ने चेखव के इसी मानववादी व्यक्तित्व को उन्हींके शब्दों के आश्रय से 'एण्टन चेखव : एक इंटरव्यू' में प्रस्तुत किया है।

इस पुस्तक के सम्बन्ध में पहली उल्लेखनीय बात इसका शिल्प है। प्रसिद्ध लेखकों और कलाकारों के साथ काल्पनिक इंटरव्यू लिखने की बात नई नहीं है, परन्तु उस इंटरव्यू में उस लेखक की सभी उक्तियाँ प्रामाणिक रूप से उसीकी हों, यह प्रयत्न नया अवश्य है और राजेन्द्र यादव ने जिस सफलता के साथ उसका सम्पादन किया है उससे सचमुच कई जगह विस्मित होना पड़ता है। पुस्तक को वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने से पूर्व लेखक को चेखव के कितने पत्र और संस्मरण पढ़ने पड़े हैं, इसका अनुमान हर पृष्ठ के नीचे दिये गए पुस्तक-संकेतों को देखकर हो सकता है। कई जगह एक ही रौ में चेखव के मुँह से जो वाक्य कहलाये गए हैं, उन्हें तीन-तीन, चार-चार अलग स्रोतों से लेकर इकट्ठा किया गया है। इससे पुस्तक के वातावरण में कहीं अयथार्थता या बनावटीपन नहीं आया, यह इसकी बहुत बड़ी सफलता है। इसके अतिरिक्त मास्को के ठिठुरा देने वाले जाड़े में रुग्ण-शय्या पर पड़े हुए उस महान् कथाकार से इंटरव्यू लेने जाने का दिन और समय भी लेखक ने वही रखा है जब डाक्टरों ने कुछ लोगों को उनसे मिलने की अनुमति दे दी थी। "आइये" कहकर उनके स्वागत के लिए चेखव के अपना निर्जीव हाथ बढ़ाने से लेकर, चेखव के घर से निकलकर निरंजन के यह कहने तक कि "बुड्ढा है ज़िंदा दिल" कहीं यह आभास भी नहीं

---

1. 'बड़ी बड़ी आँखें'; लेखक—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'; प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता कि यह इंटरव्यू काल्पनिक है, सिवा उस स्थिति के जहाँ लेखक ने समसामयिक हिन्दी-साहित्य की कुछ समस्याओं की ओर संकेत किया है। परन्तु पुस्तक का वह अंश और दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुतः लेखक ने पुस्तक की रचना ही इस उद्देश्य को लेकर की है कि हिन्दी-साहित्य के आज के गतिरोध के प्रश्न और नये लेखक की वैयक्तिक समस्याओं को चेखव के जीवन के परिपार्श्व में रखकर यह दिखाया जा सके कि हमारी आज की परिस्थितियाँ हमारे लिए नई हों परन्तु इतिहास में उनकी पुनरावृत्ति होती रहती है···कि हर काल के आलोचक को समकालीन साहित्य में गतिरोध का आभास होता है, क्योंकि आलोचक को गतिरोध का नारा ही अपनी स्थिति के लिए सबसे सुविधाजनक प्रतीत होता है। चेखव के काल में भी गोलत्सेव और उनके साथियों का मत था कि नये लेखक कोई बड़ी चीज लिख ही नहीं सकते, क्योंकि उनमें विचारों की गहराई का अभाव है। और आज हिन्दी के कुछ आलोचकों की लेखनी से प्रायः पढ़ने को मिल जाता है कि आज के लेखकों को समाज के गहन अन्धकार में हाथ मारे नहीं सूझता और कि नई कहानी में उत्तरोत्तर कथा-तत्त्व का ह्रास हो रहा है। ये उद्घोषणाएँ, उन जंगल की आवाजों की तरह हैं जिन्हें जो सुनता है वही मारा जाता है। चेखव ने जिस जिंदादिली के साथ आलोचकों की स्थिति का वर्णन किया है, उसे पढ़कर सचमुच कुहरा छँट जाता है और जोर से क़हक़हा लगाने को मन होता है।

'एगटन चेखव : एक इंटरव्यू' की रचना का एक और भी उद्देश्य है जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं। चेखव को उनके बाद के अधिकांश आलोचकों ने संसार का सबसे सफल कथा-शिल्पी माना है, हालाँकि स्वयं चेखव का अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक यही कहना रहा कि उन्होंने जो-कुछ लिखा है सब कूड़ा है और वे अपने मन की एक भी चीज नहीं लिख पाए। रुचि के साथ चेखव को रचनाओं को पढ़ने वाले व्यक्ति की उनके जीवन और व्यक्तित्व में दिलचस्पी होनो स्वाभाविक है। चेखव के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने वाली अधिकांश सामग्री, जिसमें चेखव के पत्र, संस्मरण और चेखव के सम्बन्ध में दूसरों के लेख और संस्मरण सम्मिलित हैं, या तो अप्राप्य है और या साधारण पाठक की खरीदने की सामर्थ्य से बाहर की चीज है। उस सारी सामग्री का निचोड़ इस पुस्तक में देकर राजेन्द्र यादव ने सामयिक और उपयोगी कार्य किया है।

पुस्तक के अन्त में इंटरव्यू-कला के सम्बन्ध में निरंजन के विचारों की छीछालेदर करते हुए लेखक ने हिन्दी के ब्लैकबोर्ड-इंटरव्यू-साहित्य पर अच्छा व्यंग्य किया है।

यदि इंटरव्यू की समाप्ति एक सपना देखकर जागने के रूप में न की जाती तो अधिक अच्छा होता। इस तरह की काल्पनिक कृति का तर्कसंगत अवसान आवश्यक नहीं होता···बल्कि उससे अयथार्थ का झटका लगने से अपेक्षित प्रभाव में कमी आ जाती है। लेखक को अपने पाठकों की सूझ-बूझ में अधिक विश्वास होना चाहिए।[1]

१. 'एगटन चेखव : एक इगटरव्यू'; लेखक—राजेन्द्र यादव; प्रकाशक—जयपुरिया प्रकाशन, कलकत्ता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामस्वरूप चतुर्वेदी

संस्कृति-संघर्ष और वैयक्तिक सम्बन्ध

संस्कृति-संघर्ष की मूल संवेदना पर आधारित कई प्रकार के कथानक हिन्दी-कथा-साहित्य में हमें मिलते हैं। जब से हिन्दी का अपना उपन्यास-साहित्य विकसित हुआ है, लगभग तभी से या उसके कुछ पूर्व से हमें इस संस्कृति-संघर्ष के संकेत मिलने लगते हैं। जैसा प्रायः सभी वर्गों के आलोचकों ने स्वीकार किया है, अपने आधुनिक रूप में उपन्यास का 'फॉर्म' हमें पश्चिम से मिला है। अंग्रेजी से इस साहित्यिक विधा ने बंगला-साहित्य में प्रवेश पाया, और अनुवादों के माध्यम से यह रूप फिर बंगला से हिन्दी में आया। प्रायः उसी समय से और बहुत-कुछ उसी प्रवेश-द्वार से, आंग्ल तथा भारतीय संस्कृतियों का संघर्ष हिन्दी-भाषी प्रदेश में भी अवतरित होता दिखाई देता है। हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में इस संस्कृति-संघर्ष के लक्षण विद्यमान हैं। सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों के इस तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य में अपने जन्म के साथ-साथ उपन्यास अपने लिए सामाजिक क्षेत्र में उपलब्ध सामग्री भी लेता आया। इसी बात को दूसरे ढंग से यों भी कहा जा सकता है कि अपने प्रारम्भिक काल में उपन्यास-लेखन की एक प्रमुख प्रेरणा संस्कृति-संघर्ष की यह सामाजिक शक्ति थी और सम्भवतः यह कहना तो कुछ-न-कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण अवश्य ही हो जायगा कि हिन्दी-साहित्य में इस संस्कृति-संघर्ष ने ही उपन्यास के माध्यम को जन्म दिया। जो भी हो, हिन्दी-उपन्यास के इतिहास में इतना तो स्पष्ट ही दिखाई देता है कि अपने विकास के प्रथम युग में साहित्य की इस विधा ने अपने अधिकांश कथानक संस्कृति-संघर्ष के परिवेश से लिए, यद्यपि आगे चलकर अन्यान्य प्रेरणाएँ भी पर्याप्त संख्या में मिलने लगीं और हिन्दी-उपन्यास की यह प्रथम तथा मौलिक प्रेरणा कुछ क्षीण पड़ गई।

डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल का नवीनतम उपन्यास 'काले फूल का पौदा' इस संस्कृति-संघर्ष की भावना से ही प्रेरित है। उनके पूर्व के उपन्यासकारों के समय तक सम्भवतः इस संघर्ष की प्रकृति बहुत स्पष्ट न हो सकी थी, परन्तु आधुनिकतम सन्दर्भ में डॉ० लाल ने सामाजिक इतिहास की इस विशेष परिस्थिति का गहरा तथा संवेदनशील विश्लेषण किया है और उसके सम्बन्ध में रचनात्मक सुझावों की ओर अपनी उत्कृष्ट कला के माध्यम से संकेत भी दिये हैं। लक्ष्मीनारायणलालजी का यह तीसरा उपन्यास है। इसके पूर्व के दो उपन्यास 'धरती की आँखें' तथा 'बया का घोंसला और साँप' हमारे ग्रामीण जीवन के चित्र थे, परन्तु इस तीसरी कथा-कृति में उपन्यासकार ने हमारे नागरिक जीवन को उसकी सारी जटिलताओं के साथ अंकित किया है। कहा जा सकता है कि कला के इस परिवर्तित कार्य-क्षेत्र ने उनके दृष्टिकोण को विशद किया है तथा उनकी संवेदनशीलता को और भी अधिक उभारा है। इस दृष्टि से उनके क्षेत्र का यह विकास अत्यन्त शुभ है।

आलोच्य उपन्यास को पढ़ते समय उसकी कई विशेषताएँ पाठक के समक्ष बहुत उभरकर आती हैं। 'काले फूल का पौदा' के कथानक के निर्वहन में सबसे बड़ा खतरा था 'प्रेजुडिस' का। जिस समस्या को लेकर उपन्यासकार चलता है उसके परस्पर कई विरोधी पक्ष हैं और प्रायः इन्हीं विरोधी पक्षों में से कोई-न-कोई पक्ष-विशेष उपन्यासकार की सहानुभूति बड़े तीव्र ढंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अर्जित करने में समर्थ हो सकता था। इसके परिणामस्वरूप अन्य पक्षों के प्रति 'प्रेजुडिस' का दृष्टिकोण स्वतः ही बन जाता! परन्तु पाठक के लिए यह सन्तोष तथा प्रसन्नता का विषय है कि उसके उपन्यासकार ने संस्कृति-संघर्ष के इस कथानक में अपनी 'प्रेजुडिस' को कहीं उभरने नहीं दिया है। समस्या का विश्लेषण उसने बड़े ही मौलिक तथा निष्पक्ष परन्तु सहानुभूतिपूर्ण ढंग से किया है। दो संस्कृतियों के विरोध के फलस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन में जो गतिरोध उत्पन्न हो गया है, उसकी तह तक जाने का यत्न उपन्यासकार ने किया है, और इस यत्न में वह निस्सन्देह बहुत-कुछ सफल भी हुआ है।

'काले फूल का पौदा' एक पति-पत्नी की कथा है। पति है देवन—परम्परागत भारतीय परिवार का एक सदस्य, परन्तु पश्चिमी संस्कृति का प्रशंसक तथा अनुगामी। आधुनिक शिक्षा-दीक्षा के ढंग ने उसके चरित्र को इतना दुर्बल बना दिया है कि चाहते हुए भी विदेशी संस्कृति के बहुत-से आचरणों का वह मुक्तकण्ठ से विरोध नहीं कर पाता। पत्नी है गीता—भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित तथा अपनी प्रकृति में अत्यन्त ही सद्भावपूर्ण। पश्चिमी संस्कृति के आवश्यक तथा वाञ्छनीय प्रभावों के साथ वह अपने दृष्टिकोण में पूर्ण भारतीय है। मन से बहुत ही कोमल तथा सुकुमार—पत्नीत्व के भारतीय आदर्श के बहुत निकट! विदेशी संस्कृति के उन तत्त्वों के अतिरिक्त, जो उसके चरित्र में ऐतिहासिक तथा सामाजिक विकास-क्रम के फलस्वरूप सहज भाव से आ गए हैं, वह किसी भी अन्य बाह्य तत्त्व को अपने पति की उत्कट इच्छा के बावजूद स्वीकार नहीं कर पाती। इसके अतिरिक्त एक ओर हैं गीता के माता-पिता—रूढ़ि-मुक्त परन्तु परम्परा तथा मर्यादा का आदर करने वाले। दूसरी ओर है देवन का मित्र-वर्ग; जो सतत 'नाइट-क्लब' के वातावरण में रहता है, और उसी ढंग से आचरण करता है। फिर है एक बंगाली परिवार, देवन का पड़ोसी, जिसने पश्चिमी संस्कृति के तत्त्वों को अपने ऊपर से आरोपित किया है। इन्हीं चरित्रों के बीच का संस्कृति-संघर्ष 'काले फूल का पौदा' की प्रमुख संवेदना है। देवन और गीता यद्यपि चरित्रों के टाइप हैं, परन्तु इससे उनके वैशिष्ट्य में कोई कमी नहीं आती, क्योंकि उनके पीछे उपन्यासकार की अपनी प्राण-शक्ति है। उपन्यास के ये चरित्र मध्यवर्गीय नागरिक समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसके अधिकांश सदस्य भारतीय संस्कृति को बूढ़ी और मुर्दा समझकर उसका परित्याग तो कर चुके हैं, परन्तु इसके स्थान पर विदेशी संस्कृति को भी आत्मसात् नहीं कर सके। फलतः उनके व्यक्तित्व खोखले, सारहीन तथा आधार-रहित हो गए हैं।

जहाँ तक उपन्यास के कथानक का सम्बन्ध है, उसकी दूसरी बड़ी विशेषता है उसमें प्रदर्शित लेखक की निस्संग ईमानदारी। कथावस्तु के माध्यम से उपन्यासकार ने जिस जीवन-क्रम की ओर संकेत किया है, उसके सम्बन्ध में वह अनिश्चित तनिक भी नहीं है। सारी-की-सारी समस्या के प्रति उसका दृष्टिकोण विश्लेषणपूर्ण होने के साथ-ही-साथ दृढ़ तथा सुनिश्चित भी है। जिस आचरण को उसने मर्यादाहीन तथा हेय माना है, उसके प्रसंग में उसकी व्यञ्जना कहीं भी अस्पष्ट नहीं होने पाई है। साथ ही जिस जीवन-प्रणाली को उसने अपने समाज के लिए वाञ्छनीय तथा हितकर समझा है, उसके 'डिटेल्स' उपस्थित न करने पर भी (अन्ततः उपन्यास गृह्य-सूत्रों का भाष्य तो नहीं ही है!) उसकी रूपरेखा हमारे सामने एकदम स्पष्ट हो जाती है। उपन्यास के कथानक में निहित इस मौलिक ईमानदारी के अतिरिक्त जो तत्त्व हमारा ध्यान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहसा ही आकर्षित कर लेता है, वह है कथा-निर्वहन की नितान्त सरलता। आदि से अन्त तक उपन्यास के वातावरण में एक सादगी है, जो पाठक के रस-बोध में अत्यन्त प्रिय सिद्ध होती है। 'काले फूल का पौदा' के कथानक अथवा गठन में कहीं भी जटिलता का अंश नहीं है; यह एक प्रमुख कारण है, जिससे उपन्यास पाठक के मन को इतना छू पाता है।

पाठक के मन को गहराई तक छू पाने का एक दूसरा कारण है उपन्यास का विशिष्ट चरित्रांकन। सम्पूर्ण कथा-कृति में चरित्रांकन एक सुरुचिपूर्ण तथा सुकुमार ढंग से हुआ है। चाहे प्रधान पात्र हों चाहे पार्श्व चरित्र, वे सब-के-सब एक अजब-सी मर्यादा से बँधे हुए हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि चरित्रों का विकास सहज तथा स्वाभाविक न होकर एक निश्चित लक्ष्य से नियोजित है, वरन् यह कि उसका गठन पाठक के मन पर एक अत्यन्त ही भद्र प्रभाव छोड़ जाता है। उपन्यास के वातावरण में यह भद्रता तथा मिठास सबके ऊपर है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु ये तत्त्व कथानक पर ऊपर से आरोपित नहीं किये गए, वे कथानक में आप-से-आप विकसित हुए हैं। उपन्यास में सबसे कम चित्रित परन्तु अनुपात में सम्भवतः सबसे अधिक सशक्त-चरित्र आर्या दादा का है, जिसमें उक्त दोनों तत्त्व बड़े प्रभावपूर्ण तथा मार्मिक ढंग से मिश्रित हुए हैं। गीता का व्यक्तित्व तो मानो भागवत-सा पवित्र है, उसका अध्ययन मन को शान्ति तथा सन्तोष देता है। देवन का चरित्र भ्रमित होता हुआ भी कहीं स्तर-भ्रष्ट नहीं होता। सरोज, जो गीता की सहेली है, सम्भवतः व्यावहारिक अधिक है, परन्तु स्निग्धता उसके व्यक्तित्व में भी कम नहीं! चित्रा पश्चिमी संस्कृति की अवश शिकार है, समाज के प्रति उसके मन में प्रतिरोध की भावना है, किन्तु उसके हृदय का मूल मानवीय स्रोत बार-बार उभर पड़ता है। संस्कृति-संघर्ष का हारा हुआ युद्ध जीतने का वह अनेक बार यत्न करती है और कई बार तो विजय के एकदम निकट आ जाती है। ओम भी, जो पश्चिमी संस्कृति के उद्दाम तथा असंयमित तत्त्वों का प्रबल समर्थक है, गीता के सतत पवित्र व्यक्तित्व तथा कभी-कभी चित्रा के मन से उभरने वाली पवित्रता के प्रभाव के फलस्वरूप अधिक तीखा नहीं हो पाता। गीता की आया के व्यक्तित्व में तो मानो उसके स्वामिनी के दृष्टिकोण को ही पुष्ट किया गया है। देवन के पड़ोसी बंगाली-परिवार की पार्श्व-कथा भी उपन्यास की मूल संवेदना को तीव्र तथा प्रभावपूर्ण बनाती है। इस प्रकार कुल मिलाकर 'काले फूल का पौदा' के सभी चरित्र पाठक के मन पर अपनी विशिष्टता की गहरी छाप छोड़ जाते हैं। इसीलिए उपन्यास के वातावरण में तनाव आने पर भी वह कहीं तीखा नहीं होता। ऐसा जान पड़ता है मानो उपन्यास के सभी चरित्रों में गीता के व्यक्तित्व की सुकुमारता तथा मिठास किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रतिफलित हुई है, जिसके फलस्वरूप कथानक के आवेशपूर्ण स्थलों पर भी आचरण की मर्यादा कभी भंग नहीं होती।

उपन्यास के समस्त वातावरण को एक भद्रता तथा मिठास देने का बहुत-कुछ श्रेय उसकी भाषा को दिया जा सकता है। इस प्रसंग में अपनी पूर्व कृतियों से 'काले फूल का पौदा' का अन्तर बहुत स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रस्तुत कथा-कृति की भाषा प्रायः सर्वत्र ही समान रूप से समृद्ध है। उसका मार्दव चरित्रांकन की विशिष्टता में सहायक सिद्ध होता है। नितान्त शिल्पित न होने पर भी उसका ध्वन्यात्मक प्रभाव कथानक की कोमलता तथा भद्रता के साथ मेल खाता है, और सबसे अधिक बढ़कर तो भाषा का अर्थ-गाम्भीर्य है। अनावश्यक कथोपकथन तथा वर्णन प्रायः नहीं के बराबर है और बीच-बीच में जो सूक्ति के समान स्वाभाविक रूप से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्य आ जाते हैं, उनमें भाषा की समृद्धि सहज ही द्रष्टव्य है। उपन्यास की नायिका के स्वतः चिन्तन का एक स्थल है—

"यह कितना बड़ा दायित्व है ?

कैसा आदर्श स्वप्न है ? मैं अब स्वप्न नहीं देखूँगी, धोखा होता है।

बस, चलती चलूँगी—जो यथार्थ है, आज वही मान्य है।

स्वप्नों का दायित्व, इसका वहन कौन करेगा ? कैसे होगा ? चारों ओर तो अन्तर्विरोध है। मैं अकेली; झूठ हूँ ! जिसे मैंने अपनी आत्मा में बाँधा, सँजोया। जिसके 'मैं' में मेरा अस्तित्व गुँथा, वह 'मैं' तो नहीं बदला। अजीब ही रहा। न जाने क्या चाहता है ? और उस चाह में वह निरन्तर अकेला होता चल रहा है।"

उपन्यास में यह और इस प्रकार के अन्य स्थल 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' की भाषा का अनायास ही स्मरण दिला देते हैं। इस प्रकार की भाषा की सिद्धि तभी सम्भव हो पाती है, जब लेखक के विचार उसके मन में एकदम स्पष्ट हो चुके हों और इन विचारों का मूल स्रोत उसकी स्वानुभूति हो। तरल तथा प्रयासहीन भाषा उत्कृष्ट कला का माध्यम बनने के लिए कलाकार के पास स्वतः उपलब्ध हो भी जाती है। फिर भी उपन्यासकार की यह प्राञ्जल तथा संस्कार की हुई भाषा उसके लिए एक अतिरिक्त दायित्व बन गई है, क्योंकि भविष्य में भाषा के इसी स्तर का निर्वाह उससे अपेक्षित होगा और इस दायित्व-निर्वहन को एकाएक ही बहुत आसान नहीं कहा जा सकता।

औपन्यासिक विधान की दृष्टि से भी 'काले फूल का पौदा' एक सफल कथा-कृति सिद्ध होती है। 'टेकनीक' के नवीनतम आविष्कारों के बावजूद कहानी कहने का ढंग आमूल परिवर्तित नहीं हो सका है, भविष्य में कभी हो सकेगा, यह भी सन्दिग्ध है। प्रस्तुत उपन्यास कई छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त है। सभी प्रमुख पात्र कम-से-कम एक बार एक खण्ड में अपनी कथा कहते हैं। कथानक का यह विभाजन सर्वथा नवीन हो, ऐसी बात नहीं। इलाचन्द्र 'जोशी' की 'पर्दे की रानी', 'अज्ञेय' की 'नदी के द्वीप' तथा हिन्दी की कई अन्य कथा-कृतियों में इस टेकनीक को अपनाया गया है। उपन्यास में यह विधान अपेक्षाकृत परिश्रम-साध्य है। एक खण्ड को दूसरे खण्ड का पूरक होना पड़ता है अन्यथा आत्म-कथन में पात्र अपने साथ न्याय नहीं बरत सकते। परन्तु इस टेकनीक का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके द्वारा एक पात्र अन्य पात्रों के सम्बन्ध में भी उभरता है। इससे उसके चरित्र के सभी आवश्यक पहलू धीरे-धीरे पाठक के सामने आ जाते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि इस विधान में कथा-खण्डों का क्रम तथा संयोजन बहुत महत्त्वपूर्ण है, अतः उपन्यासकार को अतिरिक्त ध्यान देकर कथानक को गठित करना पड़ता है। फलतः अध्यायों में विभाजित कथानक में उतनी एकसूत्रता तथा स्वाभाविकता सुरक्षित नहीं रह पाती, जितनी इस प्रकार के कथन-संयोजन में रहती है।

डॉ० लाल के इस उपन्यास में कथा-खण्डों का विभाजन औपन्यासिक तत्त्वों को ध्यान में रखकर किया गया है। विभिन्न पात्रों का चरित्र-उद्घाटन आवश्यकतानुसार होता जाता है और प्रायः वर्णनों से नहीं वरन् स्वतः पात्र के कार्यों से उसके चरित्र के आयाम स्पष्ट होते चलते हैं। इस क्रम में घटनाओं की पुनरुक्ति को बचाया गया है, केवल वही घटनाएँ एक से अधिक बार वर्णित हैं। जिन्हें एक से अधिक पात्रों ने अपने-अपने ढंग से बताया है। दो पात्रों के पार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्परिक सम्बन्धों को चित्रित करने के लिए खण्डों का विधान अलग से हुआ है। घटनाओं को सांकेतिक रूप में व्यक्त करने के लिए दिवा-स्वप्नों अथवा स्वप्नों का माध्यम स्वीकार किया गया है। गीता की अपने शिशु के प्रति चिन्ता तथा उसके मन की आशंका बड़े कोमल भाव-चित्र द्वारा व्यञ्जित की गई है—

अनेक विकृत, अपरूप, अस्पष्ट स्वप्नों को वह देखती रही। सुबह चार बजे उसका बुखार कुछ-कुछ उतरा। नींद आ गई उसे। तब देखा—अथाह, बहुत दूर तक फैला हुआ एक सरोवर है शान्त-गम्भीर, मानो उस पर कभी कोई लहर ही नहीं उठती। पूर्णमासी की रात है। जैसे ही चाँद उस सरोवर के बीचों-बीच आता है, तब किसी किनारे से संगमरमर का बना हुआ एक विशाल भवन धीरे-धीरे तैरता हुआ आकर रुक जाता है। भवन के सूने फर्श पर एक शिशु खेल रहा है। खेलते-खेलते वह अबोध सरोवर में गिरने लगता है। फिर एकाएक अँधेरा हो जाता है।

आधुनिक उपन्यासों में 'ड्रीम-सीक्वेन्स' का विधान बहुत प्रचलित हो गया है। बहुत-से कथानकों में तो बाहर से जोड़ा प्रतीत होता है। परन्तु प्रस्तुत स्वप्न आलोच्य उपन्यास की गठन का एक आवश्यक भाग जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिस भाव-चित्र के द्वारा इस स्वप्न को व्यक्त किया गया है, वह कथानक की मूल प्रकृति से बहुत मेल खाता है। चरित्रांकन, कथानक तथा भाषा-शिल्प की सुकुमारता और सुरुचि इस स्वप्न-विधान में भी बहुत ही स्पष्ट है।

उपन्यास का शिल्प सर्वत्र निखरा होने पर भी कथानक का अन्त हमें सन्तोष नहीं दे पाता। यह ठीक है कि जीवन के समान ही उपन्यास के कथानक की गति कहीं भी रुक सकती है और हम उसमें इस प्रकार बाधा नहीं दे सकते। परन्तु औपन्यासिक कला का एक बहुत बड़ा भाग उसके प्रारम्भिक तथा अन्तिम अंशों के गठन में निहित रहता है। 'काले फूल का पौदा' का अन्त कथानक को अधूरा नहीं छोड़ता, पर उसका समापन उतना कलात्मक नहीं बन सका जितना कलात्मक उसका आरम्भ है। घटना-क्रम के नियोजन तथा विस्तार की दृष्टि से उपन्यास के अन्त में कोई कमी नहीं, परन्तु उसके अन्तिम दो अनुच्छेदों में कलात्मक पूर्णता नहीं आ सकी है। देवन और गीता के एक-मात्र पुत्र सागर की मृत्यु हो चुकी है। गीता अपनी माँ के घर है और देवन भी वहीं आया हुआ है। घर के ऊपर के कमरे में देवन और गीता का अत्यन्त करुण तथा संवेदनशील वार्तालाप होता है। देवन ने गीता को एक बार फिर से पाया है और इस मिलन का माध्यम रहा है उनका मृत शिशु। इसके उपरान्त—

गीता ने बहुत धीरे से कहा, "देवन! ओ देवन!! तुम मेरा यह कन्धा थामो—यह बायाँ कन्धा! और मुझे इस जीने से नीचे उतार दो!" देवन ने उसे कई क्षणों तक देखा। दोनों एक-दूसरे को देखने लगे, जैसे दृष्टि ही में वाणी हो, और वाणी जो अनुभूति को बाँध ले।

देवन उसे सीढ़ियों पर बहुत धीरे-धीरे उतारने लगा। गीता के पैर हर सीढ़ी पर काँप जाते थे लेकिन वह उतरती जा रही थी।

और यहीं उपन्यास का अन्त हो जाता है। उपन्यास का यह समापन कथानक को पूर्ण तो कर देता है, परन्तु पाठक के मन को गहराई तक नहीं छू पाता। देवन का गीता को जीने से उतारना न तो सांकेतिक ही है और न ही वह कथानक के विकास की दृष्टि से अर्थपूर्ण है। वस्तुतः उपन्यास अथवा कहानी का अन्त करना अपने-आप में ही एक कला है। विश्व-कथा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य में उपन्यासों के अन्त प्रायः अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं। टॉमस हार्डी का 'टैस', तॉल्सतॉय का 'ऐना केरेनिना', डिकेंस का 'टेल ऑफ़ टू सिटीज़', रोम्या रोलाँ का 'ज्यॉक्रिस्तफ़', शरत् का 'शेष प्रश्न' अथवा 'श्रीकान्त' और हिन्दी में 'अज्ञेय' का 'शेखर' और 'नदी के द्वीप', जैनेन्द्र का 'त्याग-पत्र', भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', धर्मवीर-भारती का 'गुनाहों का देवता'—इन सभी उपन्यासों के अन्त पाठक के लिए अविस्मरणीय हैं। उपन्यास के इन समापनों में कलात्मक अकलात्मकता रहती है। जीवन की भाँति ही अपूर्ण तथा आकस्मिक होने के साथ-साथ वे कला की दृष्टि से बहुत पूर्ण हैं। इसीलिए उपन्यास का अन्त एक ओर तो सहज-स्वाभाविक होता है, परन्तु दूसरी ओर बहुशिक्षित तथा बहुचिन्तित भी होता है। इन दो विरोधी तत्त्वों का सफल संगुम्फन ही उपन्यास के अन्त को अत्यन्त मार्मिक तथा अविस्मरणीय बना देता है।

'काले फूल का पौदा' का शीर्षक अत्यन्त प्रतीकात्मक है और इस प्रतीक का निर्वाह उपन्यास में पूरी सफलता के साथ हुआ है। 'काले फूल का पौदा' तुलसी के बिरवे को कहा गया है। गीता के बनारस के घर के आँगन में यह पौदा घरुवे में लगा हुआ है और देवन के पास आकर लखनऊ के बिना आँगन वाले 'डि हेवन' में उसने उसे पति की अनिच्छा के बावजूद गमले में स्थापित किया है। गेरू से राम-नाम अंकित वाले घरुवे की तो बात सोचना ही वहाँ व्यर्थ है। गीता का जीवन-क्रम मानो इस घरुवे से गमले तक की यात्रा है। गमले की संस्कृति से वह अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ पाती, उस सारे वातावरण से वह असम्पृक्त रहती है। अन्त में वह अपने घरुवे के पास ही लौटती है और साथ में देवन को भी ले आती है। प्रतीक की दृष्टि से यही उपन्यास की मूल कथा है।

तुलसी के काले फूलों वाला पौदा इस कथा-कृति का प्रतीक-चिह्न है और उपन्यास का समस्त वातावरण भी मानो तुलसी की पवित्र तथा शान्त सुगन्धि से आप्लावित है। कथानक की सुकुमारता तथा भद्रता को और भी गहरा बनाने में तुलसी के बिरवे के प्रतीक ने पूरा-पूरा सहयोग दिया है। तुलसी के पौदे को कथानक से हटा लीजिए और उपन्यास की आधी मार्मिकता समाप्त हो जायगी। संस्कृति-संघर्ष गीता के लिए घरुवे और गमले के बीच है, परन्तु देवन के लिए वह तुलसी और स्वीट पी के बीच है। विजय, यदि इस आत्मोपलब्धि को हम विजय का ही नाम दें, तो अन्त में घरुवे में लगे हुए तुलसी के बिरवे की ही होती है। परन्तु इस विजय ने कहीं कटुता अथवा विरुद्धता नहीं छोड़ी है, क्योंकि वह शरीर से हटकर मन की मन पर विजय है।

नवीन प्रवृत्तियों से परिचालित उपन्यासों के क्षेत्र में 'काले फूल का पौदा' का अपना विशिष्ट स्थान है। हिन्दी की शीर्षस्थ कथा-कृतियों में इसकी गणना हो सकती है। ऐसा कलात्मक अतित्व ही हमें हिन्दी-उपन्यास के भविष्य के सम्बन्ध में आश्वस्त बनाता है। हिन्दी-संसार डॉ० लाल से और भी विकसित तथा परिमार्जित कथा-कृतियों की आशा करेगा, यह उन्हें न भूल जाना चाहिए।[1]

---

१. **'काले फूल का पौदा'; लेखक—डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल; प्रकाशक—भारती भण्डार, इलाहाबाद।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिवप्रसाद सिंह

संवेदनात्मक तत्त्वों की एकसूत्रता

हिन्दी के जिन चन्द नये कथाकारों के वर्तमान से हम आश्वस्त और भविष्य के प्रति आशान्वित हो सकते हैं, उनमें कमल जोशी का नाम भी शामिल है। पिछले दस वर्षों से कमल जोशी कहानियाँ लिखते आ रहे हैं और उन्होंने काफी कहानियाँ लिखी हैं। हालाँकि सृजन की उन्नत राशि आवश्यक रूप से कला की उच्चता द्योतित नहीं करती; किन्तु कमल जोशी की रचना में ऐसे तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिन्होंने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से उन्होंने अभ्यास और शक्ति का परिचय दिया है, जो एक तरुण कथाकार के लिए कम सिद्धि और महत्त्व की वस्तु नहीं।

वस्तुतः कमल जोशी पिछली पीढ़ी के तरुण कथाकार हैं। मैं 'पिछली पीढ़ी' शब्द का प्रयोग किसी अन्यथा मन्तव्य से नहीं कर रहा हूँ और न तो मेरे निकट 'पीढ़ी' पिछली या पुरानी होने के कारण कोई कम महत्त्व ही रखती है। इस विशेषण का प्रयोग मैं कमल जोशी के साहित्य के नैरन्तर्य-विकास को दृष्टि में रखते हुए कर रहा हूँ। कमल जोशी अपनी वयःस्थिति के कारण उस स्थान पर खड़े हैं जहाँ से वे पुरानी विरासत के साथ नये प्रभावों को अच्छी तरह आत्मसात् कर सकते थे; किन्तु उनकी कहानियों में वस्तु और शिल्प का जो सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, उसमें कथा-साहित्य के अत्यन्त साम्प्रतिक प्रवृत्तियों का अत्यन्त प्रभाव पड़ा है। उनकी कहानियों के ये दो संग्रह हमारे सामने हैं। इसके पहले 'चार-के-चार' नाम से उनका संग्रह छप चुका है। इन रचनाओं में वस्तु-चयन और शैली-शिल्प दोनों की उन्नत परिणति दिखाई पड़ती है किन्तु यह कौशल वही है जिसे प्रायः पिछले लोग अपनाया करते थे। ये सभी कहानियाँ प्रायः मध्यवर्गीय जीवन से सम्बद्ध हैं। कहीं-कहीं वे मजदूरों के बारे में भी लिखते हैं किन्तु अपेक्षया कम। मध्यवर्ग का जीवन पहले से कितना अधिक तीखा, तीव्र और उलझनों से आवृत्त हुआ है, इसे कमल जोशी विचारते अवश्य होंगे; किन्तु उनकी रचनाओं में इस जीवन का वीचि-विवर्तन या स्तरीय आघात तो दिखाई पड़ता है, गहरे उतरने की आकांक्षा या मानसिक संघातों में अपने को डालने का 'रिस्क' नहीं दिखाई पड़ता। सम्भव है छोटी कहानी का कनवैस इस विचार-भूमिका को सँभालने में बहुत सक्षम नहीं है; किन्तु उनके समवयस्क दूसरे कथाकारों ने नागरिक जीवन के जिस सुख-दुःख, अपेक्षाकृत ज्यादा तीखी परिस्थितियों, घुटन, कुण्ठा, विक्षोभ आदि को कहानी के माध्यम से उभारा है वह भी महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। मोपासाँ के बारे में उनके कहानी-संग्रह की भूमिका में वालेस ब्राकवे लिखता है : उसकी कहानियों में मनस्तत्त्व को स्थान नहीं था, कारण कि तब तक इस विचार-सरणि का आविर्भाव भी न हो सका था, ये कहानियाँ मुख्यतः एकदम सीधी-साधी, रचना-प्रक्रिया की पूर्णता से शोभित कभी-कभी मात्र ट्रिक पर आधारित दिखाई पड़ती हैं। कमल जोशी की कहानियों के लिए मोपाँसा के लिए लिखित उपर्युक्त पंक्तियों का उद्धरण उपयुक्त कहा जा सकता है; हालाँकि जिस वस्तु तत्त्व की मैं बात कर रहा हूँ उसकी दृष्टि से यह उद्धरण किसी अच्छाई की ओर संकेत नहीं करता। कमल जोशी के इन दो संकलनों में तेईस कहानियाँ संग्रहीत हैं, जिन्हें हम मुख्यतया चार श्रेणियों में रख सकते हैं। कुछ ऐसी कहानियाँ जो सामाजिक समस्याओं से प्रेरित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, बहुत सम्भव उनके मूल में आर्थिक प्रश्न है—जैसे अँधेरी गली, किसका बेटा, पैटमैन की बीवी', 'फूलों की माला' आदि। 'अँधेरी गली' का रमजान कर्ज़ के बोझ से दबा है, वह न चाह-कर भी गम गलत करने के लिए शराब पीता है और अँधेरी गली में लड़खड़ाता हुआ चल देता है 'किसका बेटा' बंगाल के अकाल के समय एक गरीब के बेटे की कहानी है जिसे निपूता अमीर पालता है, और सच्चा बाप बच्चे के प्रति सहज प्रेम प्रदर्शित करने में जेल भेज दिया जाता है, 'फूलों की माला' में शरणार्थी लड़की आराध्य देव कृष्ण के लिए माला लेकर मन्दिर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वेश्या गली में जाती और अन्ततः भीख माँगकर पेट पालती है—इस प्रकार की कहानियों में कमल जोशी अपने पूर्वज या अग्रज कथाकारों से आगे नहीं बढ़ सके हैं, मेरा खयाल है कि ऐसी कहानियों में उनकी प्रतिभा को जो ठोस ज़मीन मिलनी चाहिए वह प्राप्त नहीं हो सकी है।

दूसरी श्रेणी में वे कहानियाँ आती हैं जो किसी अति सामान्य उपेक्षणीय वस्तु को केन्द्र बनाकर किसी मनुष्य की संवेदना को, दर्द को उभारने के लिए लिखी गई हैं। 'पत्थर की आँख' की 'चश्मा', 'खिड़की' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं जिनमें कमल जोशी को अत्यन्त सफलता मिली है। 'चश्मा' कहानी में वृद्ध मनोहरप्रसाद का वैयक्तिक दर्द, चश्मे के टूट जाने तथा घर वालों की उपेक्षा से उत्पन्न क्षोभ नाती के जन्म का समाचार पाकर कैसे विगलित होता है, इसका बड़ा ही सजीव चित्रण लेखक ने उपस्थित किया है, 'चश्मा' कहानी प्रथम श्रेणी की कृति है। 'खिड़की' मनुष्य के मानसिक रहस्य की खिड़की है जिसमें कभी-कभी उसका असली रूप झाँकने लगता है। इन कहानियों में कमल जोशी ने हिन्दी-कथा-साहित्य को वस्तु-चयन की नई दिशा की ओर प्रेरित किया है।

तीसरी श्रेणी में वे कहानियाँ आती हैं जिनमें लेखक किसी मानसिक गुत्थी की ओर संकेत करना चाहता है। 'प्रतिक्रिया' कहानी की सरोज अपने भावी पति बलराज से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती है और चमन नामक युवक को अपना जीवन-संगी निर्वाचित करती है। बलराज ने लड़की के पिता से रंगून में, जहाँ वह नौकरी करता था, शादी करने का प्रस्ताव किया था। वही बलराज एक बदसूरत काली लड़की से शादी कर लेता है तो सरोज इस समाचार को सुनने के बाद चमन से विवाह करना अस्वीकृत कर देती है। 'इज्जत की खातिर' 'पहला पाप' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। 'पहला पाप' के रामेश्वर बाबू ईमानदार रहने की लाख,कोशिश के बावजूद एक दिन गरीबी से तंग आकर घूस लेते हैं—इन कहानियों में कथाकार को हम सामान्य धरातल पर ही पाते हैं।

चौथी श्रेणी में मैं कुछ ऐसी चरित्र-प्रधान कहानियाँ रखूँगा जो अपनी शिल्प आदि की कमजोरियों के बावजूद हमारे मन में गहरी पीड़ा और सहज सम्वेदना उत्पन्न करने में सफल होती हैं। 'गूँगा यौवन' और 'बाहर भीतर' ऐसी ही सफल कहानियाँ हैं जिन्हें भूलना कठिन है। पंगु और अन्धे पति के लिए बाहर से अत्यन्त फैशन-प्रिय लगने वाली नीलिमा का त्याग मन को अत्यन्त मथ देता है। गूँगा यौवन की गूँगी लड़की अपनी मासूमियत और असहायता से हमारे मन में अविस्मरणीय दर्द जगा देती है।

इस प्रकार हमने देखा कि वस्तु की दृष्टि से कमल जोशी किसी अछूते प्लाट या मान-सिक संघर्ष आदि की मौलिकता के लिए नहीं बल्कि इस जीवन से एकसूत्रीय संवेदनात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्वों के चयन के लिए बधाई के पात्र हैं।

शिल्प की दृष्टि से कमल जोशी की तारीफ होती है, क्योंकि वे सीधी-सादी भाषा में 'सुनिश्चित कथानक' को संतुलित ढंग से व्यक्त करते हैं। यहाँ भी कमल जोशी पिछली पीढ़ी के प्रतिनिधि कथाकारों के अनुगामी ठहरते हैं। प्रतीकों, मर्मछवियों, वातावरण के नये प्रयोगों और कथा-गठन के लिए व्यवहृत, स्मृति, खण्ड-विचार-शृङ्खला, स्वप्न, सांकेतिक ध्वनियों आदि का प्रयोग उनकी कहानियों में कम-से-कम पाया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि इन्हें शिल्प-सौन्दर्य का अनिवार्य अंग माना जाय; किन्तु यह कौशल तो है ही और नये कथाकार को यह श्रम-साधना के बाद प्राप्त हुआ है। कमल जोशी की भाषा का मैं प्रशंसक हूँ, उसकी स्पष्टता का कायल। सुस्पष्ट ढंग से भाषा विचारों की स्पष्टता और सफाई द्योतित करती है। निरलंकृत भाषा में किस्सागोई की शक्ति उन्हें प्राप्त है, किन्तु कहीं-कहीं जब वे शरत् या जैनेन्द्र की भाषा के मोह में पड़कर सूक्ष्म, भावसूचक दृश्यों को बाँधने के लिए उलझी भाषा की शरण लेते हैं तो बड़ी बुरी स्थिति उत्पन्न हो जाती है :[1]

"मन और प्राणों में अपमान तथा पश्चात्ताप का विष भर गया। प्रथम अभिज्ञता की निष्ठुरता से वह बहुत देर तक अप्रस्तुत हो बैठी रही" अचानक प्रेम करने वाली लड़की बाद में जब अपने प्रेमी को अविश्वसनीय पाती है तो उसकी अवस्था का चित्रण लेखक करना चाहता है; किन्तु ऊपर की पंक्ति कितनी अस्पष्ट हो गई है। ऐसे प्रयोग कई स्थानों पर मिलते हैं। विशेषतः 'गूँगा यौवन' की कहानियों में। शायद ये पहले की कहानियाँ हैं। अस्तु। कहीं-कहीं कमल जोशी को अलंकार आदि देने का मोह भी होता है। यह उचित ही है किन्तु वहाँ औचित्य का ध्यान भी रखना चाहिए। एक प्रसंग देखिए : विमला का पति विनोद पर-नारी में आसक्त है। वियुक्ता पत्नी उस औरत के सजे हुए कमरे और सेज की बात सोचती है और उससे अपने शयन-कक्ष की तुलना करते हुए सोचती है :[2]

यह कमरा कौन-सा खराब है × विद्युत् के हरे प्रकाश में चमक रहा है। × सफेद बिछौना 'मां की गोद' की तरह कोमल और 'रमणीय' है, यहाँ लेखक ने औचित्य का ध्यान नहीं दिया और अलंकार-मोह में माँ की गोद को रमणीय कह दिया। इस तरह के मौकों पर थोड़ा ठहरकर सोच लेने की जरूरत है।

कमल जोशी की कहानियों का अन्त प्रायः दो तरह से होता है। लेखक किसी 'ट्रिक' का सहारा लेकर एकदम अप्रत्याशित मोड़ उपस्थित करता है जिससे नाटकीयता का पूर्ण अन्त उपस्थित होता है। 'ट्रिक' अन्त के लिए एक कौशल तो है किन्तु यह दुधारी तलवार भी है, चूके नहीं कि गए। जहाँ यह ट्रिक कहानी के कलेवर से उत्पन्न होता है वहाँ तो उससे नई ताक़त पैदा होती है जैसा कि 'बाहर भीतर' में। किन्तु जहाँ यह ट्रिक बाहर से आरोपित किया जायगा वहाँ उसके भार से कहानी उल्का की तरह असंतुलित होकर जीवन-अम्बर से गिरती दिखाई पड़ेगी। जैसा 'तीन रातें' में। वियुक्ता औरत के घर में आकस्मिक घटना का सहारा लेकर एक चोर को घुसा दिया गया और वह यह जानते हुए कि यह एक एस० पी० का घर है, घुस गया, यह जानकर कि चोर की औरत बीमार है, एस० पी० की पत्नी ने पति की मोटर-

१. 'गूंगा यौवन', पृ० ७।
२. 'पत्थर की आँख', पृ० ६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साइकिल दे दी—आदि। कमल जोशी की कुछ कहानियों में अचानक अन्त उपस्थित हो जाता है। इस तरह की (Abrupt ending) कहानी को खण्ड चित्र या टूटी तस्वीर, की हालत में बना देती है। मैं यह नहीं कहता कि वे किसी उपदेशक की तरह अन्त में एक स्टेटमेंट दें ही। माना कथाकार निष्पक्ष साक्षी (Impartial witness) मात्र है, न्यायाधीश नहीं। किन्तु जैसा थामस हार्म ने लिखा है कि कथाकार कहानी सुनाने की प्रयोजनीयता (Justifying is telling) तो साबित करनी ही होगी। ऐसा भी नहीं कि वे स्टेटमेंट नहीं देते जहाँ देते हैं वहाँ कहानी के शिल्प का ह्रास भी होता है। 'अँधेरी गली', 'छाया चित्र' आदि अन्त-वंचित कहानियाँ हैं जब कि 'भीड़' में वे अनावश्यक रूप से अन्त में कहते हैं: "सिर्फ दो ही व्यक्ति जीवित नहीं रह सकते और भी बहुत-से व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।" 'पत्थर की आँख' अत्यन्त उच्च-कोटि की कहानी है किन्तु लेखक ने उसके अन्त को इतना अभिधात्मक (Flat) बना दिया है कि सुन्दरता में कमी आ गई है : क्रूर मकान-मालिक कलाकार से पूछता है कि अगर वह बता सके कि उसकी (मकान मालिक की) कौन-सी आँख पत्थर की है तो वह उसे एक महीने की और मुहलत दे सकता है। कलाकार बता देता है, इस पर मकान-मालिक पूछता है कि आपने कैसे पहचाना—"जब आपने सिर्फ एक महीना कहा तब मैंने स्पष्टतः गौर किया कि आपकी बाईं आँख में न जाने कैसी एक कोमल करुणा की आभा खेल गई, फिर समझते देर न लगी कि वही आपकी पत्थर की आँख है। यह तो स्वाभाविक ही है कि आपकी पत्थर की आँख में ही कोमलता की आभा पहले झलकेगी" जाहिर है कि नीचे की पंक्ति अनावश्यक है और इसके आ जाने से सांकेतिकता (Suggestiveness) में कमी आ गई है।

गूँगा यौवन (जो प्रकाशक की गलती से 'फूलों की माला' के नाम से प्रकाशित हुई है) तथा 'पत्थर की आँख' दोनों ही हिन्दी-कहानी के लिए गर्व की वस्तु हैं। 'पत्थर की आँख' की छपाई, आवरण आदि तो अत्यन्त ही मनोरम है, उस टक्कर की रूप-सज्जा, सफाई-छपाई हिन्दी की कम पुस्तकों में दिखाई पड़ती है। इसके लिए प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं। मैं अन्त में लेखक को उसकी गौरवमयी साहित्य-साधना के लिए बधाई देता हूँ। कमल जोशी की ये कृतियाँ उनके उज्ज्वल भविष्य की ओर साधार संकेत करती हैं।[1]

---

1. यह समीक्षा श्री कमल जोशी की कहानी 'पत्थर की आँख' से सम्बन्धित 'कल्पना' में प्रकाशित वाद-विवाद के पूर्व लिखी जा चुकी है।
'पत्थर की आँख'; लेखक—कमल जोशी; प्रकाशक—रश्मि प्रकाशन, चितरंजन एवेन्यू कलकत्ता–७।
'गूँगा यौवन'; लेखक—वही; प्रकाशक—नवयुग प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० लक्ष्मीनारायणलाल

नये समाज का उदय

दो अंकों के इस नाटक में मनोहरसिंह नाम के एक जमींदार परिवार को आधार बनाकर श्री उदयशंकर भट्ट जी ने जमींदारी-उन्मूलन, मुख्यतः जमींदारी की समाप्ति के उपरान्त की मनोदशा-चित्रण की पीठिका से उसकी रूढ़ि या परम्परा के भग्नावशेष उसके प्रति जमींदार पात्र का व्यामोह और सबसे ऊपर अन्त में एक उदात्त आदर्श स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

प्रथम अंक में जमींदार मनोहरसिंह, उनका लड़का चंद्रवदनसिंह और उनकी लड़की कामना के चरित्र-बिन्दु और उनके मनोभावों के पारस्परिक संघर्षों से लेखक ने उस पुराने जमींदार-समाज का पारिवारिक चित्र उभारा है, जो वस्तुतः नष्ट हो चुका है, पर उसका सत्य और असत्य का प्रभाव मनोहरसिंह के व्यक्तित्व के ऊपरी मन से हटकर उसके उपचेतन या और नीचे जा पहुँचा है। अर्थात् प्रथम अंक में मनोहरसिंह के विगत वैभव का चित्र है, जिसका अंकन कहीं-कहीं बहुत ही यथार्थ, बहुत ही सुन्दर हुआ है, पर कहीं-कहीं यथार्थता और व्यावहारिकता से दूर भी जा पड़ा है। यहाँ इसके दो कारण हैं; प्रथम, कामना और रीता-जैसे दो स्त्री-चरित्रों का असाधारण रूप, जिनकी चरित्र-अन्विति मनोहरसिंह और उनसे उद्भूत इस अंक के भाव-जगत् से कभी नहीं हो पाती। मनोहरसिंह जमींदारी-समाप्ति के बाद का जमींदार-चरित्र है—स्पष्ट, शक्तिशाली और यथार्थ। पर कामना! स्वयं नाटककार के शब्दों में 'न्यूरोसिस तथा चिन्तनशील, आत्मरत और कुशल'। और 'रीता'—'फेनेटिक'। और दूसरा कारण—प्रस्तुत समस्या के प्रति नाटककार के मन में सर्वथा एक काल्पनिक आदर्श की भावना। इस नाटक में जिस नये समाज की भावना है, वह निस्संदेह वांछनीय और ग्राह्य है, पर उसकी अतिशयता और प्रबलता, नाटक के एकान्त प्रभाव में बेहद बाधक होती है। दूसरा अंक, सम्भवतः इसी कारण उतना प्रभावोत्पादक नहीं हो पाता, जितना कि प्रथम अंक की वस्तु-स्थिति और नाट्य-स्थिति से सम्भावित था।

नाटककार ने अपनी भूमिका में हमारा ध्यान कुछ नई चीजों की ओर आकर्षित करना चाहा है—"आज नाटककार को अपना 'कंटेण्ट' बदलने की आवश्यकता है।" × × × "आज नाटक के लिए दो बातों की आवश्यकता है—नये विचारों की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपस्थिति और रंगमंच का पुनर्निर्माण।"

'नया समाज' में नाटककार उक्त आग्रह से नये 'कंटेण्ट' की ओर गया है—और वह कंटेण्ट है क्या? नाटककार के शब्दों में "यह नाटक जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन पर है।" × × × "जमींदारी-प्रथा के विगत वैभव का ही प्रदर्शन इसमें नहीं। उसके परिवार की समस्या, उसकी गति-विधि का भी चित्र इसमें है।"

यह 'कंटेण्ट' जिस रूप में भूमिका में लिखित है उस रूप में उतना सम्पूर्ण नाटक में नहीं है; वस्तुतः 'कण्टेण्ट' का यही बहाना नाटक को यथार्थ से दूर हटाकर इसे सर्वथा शहरी मध्यवर्ग की कुण्ठित सामाजिकता के धरातल की ओर खींचता-सा प्रतीत होता है, जिसके ऊपर नाटककार के नये समाज की केवल आदर्श भावना मुखरित है। नाटक का अन्त तभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

REFERENCE BOOK

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाटक-जैसा न होकर रेडियो के 'फीचर'-जैसा है, जो किसी विशेष पर्व और विशेष चरित्र पर लिखा जाता है। तभी 'नये समाज' का आदर्श नाटक के अन्त में कोरस-गान में स्पष्ट किया जाता है।

उक्त तथ्य किसी साधारण नाटककार द्वारा सिद्ध हुआ होता तो वह सर्वथा अग्राह्य और त्तय होता। 'नया समाज' का नाटककार वर्तमान नाट्य-साहित्य का एक प्रतिनिधि और शक्तिशाली नाटककार है। इस प्रकाश में हम नाटककार से बहुत बड़ी आशा रखते हैं, क्योंकि उसकी मर्यादा और स्तर में हमारे हिन्दी-नाट्य-साहित्य का भविष्य छिपा है।

'नया समाज' रंगमंच की सरलता की दृष्टि से अपेक्षाकृत सफल है। नाटक में पात्र थोड़े हैं और छब्बीस घण्टे का कार्यक्रम है। वस्तु-निर्देश भी नया है। दोनों अंकों में कुल मिलाकर छः दृश्य हैं और छहों दृश्य प्रायः एक ही कमरे में आते हैं।

अभिनय की दृष्टि से एक विशेष बात इसके कथोपकथनों के सत्य से जुड़ी है। प्रायः कथोपकथनों का रूप कलात्मक है। लेकिन कुछ स्थानों पर कथोपकथन 'स्वगत-कथन' की शैली में प्रयुक्त हुए हैं; वहाँ इसका रूप शिथिल हो गया है।

कुछ दृश्यों का तो आरम्भ ही नाटककार ने स्वगत-कथनों के माध्यम से किया है, जैसे, प्रथम अंक में दूसरे दृश्य का आरम्भ 'कामना' के स्वगत-कथन से और दूसरे अंक में दूसरे तथा तीसरे दृश्य का आरम्भ क्रमशः 'रूपा' और 'कामना' के स्वगत-कथनों से हुआ है।

नाटक के प्रायः सभी पात्र नाटकीय ढंग से उभारे गए हैं, लेकिन उदात्त आदर्श का समान भाव इस तरह से चरित्र-विधान के चारों ओर मँडराता रहता है कि नाटक की प्रभविष्णुता में बाधा उपस्थित होती है। नाटक की चरम सीमा और उससे नाटक का एकान्त प्रभाव चरित्रगत सिद्ध करने का है, जहाँ

हमें समाज बदलना होगा, आगे बढ़ो बढ़ो।
ऊँच नीच है नहीं कहीं भी, मिलकर चढ़ो चढ़ो।
नया गगन है चाँद नया है
धरती नई-नई।
सूरज नया, नई आशा है
नयी उमंग वती।

[कोरस]

लेकिन 'नये समाज' का यह सत्य इस नाटक में 'रूपा', 'चंदू' और 'मनोहर' के बीच 'कामेडी आफ सार्स' का शैली और तंत्र से घराया गया है; यहीं इस नाटक की शक्ति क्षीण हो जाती है और हमारे मन पर विनोद का प्रभाव अधिक पड़ता है, और यह विनोद 'नये समाज' की हँसी उड़ाने-जैसा लगता है।[1]

१. नया समाज ; लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—मसिजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरिजाकुमार माथुर

निकष : नवीन दृष्टिकोण का प्रतीक

हिन्दी का नया साहित्य अब प्रयोगशाला का कच्चा अधबना माल ही नहीं रहा बल्कि दिन-प्रतिदिन वह अधिक व्यवस्थित और रूप-गठित होकर बाहर आ रहा है, 'निकष' इस बात का एक संयोजित प्रमाण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'निकष' में जो-कुछ निकला है वह सब-का-सब श्रेष्ठतम है और बाकी जो उसकी परिधि के बाहर है या लिखा जा रहा है वह निम्न स्तर का है, बल्कि यह कि प्रस्तुत संकलन को देखकर एकत्र रूप से अनुभव होता है कि पिछले पन्द्रह वर्षों की उपलब्धि किन नये रूपों में धीरे-धीरे ढल रही है। जिन लोगों की यह स्पष्ट धारणा थी कि नई शैली का कृतित्व एक संक्रांतिकालीन क्षणिक आवेग या फैशन-मात्र है, अस्थायी परिस्थिति है, या जो इस आशा में जी रहे हैं कि दस-पाँच साल की यह हवा अपने-आप बन्द हो जायगी तब पुनः युग उनके पास लौटकर आएगा उन्हें; 'निकष' और निकष-जैसी दूसरी चीजों को देखकर क्रमशः निराश होते जाना पड़ेगा। आज की बिखरी हुई उपलब्धियाँ जब इस प्रकार संग्रहीत रूप से सामने आयँगी तभी इनका असली महत्त्व ज्ञात होगा और उचित मूल्यांकन हो सकेगा। 'निकष' का स्वागत सबसे पहले इस दृष्टि से होना चाहिए।

प्रकाशन-वक्तव्य से लेकर सम्पादकीय तक में जिस बात को सबसे अधिक जोर देकर कहा गया है वह यह है कि 'निकष' उच्च साहित्यिक कृतियों का संकलन होगा। श्रेष्ठता, सजीवता, रसमयता, नया सौन्दर्य-बोध, यथार्थ दृष्टि उस कृतियों की कसौटी होगी; न कि किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक पक्षधरता। निकष-जैसा सार्थक और मौलिक नाम भी इसी कारण उसको दिया गया है और यद्यपि उसमें कुछ गैर मामूली कविताएँ भी सम्मिलित की गई हैं, पर मुख्य रूप से उसे गद्य-संकलन कहना ही उचित होगा। 'गद्यं कवीनां निकषं वदंति' वाली उक्ति के अनुसार (जहाँ से सम्भवतः संकलन का नाम लिया गया है) गद्य-कृतियों का ही अधिक प्रतिनिधित्व इसमें दिया गया है। हमें देखना है कि इसका निर्वाह संग्रह में कहाँ तक हुआ है तथा किस सीमा तक 'निकष' में श्रेष्ठता और पक्षधरता का अभाव प्राप्त होता है।

'निकष' में एक सम्पूर्ण लघु उपन्यास (सोया हुआ जल), दो उपन्यासों के अंश (गाथा, खाली कुर्सी की आत्मा), एक नाटक (मैं आइना हूँ), सात कहानियाँ (कोयला भई न राख, रसप्रिया, घाटी का दैत्य, सेब, सूने दिन सूनी रातें, फुलबसिया, गुल की बन्नो), तीन लघु कथाएँ (तीन रोने वाली औरतें, मोती और पुरानी सड़क, नई पगडंडी) चौदह कविताएँ और एक अनुवाद, तीन-व्यंग लेख, दो व्यक्तिगत लेख (पर्सनल एसे), एक डायरी और एक कला-समीक्षा संग्रहीत है। काफी सामग्री है। इनके अतिरिक्त साढ़े नौ पृष्ठ का सम्पादकीय भी है, जिसका विवेचन अलग से होना सिर्फ इसलिए ही अपेक्षित नहीं है कि वह स्वयं एक स्वतन्त्र निबन्ध है बल्कि इसलिए भी कि जो-कुछ इसमें जिस तरह कहा गया है वह कई विवादास्पद प्रश्न सामने उपस्थित कर देता है। सम्पादकीय वक्तव्य एक नीति-विषयक घोषणा होती है, एक 'ओवर-आल' मुहर है, जो संग्रहीत सामग्री पर लगाई जाती है। अर्थात् ऐसे संकलन का सम्पादकीय पढ़कर आप आशा कर सकते हैं कि जो लेख उसमें संग्रहीत किये गए हैं वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कदाचित् एक ही स्कूल के हैं। 'निकष' की अधिकांश रचनाएँ इस बात का प्रमाण नहीं देतीं। इसलिए हम पहले रचनाओं को ही परखेंगे।

सारा संकलन पढ़ जाने के बाद सबसे पहली बात जो मन में आती है वह यह है कि 'सोया हुआ जल', 'सड़क बाहर की-भीतर की', 'सूने दिन सूनी रातें', 'गुलकी बन्नो', 'सेब' तथा पन्त जी, अज्ञेय, श्रीराम वर्मा और वीरेन्द्रकुमार जैन की कविताएँ ही विशेष महत्त्व की हैं, साधारण से ऊपर हैं। शेष सामग्री सामान्य या सामान्य के कई स्तरों पर हैं।

पन्त जी की कविता 'सोनजुही' कसी हुई, प्रौढ़ और साफ-सुथरी होने के साथ ही उनके उत्तरकालीन दृष्टिकोण की भी परिचायक है, जिसमें धरती की जीवनी-शक्ति से प्रेरणा लेकर नवीन मानस-संस्कृति के विकसित होने की कल्पना है। नई छवियों का इसमें विशिष्ट प्रयोग है; जो पन्त जी के लिए सहज रहा है। शब्द-चित्रों का सांक्षेप्य और उनकी सजीवता द्रष्टव्य है :

"एक टाँग पर उचक खड़ी हो
मुग्धा वय से अधिक बड़ी हो
पैर उठा, कृश पिंडुली पर धर
घुटना मोड़ चित्र बन सुन्दर
उठ अँगूठे के बल ऊपर
उड़ने को अब छूने अम्बर
सोनजुही की बेल हठीली
अटकी सधी अधर पर"

अज्ञेय की रचना 'साँप' एक शक्तिशाली रचना है और उसका व्यंग्य भी तीखा है। बड़े ही संक्षेप और सरलता से एक व्यापक बात कही गई है। कविता का ऋजु 'डिक्शन' ध्यान खींचने वाला है। इस कविता पर यह लांछन नहीं लगाया जा सकता कि वह डी० एच० लारेंस की 'स्नेक' नामक कविता से मिलती-जुलती है, या उससे उत्प्रेरित हुई है। यह सही है कि इन दोनों रचनाओं के शीर्षक एक-से हैं और यह भी सम्भव है कि उक्त विषय पर अज्ञेय का ध्यान जब गया हो तो डी० एच० लारेंस की रचना की अनुगूँज उनके मन में कहीं पड़ी हो। पर इस साम्य के अतिरिक्त कविता में और कोई साम्य नहीं है, दोनों की विचार-वस्तु बिलकुल अलग है। बल्कि 'स्नेक' से अधिक निकट की रचना डी० एच० लारेंस की लिज़ार्ड (Lizard) लगती है जिसका सांक्षेप्य और 'एप्रोच' अज्ञेय के 'साँप' से मेल खाता है। विचार-वस्तु यहाँ भी विभिन्न है।

'साँप' इस संग्रह की विशिष्ट कविताओं में से एक है, यद्यपि उसे सबसे अलग करके महत्त्व देकर क्यों छापा गया है यह समझ में नहीं आता।

श्रीराम वर्मा लिखित 'चक्रव्यूह' एक सुगठित और श्रेष्ठ रचना है। पुराने प्रतीकों को नये ढंग से उभारा गया है और आज के व्यक्ति-जीवन तथा सामाजिक संघर्षों की समस्याओं को बहुत अच्छे संकेत तथा व्यंजना से प्रस्तुत किया गया है। इस कविता को पढ़कर चित्र-कला का 'वाश शिल्प' याद आ जाता है जिसमें कूँची के दो-चार 'स्ट्रोक' से ही पूरा चित्र स्पष्ट हो जाता है। बड़े विश्वास और भविष्य की आस्था के साथ कवि कहता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मेरी आत्मा
अर्जुन से भी अधिक ऋजु है
सुभद्रा से भी अधिक धारणाशीला है
और अभिमन्यु से भी अधिक श्रुतिधर्मा है
क्योंकि मैं वर्तमान को अपना छोटा भाई
मानता हूँ
जिसे मैं जिधर चाहूँ मोड़ सकता हूँ
और उसे अपने प्यार के सहारे दिव्य और भव्य
बना सकता हूँ"

रचना में शब्दों की मितव्ययता ध्यान देने योग्य है। साथ ही उसकी भाषा, उपमान, क्रम-संयोजन (सीक्वेंस) भावना का कसाव, अन्विति और अभिव्यक्ति के संयम (Restraint) से जो वातावरण उत्पन्न होता है उसमें एक सहज, हल्की रूक्षता है, जो विषय के लिए अत्यन्त उपयुक्त बैठी है। वह उस कठोर यथार्थ का संकेत करती है जिससे संघर्ष चल रहा है। इस प्रकार कविता पौराणिक प्रतीकों के आस-पास ही उलझकर नहीं रह जाती। केवल छंद के मामले में रचना पिछड़ गई है। उसमें लय का अभाव है, यद्यपि गति का नहीं है। लेकिन कविता का गुण लय है और मात्र-गति गद्य का। जब तक कविता में लय न हो उसे गद्य से पृथक् करना कठिन है। इसका समाधान यह कहकर किया जाता है कि कविता गद्य-गीत में लिखी गई है। पर एक तो गद्य-गीत कविता के लिए कहाँ तक उपयुक्त है यह प्रश्न विवादास्पद है, दूसरे गद्य-गीत का यह अर्थ कदापि नहीं है कि सीधा-सादा गद्य लिखकर उसे कविता की संज्ञा दे दी जाय। कविता में गद्य-गीत के तत्त्व को अंगीकार करने का तो यही उद्देश्य ज्ञात होता है कि छन्द भावना के पीछे चले न कि भावना छन्द के, अर्थात् छन्द के सम्बन्ध में यह स्वतन्त्रता कवि को हो कि भावाभिव्यक्ति के हित में उसकी गति या लय को आवश्यकता पड़ने पर तोड़ा भी जा सके, एक या दो ताल-कड़ियाँ कम की जा सकें या बढ़ा दी जायँ, लयात्मक सम्भाषण-शैली का आधार लिया जाय, अच्युत (Inevitable) शब्द के स्थान पर इसलिए कोई अन्य पर्याय जबरन न रखा जाय कि ऐसे मात्रा घटती या बढ़ती है, या मात्रा और छन्द पूरा करने के लिए निरर्थक शब्दों की व्यर्थ ही भरमार न करनी पड़े। सारांश में कवि-भावना के अनुरूप छन्द को तोड़ने-मरोड़ने की सुविधा हो।

इस अवस्था में भी छन्द की शर्त पहली है, छन्द हो यानी लय हो। छन्द का मूलभूत पैटर्न ही जब नहीं होगा तो गति की स्वतन्त्रता कहाँ से ली जा सकेगी। 'चक्रव्यूह' की पंक्तियाँ आदि से अन्त तक गद्य की पंक्तियाँ हैं। गद्य में इससे भिन्न रूप में उसे नहीं लिखा जा सकता। गद्य-गीत छन्द की सीमा में ही सफल हो सकता है, उससे बाहर रहकर नहीं।

वीरेन्द्रकुमार जैन की 'वह गई है फूल बीनने' संग्रह की एक और उत्कृष्ट कविता है। इसमें जिस रहस्यमय, चामत्कारिक, जादुई वातावरण का निर्माण किया गया है वह बड़ी सफलता से अंकित हुआ है। गाँव की प्रगीत-गाथाओं (ballads) में ऐसी भावना यत्र-तत्र मिलती है, विशेष रूप से मालवा और बुन्देलखण्ड के लोक-गीतों में। जैसे बहन और बीरन तालाब से कमल के फूल तोड़ने जाते हैं, बहन आगे बढ़कर जल में समा जाती है, एक कमल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फूल बनकर रह जाती है और भाई पछताता रह जाता है। वीरेन्द्रकुमार ने इस लोक-भावना के सूत्रों को लेकर नये ढंग से रचना में प्रस्तुत किया है। लोक-जीवन की आत्मा पंक्ति-पंक्ति में बोलती है। बिसातियों की आवाजें, रेशमी टुकड़े वाले की फेरी, सल्मे-सितारों वाला, मनिहार खिलौने वाला, काबुली मेवे वाला, इन सबकी आवाजें हमारे लोक-जीवन में बसी हुई हैं। क़िले वाले साईं का प्रकरण न केवल चित्रमय, शक्तिपूर्ण और प्रभावोत्पादक है बल्कि वह उस रहस्यमय सिचुएशन का आवश्यक अंग बनकर आता है। रचना में जिस रहस्य-गर्भित वातावरण की सृष्टि की गई है उससे कोलेरिज की कविताओं के सुपरनेचुरल तत्त्व का एकाएक ध्यान आ जाता है। वही दूरी का भान, जादुई वातावरण, चमत्कार-भरी स्थितियाँ, जो रोमानी कविता की विशेषताएँ होती हैं, इस रचना में हैं।

छन्द का अभाव यहाँ भी मौजूद है। किन्तु पंक्तियाँ गद्यात्मक नहीं है। शब्दों का चुनाव और क्रम-संयोजन ऐसा है जिसमें गति के साथ उतार-चढ़ाव भी है। उतार-चढ़ाव का यह तत्त्व छन्द के अभाव में कविता को निरा गद्य होने से बचा लेता है। इस दृष्टि से छन्द न होते हुए भी निम्नांकित पंक्ति अन्य पंक्तियों की अपेक्षा अधिक सफल है :

"संध्या के मंडप घर की दीवारों पर माँडने के लिए"

इस पंक्ति का यदि विश्लेषण किया जाय तो वह लगभग बराबर के चार 'फीट' में विभाजित हो सकती है—

संध्या के। मंडप घर की। दीवारों पर। माँडने के लिए।

जिसमें लगभग सभी गति-अंशों के अन्त में एक स्वर-ध्वनि वर्तमान है। 'दीवारों पर' वाले अंश को पढ़ते समय अगले शब्द 'मां' अक्षर को अनिवार्यतः साथ लेकर पढ़ना पड़ता है, जिसके उक्त अंश के अन्त में भी एक स्वर-ध्वनि आ जाती है। इस प्रकार पंक्ति में लय का एक 'पैटर्न' कायम हो जाता है और छन्द का अभाव नहीं खटकता।

विकसित लय-पट ही छन्द है, पर मात्र लय-पट से भी काम चल सकता है अथवा वह एक नये छन्द का निर्माण-बिन्दु बन सकता है। जहाँ यह भी न हो वह गद्य है। गद्य कहाँ मात्र-गद्य रहकर कविता के लिए अनुपयुक्त होता है और कहाँ से किस प्रकार वह छन्द का रूप धारण करने लगता है उस सूक्ष्म सीमा-क्षेत्र का संकेत करना ही इस विश्लेषण का लक्ष्य है। पिछली कविता 'चक्रव्यूह' के छन्दाभाव में उपर्युक्त लय तक का अभाव है, इसीलिए उसकी पंक्तियाँ इस कविता से अधिक गद्यात्मक हैं। आजकल गद्य की तरह से बहुत कविताएँ लिखी जाने लगी हैं, पर गद्य कहाँ लय पाने लगता है, लयात्मक पैटर्न बनाने लगता है इसका विशेष ज्ञान अधिकांश लेखकों को नहीं है। वाल्ट व्हिटमैन की नकल करना आसान है, वाल्ट व्हिटमैन बनना मुश्किल है।

संग्रह की यही चार कविताएँ विशिष्ट हैं। अन्य कविताओं में जगदीश गुप्त की कविता 'पौ फटी' और कुँवरनारायण की कविता 'आशय' का उल्लेख किया जा सकता है, यद्यपि कुँवर नारायण की कविता उतनी विकृत या चौंकाने वाली नहीं है जितने कि पहले तीन शब्द 'आमाशय, यौनाशय, गर्भाशय' से लोगों को ख्याल पैदा होता है। श्री बालकृष्णराव, विजयदेव नारायण साही, रवीन्द्र भ्रमर और कीर्ति चौधरी की कविताएँ भावनाकुलता और ताप की कमी के कारण मन में बहुत भीतर नहीं बैठती हैं। बालकृष्ण रावजी की कविता में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जमीन तो नई है पर बुद्धि और तर्क बोलता है, भावना नहीं। नये कवि मलयज की रचना 'हम स्वप्नपर्शी हैं' में पस्ती और आत्म-प्रतारणा (self-pity) ही अधिक है, इसलिए कविता का अन्तिम अंश पहले से मेल नहीं खाता। महादेवी की रचना मौलिक नहीं अनुवाद है इसलिए उस पर अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, मौलिक कृतियों के संकलन में अनुवाद को स्थान देना विचारणीय बात अवश्य है।

संकलन के गद्य अंश में सबसे पहले दृष्टि खींचने वाली चीज सर्वेश्वर दयाल का 'सोया हुआ जल' है। यह सर्वथा नया प्रयोग है जिसका आधार मध्यवर्गीय तृष्णा, अतृप्ति हताशा (फ्रस्ट्रेशन) का है। इसके खण्ड-चित्र एक पात्र विशेष की मानसिक प्रतिक्रिया और स्वप्न दर्शनों के द्वारा सूत्रबद्ध किये गए हैं। लेखक के अनुसार इसे सिनेरियो-शिल्प में लिखा गया है; पर आदि से अन्त तक सिनेरियो शिल्प का आभास भी कहीं नहीं मिलता। सिनेरियो स्क्रीन प्ले या चित्रालेख होता है और फिल्म-पट की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखा जाता है, परदे पर कोई दृश्य किस भाँति, किस एंगिल से कितना आना चाहिए इस दृष्टि से हर स्थान पर कैमरा-परिचालन के निर्देश उस आलेख में होते हैं। संवाद बोलने आंगिक और भाविक अभिनय करने का निर्देशन भी रहता है। वस्तुतः सिनोरियो को अक्षरों में लिखी सम्पूर्ण फिल्म कहना चाहिए। इस रूप में 'सोया हुआ जल' नहीं लिखा गया है बल्कि दृश्यगत स्थितियों को छोड़कर उसका शिल्प फीचर के अधिक निकट है। फीचर में जिस प्रकार छोटे अंकों को नैरेटर के माध्यम से जोड़ा जाता है लगभग उसी प्रकार की दृश्य-स्थितियाँ बूढ़े पहरेदार के कल्प-विकल्प के माध्यम से यहाँ सम्बद्ध की गई हैं। इसलिए 'सोया हुआ जल' को उपन्यास कहने के बजाय वार्तालाप-शैली में लिखित एक प्रतीकात्मक दृश्य-रूपक कहना अधिक उचित होगा।

लेखक की भाषा तथा स्थितियों का वर्णन बड़ा मार्मिक और आकर्षक है। मध्यवर्गीय जीवन की जिस हताशा, अतृप्ति और प्यास का चित्र सामने आता है उसीके अनुरूप दर्द और उदासी का वातावरण भी दिया गया है—

"रात; अंधेरे में सोया हुआ ताल का जल। नाचती हुई रोशनी के पीले हरे फूल। खटखट। एक काली परछाईं का ताल के जल पर से रेंग जाना।"

मध्यवर्गीय जीवन : वास्तविकताओं में तृष्णा और अतृप्तियाँ और स्वप्नों में इच्छा-पूर्तियाँ (wish fulfilment) लेखक के अनुसार यही उसकी परिभाषा है। वह दुनिया एक यात्रिशाला या होटल की तरह है, सम्भवत: इसीलिए होटल ही घटना का केन्द्रस्थल बनाया गया है। इस दुनिया में ब्रिज और ड्रिंक्स चलते हैं, लड़कियों की फ़िराक़ रहती है, प्रेयसी को लेकर प्रेमी घर से भाग जाते हैं, भाभियाँ अपने विवाह से पूर्व किये हुए रोमांस की अतृप्तियों को स्वप्न में पूरा करती हैं, छोटे भाई अवचेतन मन में भाभियों को पाने की अतृप्त कामना रखते हैं, शरीफ़जादे कमरों में फाँसी से लटकते पाये जाते हैं, सर्वहारा क्रान्ति में विश्वास रखने वाले आदर्श के नाम पर सफ़र-खर्च पाने के लिए खून तक करने का निश्चय करते दिखते हैं, क्योंकि 'वे नीच घृणित' और हाथ में बोतल लिये झूमते फ़क्कड़ शराबी उस दुनिया के सबसे बड़े फलसफ़ी होते हैं।

सारांश में 'सोया हुआ जल' में मध्यवर्ग का यही चित्र है। असन्तोष, अतृप्ति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृष्णा से भरा हुआ वह वर्ग है जिसकी मुख्य भूख रोमांस और सेक्स की भूख है। इस वर्ग की अतृप्तियों और असन्तोष में एकाध आर्थिक अभाव का जिक्र भी लेखक ने कर दिया है; जैसे बेकारों को स्वप्न में नियुक्ति-पत्र की प्राप्ति या भूखों को शानदार दावत की प्राप्ति पर उसका संकेत स्वप्न-दर्शन के रूप में ही आता है, उभरकर नहीं। आदि से अन्त तक इस वर्ग की मुख्य अतृप्ति सेक्स ही के रूप में अंकित हुई है। जिसके अन्तर्गत प्रेम की विफलता, वैवाहिक जीवन का विपर्यय, दैहिक भूख का दमन, इन्द्रियाकुलता, कुण्ठा, यौवन, वर्जना आदि आती हैं। लेखक का प्रस्तुत विश्लेषण इस संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण उदाहरण से स्पष्ट होता है :

"अस्त-व्यस्त वसनों और शिथिल मुद्राओं में, कसे अंगों वाली स्त्रियाँ, सुन्दर वस्त्रों में सजी हुई स्त्रियाँ, नंगी-अधनंगी स्त्रियाँ, आलिंगन-बद्ध, हँसती, गाती, प्यासे होंठ बढ़ाती स्त्रियाँ चारों ओर बिखरी हुई हैं और सिमिटकर एक बड़ी लम्बी कतार में यात्रि-शाला के भीतर प्रवेश कर रही हैं। कमरों के दरवाजे खोलकर गा रही हैं, भीतर पलंगों पर सो रही हैं, प्रेमालाप कर रही हैं। नाच रही हैं, गा रही हैं।

यह परियों का जमावाड़ा क्यों है ?

क्योंकि आदमी ने अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण लगा रखा है, उसकी इन्द्रियाँ तृप्त नहीं हैं। ये सभी भूखे हैं, प्यासे हैं, यह उनकी माँग है।"

इसी प्यास और तड़प के आधार पर 'सोया हुआ जल' की रचना हुई है। लेखक के अनुसार मध्यवर्ग की इन सारी समस्याओं का हल किसी भौतिकवादी परिवर्तन से नहीं बल्कि ऐसी क्रान्ति से होगा जिसका आधार करुणा पर, संवेदना पर और मानवता पर होगा, क्योंकि 'बाह्य परिस्थितियों के बदलने से काम नहीं चलेगा, आदमी को भीतर से बदलना होगा।'

प्रश्न यह नहीं है कि नये परिवर्तन का आधार करुणा, संवेदना और मानवता पर हो या नहीं। मानवीय आधार से किसी को कदापि इन्कार नहीं हो सकता। प्रश्न यह है कि क्या हमारे समस्त मध्यवर्ग का केवल यही रूप है जो यहाँ प्रस्तुत किया गया है, क्या उसकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक समस्याएँ कुछ नहीं हैं, क्या मात्र सेक्स और उससे उत्पन्न कुण्ठाएँ ही उसकी सारी खराबियों की जड़ है, जिसके कारण आदमी को भीतर से बदलने की आवश्यकता दिखाई देती है। फिर यह मध्यवर्ग कौन-सा है ? क्या एक विशेष प्रकार का उच्च वर्ग नहीं, जिसके सामने शायद 'सेक्स' ही मुख्य समस्या होती है ? यदि सेक्स ही उसकी समस्या का मूलाधार है तो फिर भीतर से बदलने का अर्थ केवल यह रह जाता है कि आदमी की इच्छाओं पर नियन्त्रण न रहे, उसकी इन्द्रियाँ तृप्त हो जायँ, वह खुलकर अपनी दैहिक प्यासों को बुझाता चले। फ्रायड के साइको एनेलेसिस का यही हल है और यदि हृदय परिवर्तन को ही लिया जाय तो शून्य में तो वह हो नहीं सकता, उसके लिए यथार्थ की पीठिका भी आवश्यक है। यह 'यथार्थ' सेक्स या सेक्सगत कुण्ठाएँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि वह 'भीतर' की चीज़ें हैं। तब बाह्य परिस्थितियों के परिवर्तन के सिवा उसका क्या आधार हो सकता है। आदमी के संस्कारों में उसकी बाह्य परिस्थितियाँ तथा उनसे उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ, रुचियाँ, आदतें आदि दोनों ही सम्मिलित होती हैं, इसलिए आदमी को बदलने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए दोनों का परिवर्तन आवश्यक होता है। जो दोनों का सामञ्जस्य और समन्वय करके चलता है वही परिवर्तन मानवीय और मानव-योग्य होता है। इस प्रकार विश्लेषण और निष्कर्ष दोनों ही दृष्टियों से 'सोया हुआ जल' में एक तरह का उलझाव नजर आता है।

आदमी की समस्या सेक्स की ही नहीं है; सेक्स की किशोर-भावना से ऊपर उठकर समाज की है, संस्कृति की है, व्यवस्था की है, रचना की है, निर्माण की है,। वह आज अकेला नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय है। 'सोया हुआ जल' में हमें यह दृष्टिकोण नहीं मिलता, पर वह एक श्रेष्ठ कृति है, उसका शिल्प अत्यन्त सफल, उत्कृष्ट और नया है और वह लेखक की गहरी, अनुभूतिमयी और बारीकियों में जाने वाली दृष्टि का भी परिचायक है।

'निकष' की तीन अन्य कहानियाँ मानवीयता का इससे एक भिन्न स्तर प्रस्तुत करती हैं। ये कहानियाँ हैं: भारती की 'गुल की बन्नो', शान्ति मेहरोत्रा की 'सूने दिन सूनी रातें', और रघुवीर सहाय की 'सेब'। इन्सानी संवेदना, सहानुभूति, करुणा का ऐसा अन्तःप्रवाह इन कहानियों में है जो हमें उसके पात्रों और घटनाओं से एकात्म कर देता है और हमारे मन में वही मरोड़ें पैदा करता है जो इनके पात्रों ने तथा लेखक ने पात्रों को जन्म देते समय अनुभव की होंगी। ऐसा केवल इसलिए नहीं होता कि इन कहानियों के पात्र तथा घटना-स्थितियाँ सार्वजनीन 'टाइप्स' हैं, एक सिमटे हुए वर्ग-विशेष की नहीं हैं, जिसकी विशेष प्रकार की समस्याएँ और अभिजात प्यासें होती हैं; पर इससे कहीं बड़ा कारण यह है कि स्वयं लेखक ने उन समस्याओं और कटीले भावावेगों को बड़ी तिखाई से अनुभव करके व्यक्त किया है, जिससे साधारणीकरण सम्भव हो सका है। तीनों ही कहानियाँ इस बात का सफल उदाहरण हैं। उनमें लेखकों का एप्रोच शुद्ध मानवीयता का है, जैसा हाड़-माँस के बने आदमी का आदमी के प्रति होता है, यानी वह जो आदर्श, सिद्धान्त, मत-मतान्तर, पूर्व धारणाएँ, भेद, भिन्नता, अहंभाव, पक्षपात का चश्मा चढ़ाए नहीं रहता या स्थिति-विशेष में इन्सानी नस्ल के किसी व्यक्ति को पड़ा देखकर इन बातों को भूल जाता है। इन कहानियों में सँधे-बँधे (सैट) सिद्धान्त, सम्प्रदाय या आइडोलोजी की थोपा-थापी नहीं की गई है। उनकी घटनाओं को किसी दृष्टि विशेष से कोई हेतु या झुकाव देकर प्रस्तुत नहीं किया गया बल्कि इन्सान के रिश्ते से इन्सान को देखा गया है। यह इन कहानियों की बड़ी विशेषता है और इस नाते इन्हें सही मानी में 'स्वतन्त्र' कहा जा सकता है।

'गुल की बन्नो' (नाम की मौलिकता के लिए भारती को बधाई दिये बिना मन नहीं मानता) की विशेषता चरित्र-चित्रण है। शहर की गन्दी गली और गली के लावारिस बच्चे, गुलकी, घेघा बुआ, साबुन वाली सत्ती निरमल की माँ इन सबका चरित्र अपने-अपने दायरे से जुदा-जुदा अंकित हुआ है, जो एक साथ मिलकर हमारे नगरों की गलियों में बसने वाले निचले वर्गों के जीवन और उनकी रुचियों, समस्याओं का एक संश्लिष्ट चित्र सामने लाता है। 'ऐ मर कुलमुँहें' की गाली से कहानी का आरम्भ उस समस्त अभिशप्त जिन्दगी का प्रतीक-भाव बन जाता है जिस घूरों की दुनिया में आदमी और पशु, कुत्ते और साथ निकलते गली के बच्चे अस्तित्व के एक ही स्तर पर रहते हैं।

शान्ति मेहरोत्रा की कहानी में 'सिचुएशन' की विशेषता है। जीवन का मोह, ममता और गहरी संवेदना उसके लिए सुलभ है, वह इस कहानी में खूब व्यक्त हुई है। एकाकिनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुढ़िया, जिसका अपने को छोड़कर कोई सम्बल नहीं है, जो हर मानसिक तिनके का सहारा ढूँढती है, जिसका दूभर जीवन काटे नहीं कटता, फिर भी वह उसे मुट्ठी से पकड़े हुए है यह सब विश्लेषण बहुत सच्चा और मर्मभेदी बन पड़ा है। बड़ी सफलता और बारीकी से लेखिका ने अपने 'टाइप' के मन की हालत पकड़ ली है। घर की जिन छोटी-छोटी बातों, काम-काज और आदतों के बीच उन्होंने बुढ़िया का नक़शा खींचा है वह एक गृहिणी ही कर सकती थी। इसलिए उनकी कहानी में पारिवारिकता का अनूठा स्पर्श मिलता है।

रघुवीर सहाय की 'सेब' भी साधारण से काफी अलग कहानी है। उसका शिल्प 'स्केच' का है। मानवीय संवेदना से युक्त उसका वातावरण बड़ा कोमल तथा कारुण्य की हल्की अफसुर्दगी और एक प्रकार के अनिर्वच कोरेपन से अनुप्राणित है। कोरेपन का यह मासूम आवरण उसकी करुणा को और गहरा बनाता है। मानवीयता का एक नया ही एंगिल उसमें प्रस्तुत किया गया है :

"मैं अपनी करुणा से परेशान था और उसे मेरी करुणा की आवश्यकता नहीं मालूम हो रही थी !"

"वह हँसा तो नहीं पर ऐसे मुस्कराया जैसे कह रहा हो कि अपनी करुणा का श्रेय लेना चाहते हो तो हमारी व्यथा को क्यों अतिरंजित कर रहे हो।"

"मैं संवेदन ही दे सकता था ... इसलिए मेरे मुँह से निकला 'घबराओ नहीं, ठीक हो जायगी लड़की'। अब सोचता हूँ कि बजाय इसके अगर मैं पूछता 'आज कौन-सा दिन है' तो कोई फर्क न पड़ता।"

क्या चुटीला व्यंग्य है।

इन कहानियों के बाद डॉ० रघुवंश की कहानी 'घाटी का दैत्य' एक सुगठित मनोविश्लेषण से पूर्ण रचना है। विषय तथा सेटिंग नया है, पर मानवता का तीखापन कुछ कम है।

निबन्ध और व्यक्ति-लेखों में सबसे मौलिक और आकर्षक अनन्तकुमार पाषाण का व्यक्ति-लेख 'सड़क बाहर की, भीतर की' है। फ्री-असोसिएशन के टेकनीक से वह लिखा गया है और उसका व्यंग श्रेष्ठ है। वाद-रहित स्वतन्त्र चिन्तन का प्रमाण उसमें है। श्रीलाल शुक्ल का 'स्वर्ण ग्रीम और वर्षा' भी चुटकियाँ-भरा सफल व्यंग्य है। कुट्टिचातन (सम्भवतः : अज्ञेय) का मार्ग-दर्शन मज़ेदार चीज़ है यद्यपि वह गुदगुदाता है, हँसाता नहीं। विद्यानिवास मिश्र का निबन्ध 'हल्दी, दूब और दधि अक्षत' हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं को अत्यन्त सुन्दर और रोमानी ढंग से प्रस्तुत करता है।

संकलन की शेष सामग्री में केशवप्रसाद मिश्र की कहानी 'कोयला भई न राख', फणीश्वरनाथ रेणु की 'रसप्रिया', डॉ० रांगेय राघव के उपन्यास का अंश 'गाथा', लक्ष्मीकान्त वर्मा लिखित 'खाली कुर्सी की आत्मा', केशवचन्द्र वर्मा का हास्य-लेख 'फलित ज्योतिष और वाहन-योग', भगवतशरण उपाध्याय का 'मूल्यांकन', अजितकुमार के 'डायरी के कुछ पृष्ठ', (जिसकी खास चीज सिर्फ यह है कि कविता में संगीत के नये तत्व और अक्षरों की स्वतन्त्र स्थिति की गम्भीर बात करके अन्त में एक समूचे पद्यांश को गद्य की पंक्तियों की तरह लिख दिया गया है), डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल का नाटक 'मैं आइना हूँ', प्रभाकर माचवे तथा शम्भूनाथ सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दो व्यंग्य कविताएँ तथा विपिन अग्रवाल, गंगाप्रसाद पांडेय और बैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा की तीन लघु कथाएँ आती हैं। ये सभी लेखक प्रतिष्ठित और प्रतिभा-सम्पन्न हैं और प्रस्तुत सामग्री से अधिक श्रेष्ठ चीजें भी लिखते रहे हैं।

अन्त में हम सम्पादकीय वक्तव्य का विश्लेषण करेंगे। सम्पादकीय की इन स्थापनाओं से मतभेद नहीं हो सकता कि श्रेष्ठता ही साहित्य का मापदण्ड होना चाहिए, मानवीयता तथा नैतिकता ही नये साहित्य का परम मूल्य है और यह कि साहित्य का सौन्दर्य मर्यादा, अनुपात, सन्तुलन, व्यवस्था में निहित है। इन मूल्यों को साहित्य में प्रतिष्ठित करने के लिए ही आज का साहित्यकार यथार्थ से जूझ रहा है और यह भी ठीक है कि साहित्यकार का पाठकों के प्रति गम्भीर दायित्व है, असीम सामर्थ्य और सम्भावनाओं से युक्त 'जन' को उसे अपना श्रेष्ठतम देना है, "झूठे, मिथ्या और कल्पित, आत्मप्रक्षेपित कुहालोक में न भटककर वास्तविक संघर्षों से आँख मिलाना है।" पाठक को या 'जन' को, जो यन्त्र या पशु बनाना चाहते हैं ऐसे प्रतिगामी विचारादर्शों से अलग हटकर मुक्त सृजन करना है।

यहाँ तक यह तर्क और विश्लेषण ठीक है, सर्वमान्य है। पर इन स्थापनाओं से जो निकर्ष निकाले गए हैं वहाँ कुछ कल्पना और अतिरंजना का अंश आ गया है। कहा गया है कि अब तक का अधिकांश साहित्य पाठक या 'जन' को बहकाने वाला था, क्योंकि उस अधिकांश के पीछे प्रचारात्मक, उपयोगितावादी, रोमांचक, सेक्सी या पुराणपंथी दृष्टिकोण काम करता था। अब जब इससे दूसरे प्रकार का नया साहित्य सामने आ रहा है तो वे प्रवृत्तियाँ, जो मानव को पशु या यन्त्र बनाना चाहती थीं, जो पाठक को केवल "बचकानी अनुभूतियाँ, पिछले स्तर और सस्ती अभिरुचि के योग्य ही समझती थीं" वे इस नये कृतित्व पर दुरूहता का आरोप करती हैं। सम्पादकीय में यहाँ तर्क यह दिया गया है कि चूँकि आज अनुभूतियाँ अधिक मार्मिक और असाधारण हैं इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी जटिलतर है। इसी कारण श्रेष्ठता, उच्चता के साथ उनमें एक अवश्यम्भावी दुरूहता आ जाती है।

हम नहीं समझते कि दुरूहता ही श्रेष्ठता की कसौटी है और जो श्रेष्ठ साहित्य होता है वह दुरूह होता है। हम यह भी देखते हैं कि इस दुरूहता की आड़ में आज बहुत-सा वाहियात कृतित्व भी सामने आ रहा है जिसमें खामखाह कोई नया दर्शन देने के लिए उछल-कूद, तोड़-मरोड़ की जाती है। हम यह भी नहीं मानते कि असाधारण, मार्मिक और गहरी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति आवश्यक रूप से जटिल होती है। बल्कि इसके विपरीत युगों के महान् साहित्य में जितनी गहरी, मार्मिक और श्रेष्ठ अनुभूतियाँ हमें मिलती हैं वे उतनी ही सहजता और सरलता से व्यक्त की गई हैं। श्रेष्ठ साहित्य का तो लक्षण ही यह है कि वह अत्यन्त जटिल अनुभवों को अत्यन्त सहज और सर्वग्राह्य रूप से व्यक्त करता है, जटिलताओं को पचाकर उसमें से सार्वजनीन सत्य का असल डोरा निकाल लाता है। अपने अन्तिम विश्लेषण में हर बड़े-से-बड़ा सत्य इतना सरल, सहल और आँखों के इतने निकट होता है कि लोग उसे भूले रहते हैं, उसका खयाल ही नहीं करते। वही जब श्रेष्ठ साहित्य के द्वारा उद्भासित होता है तब सहसा लोगों का ध्यान उसकी ओर जाता है और सदा से निकट होने के कारण वह सबको स्वतः ग्राह्य होता है। इसलिए यह कहना कठिन है कि दुरूहता श्रेष्ठता या गहनता ही का लक्षण है, मानसिक उलझाव (Confusion) या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुहासे का नहीं। नये साहित्य की दुरूहता और संगतियों के आलोचक बहुत-से नये-पुराने विचारवान्, स्वतन्त्र चिन्तक भी रहे हैं, जिनके बारे में यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वे मानव को यन्त्र या पशु बनाना चाहते हैं। फिर यह पाठक कौन है? क्या साहित्य में साधारणतः रुचि रखने वाला आम शिक्षित पाठक, विशेषतः दीक्षित पाठकों का एक सीमित वर्ग या स्वयं लेखक ही, जो आज आपस का पाठक है? और यह भी प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि आज कौन पाठक को यन्त्र या पशु बनाना चाहता है। हमें तो ऐसी किसी प्रवृत्ति का भय नहीं दिखता, जो आज जीवित हो या जिसका कोई अस्तित्व ही हो। हमारे साहित्य में जो प्रचारात्मक, अतिवादी, हिंसात्मक प्रवृत्ति थोड़े दिन के लिए आई थी वह कभी की समाप्त हो चुकी है अपनी मौत मर चुकी है और उस प्रवृत्ति के जिन्दा होने के न लक्षण हैं, न कदापि कोई सम्भावना है। प्रयत्न करने पर भी वह यहाँ न टिक सकी, क्योंकि एक तो उसके पीछे निहित लक्ष्य और स्वार्थों की बहुत जल्दी पोल खुल गई, दूसरे इस देश की आत्मा ने पंक्तिबद्धता, रेजीमेण्टेशन और नफ़रत के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया, उस वक्त भी स्वीकार नहीं किया था। इसलिए अब उस प्रवृत्ति को अपनी सारी स्थापनाओं का वेध-लक्ष्य बनाना न केवल एक निषेधात्मक (Negative) दृष्टिकोण अपनाना है बल्कि उसे डर का एक मिथ्या भूत खड़ा करना है। हमें सचेत अवश्य रहना है किन्तु एक विकट चीज़ का बार-बार इतने विस्तार के साथ जिक्र करने से लोगों को व्यर्थ ही यह भ्रम पैदा हो सकता है कि सम्भवतः नये साहित्य की कमज़ोरियों को छिपाने के लिए एक हेतु दिया जा रहा है, दुर्बलताओं को रेशनेलाइज़ किया जा रहा है। ऐसी ही बातों के कारण लोगों को 'व्यक्तिवादिता' आदि का भ्रम होने लगता है। आज वाद और सम्प्रदाय से सब ऊब चुके हैं और उनसे ऊपर उठकर, केवल मनुष्य रहकर मुक्त और स्वतन्त्र मन से सन्तुलित और समन्वित साहित्य सृष्टि करना चाहते हैं। यह समय की माँग है। ऐसी सूरत में एक निश्चयात्मक (Positive) दृष्टिकोण ही रखना उचित है और यह कहना पर्याप्त है कि नया साहित्य साम्प्रदायिकता, पक्षधरता, पंक्तिबद्धता, रेजीमेंटेशन, नफ़रत का विरोधी और असीम प्रतिभा और सम्भावना-सम्पन्न 'मनुष्य' मनुष्यत्व तथा मानव-व्यक्तित्व की प्रगति का साथी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय

सन्तुलन

लेखक—प्रभाकर माचवे, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृ० १९२, मूल्य २) रु० ।

हिन्दी में आलोचना के नाम पर आज विपुल साहित्य प्रकाश में आ रहा है। किन्तु वास्तव में आलोचना की कोटि में कितना साहित्य आता है, यह विचारणीय है। प्रस्तुत निबन्ध-पुस्तक इस दृष्टि से एक अभाव की पूर्ति करती है। यह तीन भागों में विभक्त की गई है: (१) कला और साहित्य, (२) आधुनिक कविता, और (३) आधुनिक गद्य।

पुस्तक के सर्वोत्कृष्ट निबन्ध हैं— 'कला समीक्षा की कुछ समस्याएँ', 'मर्मी कवियों की विरह-व्यंजना' तथा 'हिन्दी गद्य की कुछ आवश्यकताएँ'। 'कला-समीक्षा की कुछ समस्याएँ' में कला के प्रयोजनों तथा समीक्षा के मानदण्डों पर लेखक ने गम्भीरता से विचार किया है। आज का कलाकार कल्पना-प्रधान होकर मानसिक जगत् में स्वतन्त्र विचरण करने पर भी एक विशेष मर्यादा तक ही उस स्वातन्त्र्य का उपभोग कर सकता है। साथ ही समीक्षक को भी प्राचीन आलोचकों की भाँति वैयाकरण न होकर समाज-शास्त्र तथा मानस-शास्त्र इन दो महत्त्वपूर्ण शास्त्रों से दृष्टि प्राप्त करनी ही चाहिए। इसके अतिरिक्त कला में शैली एवं शिल्प-विधान अधिक मुख्य है अथवा वस्तु तत्त्व—इस पर भी विदेशी विद्वानों के मतों को लेखक ने प्रचुरता से उद्धृत किया है। आलोचना के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर भी विस्तार से विचार किया गया है। लेखक को आधुनिक कला-प्रयोगों के प्रति समीक्षक के सहिष्णु होने में आस्था अधिक है। आलोचना रचनात्मक हो, इस बात पर लेखक ने बल दिया है। यद्यपि लेख महान् लेखकों, आलोचकों, मनोवैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों के विचार-संग्रह के कारण बहुत बोझिल हो गया है, फिर भी इसमें विषय का प्रवर्त्तन सुन्दर हुआ है तथा सभी आधुनिक समीक्षा-समस्याओं की ओर संकेत करता है। 'मर्मी कवियों की विरह-व्यंजना' में अँग्रेजी, हिन्दी, मराठी, उर्दू तथा फ़ारसी की रहस्यवादी काव्य-धाराओं की झाँकियाँ देखने को मिलती हैं। सम्यक् रूप से इन सबकी सामान्य प्रवृत्तियों की अन्त में विवेचना भी की गई है। यह लेख बहुत रोचक, उपयोगी और सुन्दर बन पड़ा है। 'हिन्दी गद्य की कुछ आवश्यकताएँ' में हिन्दी के कोष-साहित्य, यात्रा-साहित्य, बाल-साहित्य इत्यादि १८ साहित्यिक विभागों में अभी तक हुए कार्य का संक्षिप्त विवरण तथा उनकी विदेशों में हुए कार्य से तुलना दी गई है। इसके अतिरिक्त उचित दिशाओं की ओर संकेत भी किये गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त 'आधुनिक साहित्य और मनोविकृति', 'मार्क्सवाद और सौन्दर्य-शास्त्र, 'औचित्य क्या ?', 'आलोचना रचनात्मक हो', 'नई हिन्दी कविता में छन्द-प्रयोग', 'नाटक और आधुनिक समस्याएँ', 'उपन्यास में मनोविज्ञान' शीर्षक लेखक पठनीय हैं और साहित्य की वर्तमान समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। शेष निबन्ध साहित्य के विद्यार्थी के लिए उपयोगी हैं। ऐसे लेख या तो विवरणात्मक हैं अथवा सूचनात्मक; जैसे 'आधुनिक साहित्य और चित्र-कला', 'संस्कृत एकांकी के प्रकार', 'भारतेन्दु के नाटकों में सामाजिक परिकल्पना', इत्यादि।

सभी निबन्ध लेखक के विस्तृत अध्ययन का परिचय देते हैं। यद्यपि विदेशी विचारों एवं उद्धरणों का प्राचुर्य है जिससे शैली में बोझिलता अवश्य आ गई है, किन्तु साथ ही अपनी मान्यताओं को भी रखकर लेखक ने दोनों के बीच सन्तुलन स्थापित कर लिया है।

कुछ लेख छोटे, अपूर्ण तथा मात्र सूचनात्मक हैं, जैसे 'छायावाद का भविष्य' इत्यादि। ऐसे लेखों में पत्रकारिता अधिक उभरकर आई है।

कुल मिलाकर पुस्तक संग्रहणीय तथा अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सभी लेख आधुनिकतम साहित्यिक समस्याओं से हिन्दी के पाठक को अवगत कराते हैं। माचवे जी से हिन्दी-संसार भली भाँति परिचित है और यह कृति उनकी मर्यादा के अनुकूल ही गम्भीर और प्रौढ़ है।

प्रूफ की अशुद्धियाँ हैं। छपाई संतोषजनक है। पुस्तक का मूल्य ४) रु० पृष्ठ-संख्या की दृष्टि से अधिक होते हुए भी सामग्री की दृष्टि से क्षम्य है।

—श्याम मोहन

बंगला की आधुनिक प्रेम-कहानियाँ

सम्पादिका—मृदुला देवी, प्रकाशक—अखण्ड भारत प्रकाशन, कलकत्ता।

इस पुस्तक में बंगला के प्रमुख लेखकों की एक-एक कहानी का अनुवाद दिया गया है—ताराशंकर बन्द्योपाध्याय, प्रबोध सान्याल, वनफूल, मनोज बसु, प्रेमेन्द्र मित्र, अचिन्त्य कुमार सेनगुप्त, विभूतिभूषण मुखोपाध्याय, सुबोध घोष, आशापूर्णा देवी, नरेन्द्र-नाथ मित्र, गजेन्द्रकुमार मित्र, सुमथनाथ घोष, वाणी नाथ और देवेशचन्द्र दास। इन नामों में बंगला के करीब-करीब सभी प्रमुख कहानी-लेखकों के नाम आ गए हैं, पर कई लेखकों का, जैसे नारायण गंगोपाध्याय का, न होना खटकता है। फिर सम्पादिका महोदया ने इन्हें प्रेम-कहानियों का नाम क्यों दिया, क्योंकि प्रेम के साथ और भी उपादान तो रहते ही हैं। कई कहानियों में तो प्रेम का कतई कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे प्रबोध सान्याल की कहानी। कदाचित् व्यापारिक दृष्टि से यह नामकरण हुआ है, यह अनुचित है। फिर यह मृदुलादेवी जी कौन हैं ? बंगला-साहित्य में तो इनका नाम कोई नहीं जानता, हिन्दी की भी वह कोई सुपरिचित लेखिका नहीं।

इनका अनुवाद भी सन्तोषजनक नहीं हुआ है। ऐसी सुन्दर कला कृतियों के अनुवाद में और भी अधिक सावधानी बरती जानी चाहिए। फिर भी इन कहानियों से बंगला-कहानी-साहित्य की उच्चता का ज्ञान पाठकों को हो जायगा। ऐसे संग्रह और प्रकाशित होने चाहिएँ, और हिन्दी के कहानी-लेखकों का भी एक संग्रह बंगला में प्रकाशित हो। इस काम को कलकत्ता के प्रकाशक ही कर सकते हैं।

—मन्मथनाथ गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अभियान', 'बदलता युग' और 'अन्तराल'

(१) अभियान—प्रकाशक—श्री श्यामस्वरूप जैन, ३१, गोलकुण्डा, इन्दौर (मध्य भारत)।

(२) बदलता युग—प्रकाशक—श्री दीनानाथ बुक डिपो, खजूरी बाजार, इन्दौर।

(३) अन्तराल—प्रकाशक—युवक साहित्यकार संघ, धार (मध्य भारत)।

ये तीनों श्री महेन्द्र भटनागर की कविताओं के संग्रह हैं। 'अभियान' और 'बदलता युग' के स्वर प्रायः एक ही हैं। दोनों में मार्क्सवादी विचार-धारा को भावोत्तेजक परिवेश देने का जो प्रयत्न किया गया है उससे काव्य के स्वाभाविक गुण, रागात्मकता का प्रभाव क्षीण पड़ गया है। किन्तु 'अन्तराल' में कवि अपनी सहजता और स्वाभाविकता के कारण अभिप्रेत को संवेदित कर सकने में सफल हो सका है।

'अभियान' में कुल छत्तीस कविताएँ हैं। नौ प्रशस्तियों (१ प्रेमचन्द, २ तुलसीदास, ५ गांधीजी तथा १ बलिया पर) को छोड़कर शेष अन्य कविताओं में कवि ने सामाजिक व्यवस्था, वर्ग-विद्वेष, शोषण तथा पराधीनता के प्रति क्रान्तिकारी 'अभियान' के लिए आह्वान किया है। इन सबका मन पर व्यापक प्रभाव नहीं पड़ता। सम्भवतः इसीलिए कि लेखक ने यथार्थ के प्रति रागात्मक अनुभूति न जगाकर आवेशपूर्ण भाषण को छन्दोबद्ध कर दिया है। 'मशाल', 'बंधन मुक्त', मृत्युदीप', 'अन्तर ज्वाला', 'प्रलय-संगीत' आदि अधिकांश कविताएँ इसी कोटि की हैं। रूप-विधान की दृष्टि से 'खेतिहर', 'खेतों में', और 'अभियान' में कुछ नवीनता नाटकीय तत्त्व भरने के कारण मिलती है। छन्द में गति-भंग का दोष अधिकांश कविताओं में है। एक बात जो आकर्षित करने वाली है वह है कवि की अपनी आस्था के प्रति ईमानदारी। जिस भी विषय-वस्तु को लेखक ने ग्रहण किया है उसमें ओज और उसके शक्तिपूर्ण विश्वास का बल दिखलाई पड़ जाता है।

दूसरे संग्रह 'बदलता युग' में भी वही आवेश है, किन्तु कुछ परिमार्जित रूप में। इसमें कवि की अनुभूति का क्षितिज अधिक व्यापक हो गया है। कुल बयालीस कविताओं में अनेक कविताएँ; यथा 'बंगाल का अकाल', 'नौसैनिक विद्रोह', 'साम्प्रदायिक दंगे', 'आजाद मस्तक को उठा लेता', 'दमित नारी', 'साम्प्रदायिक विष', 'हम एक हैं', आदि ऐसी हैं जिनका महत्त्व इसीलिए है कि कवि का मानस अपने युग में गुजरने वाली, सामाजिक परिस्थितियों से स्पन्दित होता रहा है; ऐसा नहीं कि उसने जन-जीवन से अपनी आँखें बदली थीं; किन्तु इनमें कुछ ही ऐसी हैं जो सन्तुलित पाठक के मन को छू सकें। जहाँ कहीं भी कवि ने मानवीय तत्त्वों को स्पर्श किया है उसकी वाणी मर्मस्पर्शी हो उठी है।

इन दोनों काव्य-संग्रहों की अपेक्षा श्री महेन्द्र भटनागर का कवि 'अन्तराल' में कहीं अधिक प्रसन्न और विकसित रूप में सामने आता है। लगता है जैसे एक लम्बे अन्तराल के बाद कवि के मस्तिष्क से विचार और वादों की घटाएँ फट गई हों और उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व अपने वास्तविक रूप में उदित हो उठा हो। इसमें न तो पूर्वग्रही विचारों के प्रति आग्रह ही है, न सीमित विषयों का बन्धन ही। आशा-निराशा, प्रणय, प्रभृति आदि क्षेत्रों में कवि ने प्रवेश किया है और स्वानुभूत स्पर्शों को मार्मिकता के साथ व्यक्त करने का प्रयास भी। जहाँ एक ओर प्रणय के बीच कवि आशा-निराशा, आनन्द और अश्रु के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच मुखरित हुआ है, वहीं दूसरी ओर प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित किया है। 'तुम्हारी माँग का कुंकुम', 'याद', 'उन्मेष', तथा 'ढलती रात', 'प्रभात की हवा', 'घटाएँ', 'जल वृष्टि' आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। इन सभी में रागात्मकता और आत्म-निवेदन की प्रमुखता है। विद्वान् भूमिका-लेखक श्री विनयमोहन शर्मा के इस कथन से "अन्तराल का कवि जब आत्म-भाव से आहत होता है तब वह छायावादी शैली को अपनाता है, और जब वह अपने से बाहर झाँकने लगता है तब उसमें स्वच्छन्दता आ जाती है। जहाँ तक सम्भव हुआ है उसने अपने को छायावादी कुहासे से सर्वथा बचा लिया है।" अधिक असहमत नहीं हुआ जा सकता। रुचि-स्वातन्त्र्य कवि-व्यक्तित्व की कसौटी है। इस दृष्टि से भटनागर जी अपने को पल्लवित कर सकें तो उत्तम हो। प्रस्तुत काव्य-संग्रह को देखकर हम भटनागर जी से भविष्य में काफी आशावान हैं।

—हरिमोहन

पुनरुद्धार

लेखिका—श्रीमती कंचनलता सब्बरवाल; प्रकाशक, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली; मूल्य ३); पृष्ठ संख्या : १६८।

ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुशानों को परास्त करके भारशिवों ने हिन्दू-राज्य की स्थापना की थी। इस सम्बन्ध में काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसन्धानों के आधार पर कुछ सूत्र-संग्रह करके लेखिका ने 'पुनरुद्धार' की रचना की है। इस उपन्यास का ऐतिहासिक आधार बहुत क्षीण है। लेखिका ने स्वयं कहा है।

"नवनाग और वीरसेन के अतिरिक्त सब ही पात्र काल्पनिक हैं।' घटनाओं में से भारशिवों का मध्य प्रदेश की पहाड़ियों से घिरे इलाके में लगभग पचास वर्ष तक अज्ञात-वास करने और लगभग १४० ई० के आस-पास उत्तराखण्ड में आकर कुशानों को परास्त करके अपना साम्राज्य स्थापित करने तथा अश्वमेध यज्ञ करने के अतिरिक्त सब ही काल्पनिक हैं।"

इन थोड़े-से ऐतिहासिक संकेतों के आधार पर लेखिका ने कल्पना द्वारा उपन्यास गढ़ा है। मुख्य कथा में चन्द्रभाल और विशालाक्षी के बिछोह को लेकर लेखिका ने उपन्यास में मार्मिकता उत्पन्न की है। विशालाक्षी की मृत्यु के पश्चात् चन्द्रभाल को लेकर ही भावनाओं के आधार पर कथा आगे बढ़ती है। यहाँ लेखिका नये ढंग का भावनात्मक वातावरण प्रस्तुत करती है। अन्य छोटी-छोटी घटनाएँ भी जोड़ी गई हैं, जो उपन्यास की रोचकता को बढ़ाती हैं।

शिव और राष्ट्र के प्रति अन्ध-विश्वास तथा कर्त्तव्यनिष्ठा ही उपन्यास के पात्रों की प्रेरक शक्ति है। हिन्दू धर्म और हिन्दू राष्ट्र की स्थापना की भावना ही सारे उपन्यास में छाई हुई है।

उपन्यास में उस काल की सामाजिक परिस्थिति के चित्रांकन का प्रयत्न नहीं है। जो चित्र उपस्थित किये गए हैं वे भी कल्पनाधृत हैं। लेखिका ने कुशानों से मिलकर बौद्ध-धर्मावलम्बियों के राष्ट्रद्रोही होने की जो कल्पना की है वह अनैतिहासिक है। इसके लिए प्रसिद्ध बौद्धभिक्षु बुद्धघोष के गुरु महास्थविर पर हत्या और जालसाजी के जो आरोप लगाये गए हैं वे निर्मूल ही नहीं अनुचित भी हैं। पश्चिम भारत में बौद्ध-धर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्रासावस्था को प्राप्त हो चला था, परन्तु उसके कारण भिन्न थे। ऐसे आरोप सुघर पाठक को खटकते हैं, क्योंकि इनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।

इस प्रकार उपन्यास कहने भर को ऐतिहासिक है। पात्र और घटनाएँ तो कल्पित हैं ही; इसमें व्यक्त भाव-विचार और वातावरण को भी अनैतिहासिक ही कहना चाहिए।

—शिवनाथ

अवधी और उसका साहित्य

लेखक—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित एम० ए०, पी-एच० डी०। प्रकाशक—सरस्वती सहकार, दिल्ली की ओर से राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या १४०, मूल्य २) रुपये।

श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' के सम्पादन में सरस्वती सहकार, दिल्ली ने प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय भाषाओं का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित करने का जो आयोजन किया है वह नितान्त स्पृहणीय है। हिन्दी में यह प्रथम प्रयास है। इस प्रकाशन के द्वारा एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो रही है। इस ग्रन्थ-माला में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी माला का एक प्रसून है।

इस ग्रन्थ के लेखक हैं डॉ० त्रिलोकी-नारायण दीक्षित एम० ए०, पी०-एच० डी० जिन्होंने सन्त-साहित्य का प्रचुर अध्ययन किया है। प्रस्तुत पुस्तक में नौ अध्याय हैं, जिनमें अवधी भाषा, काव्य, छन्द, मुहावरे और लोकोक्तियों का वर्णन किया गया है। अवधी भाषा के अन्तर्गत विद्वान् लेखक ने इस भाषा की उत्पत्ति, क्षेत्र और विस्तार, विभिन्न बोलियों तथा उनके विभिन्न रूपों का उल्लेख किया गया है। इस भाषा की तीन बोलियों—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी का नाम-निर्देश तो किया गया है परन्तु इनके नमूने नहीं दिये गए हैं। यदि इन तीनों के नमूने दे दिये जाते तो इनके भेद को समझने में पाठकों को बड़ी आसानी होती। अवधी का संक्षिप्त व्याकरण, जो नवें अध्याय का विषय है, यहीं दे दिया गया होता तो अच्छा होता। 'अवधी काव्य' इस पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसमें लेखक ने वीरगाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक अवधी कविता की उत्पत्ति और विकास की कथा का बड़े सुन्दर तथा संक्षिप्त रूप से वर्णन किया है। अवधी के सन्त कवियों का विवरण प्रस्तुत करते हुए लेखक ने धरनीदास को भी—जिनका जन्म बिहार के छपरा जिले में हुआ था—अवधी का कवि माना है परन्तु यह मत चिन्त्य है। धरनीदास तो भोजपुरी भाषा के कवि थे। उनकी कृतियों में कुछ अवधी 'क्रिया पदों के प्रयोग' मिलने से ही उन्हें भोजपुरी से घसीटकर अवधी में लाना कहाँ तक उचित है इसे दोषज्ञ पाठक भली-भाँति समझ सकते हैं।

डॉ० दीक्षित ने आधुनिक कवियों—जिनमें पं० बलभद्र प्रसाद दीक्षित 'पढ़ीस', पं० वंशीधर शुक्ल और पं० चन्द्रभूषण त्रिवेदी 'रमई काका'—मुख्य हैं—का कुछ विस्तार के साथ वर्णन करके इनके साथ बड़ा न्याय किया है। लोक-कवियों की इस त्रयी ने आधुनिक काल में अवधी के प्रति लोक-रुचि को जागृत करने में बड़ा काम किया है। 'रमई काका' की कविताओं के उदाहरण सुन्दर दिये गए हैं परन्तु उनकी प्रतिनिधि स्वरूप, लोकप्रिय कविता 'धोखा होइगा' को न पाकर कुछ निराशा होती है। 'अवधी लोक-गीत साहित्य' का वर्णन समुचित रीति से नहीं हुआ है। इसे कुछ अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पल्लवित करने की आवश्यकता थी। आशा है अगले संस्करण में इन बातों का ध्यान रखा जायगा। इस पुस्तक को प्रस्तुत करने के लिए लेखक बधाई का पात्र है। आशा है इस ग्रन्थ का समादर हिन्दी-जगत् करेगा।

—कृष्णदेव उपाध्याय

मीठी कसक

लेखक—उमाशंकर शुक्ल, एम० ए०, प्रकाशक—जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता, मूल्य १॥), पृष्ठ-संख्या १६६।

'मीठी कसक' में लेखक की इक्कीस कहानियाँ संगृहीत हैं। यह लेखक का प्रथम प्रकाशन है। इसलिए उसकी कुशलता कहीं कम, कहीं बेशी मात्रा में प्रकट हुई है।

कहानीकार ने अधिकतर समस्याओं को मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही ढूँढ़ा है और मानसिक स्तर पर ही उनको सुलझाने का प्रयत्न भी किया है। पात्रों के मन में उठे हुए भावों को, विचारों के द्वन्द्व को प्रभावपूर्ण शैली में व्यक्त किया है। कुछ कहानियों में (मानवता, आज़ादी, इन्सानियत की लाश में) वह समस्याओं को सामाजिक स्तर पर भी देखता है।

कहानीकार का सबसे उज्ज्वल पक्ष वहाँ व्यक्त हुआ है जहाँ वह जीवन में देखी हुई घटनाओं और सामने आने वाले व्यक्तियों की बातें हमारे सामने सहृदयता पूर्वक रखता है। ऐसे स्थलों पर कहानी अथवा उसका एक भाग स्केच का रूप ले लेता है। लेखक रोचक ढंग से व्यक्ति की बारीकियों को बताता चलता है। गाँव का मेला, समस्या, मेरे बाप की माँ, मंजु ऐसे ही रेखाचित्र हैं। इन्हें लेखक की सजग दृष्टि ने खोजकर कहानी में सँजोया है। इन कहानियों के पात्र सजीव हो उठे हैं।

कहानियों के कथानक विभिन्न सामाजिक स्तरों से लिये गए हैं; परन्तु उनमें गाम्भीर्य और और विस्तार नहीं। अनेक स्थलों पर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से असन्तोष प्रकट हुआ है। एक वर्ष, मानव, भेंट का आधार वही विक्षिप्ति है। पर सामाजिक सम्बन्धों की भूमिका छोटे-से क्षेत्र में सीमित हैं। चौदह कहानियाँ प्रेम कथाएँ अथवा उनका एक रूप है। पर लेखक में समस्या के यथार्थ के स्तर पर जूझने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। यह भावना 'बुजदिल' और 'भेंट' में स्पष्ट रूप से उभरी है। कहानीकार कहीं भी समस्याओं के निवारण अथवा उनके वास्तविक कारण को खोजने के लिए उत्सुक नहीं है।

इनमें पात्रों को समस्याओं से दूर कोरी शून्यता में ले जाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। ऐसी कोरी कल्पना-कहानियों की कमजोरी है। बार-बार एक ही कारण द्वारा उत्पन्न विषाद से पाठक ऊब जाता है।

हम आशा करते हैं कि लेखक और निकट से जीवन को देखकर उसके दर्द को, उसकी समस्याओं को समझने का प्रयत्न करेगा। तब वह "अपना दर्द कम करने के लिए" ही नहीं, दूसरों का दर्द दूर करने के लिए भी लिखना सीखेगा। कल्पना और भावना के संयत प्रयोग में ही साहित्य की सम्भावनाएँ निहित हैं।

—शिवनाथ

हिन्दी के आलोचक

हिन्दी-समीक्षा का व्यावहारिक पक्ष निरन्तर जिस द्रुत गति से बढ़ रहा है उसे देखकर लगता है कि अमर बेल की तरह साहित्य-पादप को आवृत करके कहीं उसकी रक्तवाहिनी शिराओं को निस्पन्द न बना दे! समीक्षा के शास्त्रीय पक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर तो अभी अनधिकारियों की कलम नहीं उठी है किन्तु पिष्टपेषण का व्यापार वहाँ भी शुरू हो गया है। किसी भी कला-कृति की परख या मूल्याङ्कन का जन्मसिद्ध अधिकार मानकर आलोचना लिखने वालों की आज हिन्दी में कमी नहीं। आज किसी रचना के सम्बन्ध में चार सतरें लिखकर आलोचक कहलाने का आकांक्षी रहता है। फलतः हिन्दी में शताधिक आलोचकों का रेवड़ तैयार हो गया है। कदाचित् इस बात का अनुभव करके श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने 'हिन्दी के आलोचक' नाम से कतिपय विशिष्ट अधिकारी आलोचकों का परिचय कराने के लिए सवा चार सौ पृष्ठों के इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ में जो ग्रथित नहीं हुए वे आलोचक नहीं—ऐसा तो सम्पादिका का भी अभिमत नहीं, किन्तु जो 'बिंध गया सो मोती, रह गया सो पत्थर' की बात स्वतः सिद्ध है।

'हिन्दी के आलोचक' पुस्तक में द्विवेदी युग से लेकर आधुनिक काल तक के आलोचकों को स्थान मिला है। इन आलोचकों की अभिरुचि, शैली आदि का परिचय कराने के लिए विभिन्न विद्वानों के स्फुट लेखों का संकलन करके सम्पादिका ने यह पुस्तक तैयार की है। बत्तीस लेखों के अन्तराल में लगभग पचास विविध कोटि के आलोचकों को समेटा गया है। मुख्य आलोचक—जिन पर स्वतन्त्र लेख हैं, उन्नीस हैं। मनोविश्लेषक आलोचकों पर दो लेख हैं, जिनमें तीन लेखकों पर प्रकाश डाला गया है। प्रगतिशील आलोचकों में से छः का चयन किया गया है, जिनमें 'दिनकर' और भगवतशरण उपाध्याय भी हैं। फुटकर आलोचकों में जिन चौदह रत्नों को चुना है उनका परिचय नितान्त स्कैची और एकाङ्गी है। हिन्दी के इतिहास-लेखक आलोचकों पर भी एक लेख है किन्तु उनके आलोचक रूप की विवृति लेखक नहीं कर सका है। 'शास्त्रीय आलोचकों' पर एक बड़ा प्रबन्धात्मक कोटि का लेख है जिसमें लेखक ने पर्याप्त सूचनाएँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'हिन्दी में शोध-कार्य' लेख में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अनुसन्धानपरक प्रबन्धों का नाम परिगणन कराया है। प्रबन्धों की विवेचना का अभाव खटकता है। 'तुलनात्मक समालोचक' लेख भी अधूरा-सा तथा अपने क्षेत्र का अवगाहन कराने में सर्वथा असमर्थ है। 'हिन्दी के भाषा-वैज्ञानिक आलोचक' लेख में कतिपय भाषा-वैज्ञानिकों का परिचय है। भाषा-विज्ञान और आलोचना का बादरायण सम्बन्ध स्थापित करके ही इस लेख को पुस्तक के कलेवर में रखने का साहस सम्भव है।

'हिन्दी के आलोचक' को पढ़कर हिन्दी के बड़े-छोटे जिन पचास समालोचकों का परिचय मिलता है वह उनके सर्वाङ्गपूर्ण कृतित्व का आभास न देने पर भी शैली-संकेत की दृष्टि से पर्याप्त है। संकलन तैयार करते समय भारतेन्दु युग के आलोचकों को दृष्टि में रखकर एक लेख प्रारम्भ में होता तो आधुनिक युग के आलोचकों का खाका पूरा हो जाता। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की आलोचना-पद्धति का उल्लेख हिन्दी-आलोचना में होना अनिवार्य है। विशिष्ट आलोचकों के चयन के सम्बन्ध में सम्पादिका ने अपने निवेदन में जो लिखा है उसे हृदयंगम करके भी हम उनका ध्यान हिन्दी के उन लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं जिनका नामोल्लेख इस संकलन में नहीं हुआ। श्री डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', पं० कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० रामरतन भटनागर और पं० सीताराम चतुर्वेदी ऐसे व्यक्ति हैं जिनका किसी प्रकार भी हिन्दी के आलोचक-वर्ग से बहिष्कार नहीं किया जा सकता। पं० कृष्णशंकर शुक्ल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो आचार्य शुक्ल जी की परम्परा के बड़े सुलझे हुए समर्थ आलोचक हैं जिनका कलम थामकर बैठ जाना हिन्दी-साहित्य का दुर्भाग्य है। अन्य चारों विद्वान् लेखकों ने भी समीक्षा के शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों के पुष्ट करने में अपना अमित योग दिया है। ऐसे उपयोगी संकलन में इस कोटि के आलोचकों को स्थान न मिलना प्रमाद ही कहा जायगा। यह ठीक है कि आलोचकों के चयन में सम्पादिका का अपना विवेक ही प्रमाण रहा है, फिर भी उनका दायित्व तो साहित्य के प्रति है।

सम्पादिका को इस संकलन की त्रुटियों का ज्ञान है और उन्होंने अपने निवेदन में चयन-सम्बन्धी बात का संकेत करते हुए सुझाव भी चाहे हैं। विश्वास है कि पुस्तक को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिए हमारे उपर्युक्त संकेत सुझाव का काम देंगे।

—विजयेन्द्र स्नातक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें

एटम बम	अमृतलाल नागर	दत्त ब्रदर्स, अजमेर
एक दिल हजार दास्ताँ	,,	पुस्तक-निकुञ्ज, लखनऊ
आर पार की माला	शिवप्रसाद सिंह	सरस्वती मन्दिर, बनारस
बड़ी बड़ी आँखें	उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
महिला शासन	चिरंजीलाल पाराशर	राकेश पब्लिकेशन्स, गाजियाबाद
अन्धी आग	सुमंगल प्रकाश	धारा प्रकाशन, पटना-३
नारी का रूप-शृंगार	सावित्रीदेवी वर्मा	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
हिन्दू सभ्यता	(अनु०) डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	,,
सोने का नींबू	श्रीमती किरण 'विचित्र'	,,
निशिकान्त	श्री विष्णु प्रभाकर	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
प्रथम सुमन	श्रीमती सत्यवती शर्मा	,, ,,
आलोचना के सिद्धान्त	ब्योहार राजेन्द्रसिंह	,, ,,
तुलसी-साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा	,, ,,
राधाकृष्ण	राजेश्वरप्रसादनारायणसिंह	,, ,,
जिप्सी	वीर राजेन्द्र ऋषि	,, ,,
गार्गी के बाल-नाटक	परितोष गार्गी	,, ,,
बालकों के चलन	सन्तराम 'विचित्र'	,, ,,
सचित्र व्यंग-विनोद	अरुण	,, ,,
कला की परख	जसवानी	,, ,,
भूत भाग गया	अरुण	,, ,,
छत्तीसगढ़ की लोक-कथाएँ	चन्द्रकुमार अग्रवाल	,, ,,
मेरे निबन्ध : जीवन और जगत्	गुलाबराय	गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा
हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ	परशुराम चतुर्वेदी	साहित्य भवन, इलाहाबाद
संत कबीर दर्शन	राजेन्द्रसिंह गौड़	,, ,,
संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी-रचनाएँ	नर्मदेश्वर चतुर्वेदी	,, ,,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजस्थानी भीलों की कहावतें	(सं) फूलजी भाई भील	साहित्य-संस्थान, उदयपुर
आदिनिवासी भील	जोधसिंह मेहता	,, ,,
राजस्थानी भीलों के लोक-गीत	(सं०) फूलजी भाई भील	,, ,,
ओझा निबन्ध-संग्रह (४ भाग)	गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	,, ,,
पृथ्वीराज-रासो (प्रथम भाग)	(सम्पा०)कविराज मोहनसिंह	,, ,,
पार्वती	भारतीनन्दन	मंगल-भवन, नयापुरा, कोटा
आवाज सुरीली कैसे करें	लक्ष्मीनारायण गर्ग	संगीत कार्यालय, हाथरस
मैं धरती पंजाब की	नरेन्द्र धीर	क्रान्ति प्रकाशन, खन्ना (पंजाब)
महात्मा गांधी का सन्देश	सेवकराम 'बालसेवक'	भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ
भगवान् बुद्ध का सन्देश	,,	,, ,,
भगवान राम का सन्देश	,,	,, ,,
भगवान् कृष्ण का सन्देश	,,	,, ,,
नई जिन्दगी : नया सवेरा	विश्वनाथ 'तरुण'	प्रतिभा प्रकाशन, दरभंगा
पहली हार	रघुवीरशरण 'मित्र'	भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ
भूमि के भगवान्	,,	,, ,,
जिन खोजा तिन पाइयाँ	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
सावित्री	गौरीशंकर मिश्र, 'द्विजेन्द्र'	ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना
चिनगारी	(अनु०) छबिनाथ पांडेय	,, ,,
समीक्षा-शास्त्र	डॉ० दशरथ ओझा	राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
भारतेन्दु	सेठ गोविन्ददास	ओरिएण्टल बुक डिपो, दिल्ली
रहीम	,,	,, ,,
रक्त और रंग	अनूपलाल मण्डल	ज्ञानपीठ लिमिटेड, पटना-४
पद्मावत	(सम्पा०) डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकमल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सम्पादन डॉ॰ रघुवंश
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
समिति डॉ॰ व्रजेश्वर वर्मा
श्री विजयदेवनारायण सा...

जन. २६

२६ आलोचना

R
२८४
दि ३७आ
अ-२७ प्र

...व और स्वातन्त्र्य :
...अविच्छिन्न मूल्य (२) — सम्पादकीय
...णीकरण का नवीन स्तर — रमाशंकर तिवारी
..., प्रगति और परम्परा — लक्ष्मीकान्त वर्मा
...ी-उपन्यास में नये प्रयोग — ब्रजविलास श्रीवास्तव
यूगोस्लावियन साहित्य की वर्तमान समस्या — स्वेतोज़ार पेत्रोविच
लेखक का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है — डॉ॰ शम्भूनाथसिंह
साहित्यिक 'अश्लीलता' का प्रश्न — विजयदेव नारायण साही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

राजकमल प्रकाशन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व ना

पूर्णाङ्क १७ जनवरी, १९५९

वार्षिक मूल्य १२) इस अङ्क का ३)

सूची

◆ **सम्पादकीय**

—दायित्व और स्वातन्त्र्य : अविच्छिन्न मूल्य - - - १

◆ **निबन्ध**

—साधारणीकरण का नवीन स्तर : **रमाशंकर तिवारी** - - - ७

—प्रयोग, प्रगति और परम्परा : **लक्ष्मीकान्त वर्मा** - - - १४

—हिन्दी-उपन्यास में नये प्रयोग : **ब्रजविलास श्रीवास्तव** - - - ३२

—यूगोस्लावियन साहित्य की वर्तमान समस्या : **स्वेतोज़ार पेत्रोविच** - - - ५०

◆ **प्रस्तुत प्रश्न**

—लेखक का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है : **डॉ० शम्भूनाथसिंह** - - - ५९

—साहित्यिक 'अश्लीलता' का प्रश्न : **विजयदेव नारायण साही** - - - ६५

—व्रीडाजुगुप्सामंगलव्यंजकत्वात् : **डॉ० हरदेव बाहरी** - - - ७३

◆ **अनुशीलन**

—रामानन्द-सम्प्रदाय में योग : **डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव** - - - ७९

◆ **मूल्यांकन**

—नया साहित्य : नये प्रश्न : **बच्चनसिंह** - - - ८२

—अतिमा : आधुनिक और पुरातन का संतुलन : **बालकृष्ण राव** - - - ८९

—वर्तमान कविता में नये गीति-स्वर : **डॉ० रामरतन भटनागर** - - - ९६

—रीति, गीति और नई कविता : **प्रयागनारायण त्रिपाठी** - - - १०१

—मानस की 'रूसी' भूमिका : **डॉ० कामिल बुल्के** - - - १०४

—संत्रस्त पात्रों की घटनाहीन कथा : **लक्ष्मीकान्त वर्मा** - - - १०९

—एण्टन चेखव : एक इण्टरव्यू : **मोहन राकेश** - - - ११६

—संस्कृति-संघर्ष और वैयक्तिक सम्बन्ध : **रामस्वरूप चतुर्वेदी** - - - ११८

—संवेदनात्मक तत्त्वों की एकसूत्रता : **शिवप्रसादसिंह** - - - १२४

—नये समाज का उदय : **डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल** - - - १२८

—निकष : नवीन दृष्टिकोण का प्रतीक : **गिरिजाकुमार माथुर** - - - १३०

◆ **परिचय** - - - १४०

—समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें - - - १४८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

दायित्व और स्वातन्त्र्य : अविच्छिन्न मूल्य[1]

अन्ततः सामाजिक दायित्व का अर्थ यह नहीं है कि समाज का व्यक्ति के निर्माण के प्रति क्या दृष्टिकोण है, वरन् यह है कि व्यक्ति समाज की मूल्यगत उपलब्धियों के प्रति क्या भाव रखता है या रखना चाहता है। फिर इसलिए भी यह व्यक्ति का दायित्व है कि वह अपनी स्व-प्रकृति तथा व्यक्तित्व में स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने उद्देश्य के अनुकूल निश्चय तथा निर्णय करके कार्य करने वाला प्राणी है। इसी तर्क-पद्धति से यह अपने-आप सिद्ध हो जाता है कि दायित्व आरोपित कर्तव्य नहीं है। हमको यह करना है, ऐसा करना ही है, वह चाहे समाज के हित के लिए ही क्यों न हो—दायित्व नहीं है, विवशता है, नियन्त्रण है। इस प्रकार सामाजिक दायित्व का अर्थ है वैयक्तिक दायित्व, जिसके अन्तर्गत सामाजिक सापेक्षता निहित है। कहा गया है कि समाज के रूप में व्यक्ति कभी परिवार के प्रति, कभी पास-पड़ोस के प्रति, कभी जाति-बिरादरी के प्रति, कभी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति और कभी राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व की बात सोचता है। पर यह परिवार इसलिए है और इसी सीमा तक है कि वह हमारा है अर्थात् व्यक्ति से भिन्न उसकी स्वीकृति नहीं। इस भावात्मक अभिन्नता के बिना व्यक्ति के लिए दायित्व का निर्वाह आरोपित रह जायगा और ऐसे आरोपित दायित्व के मध्य परिवार भले ही चलता रहे पर पारिवारिकता की कल्पना असम्भव हो जायगी। यही बात समाज के प्रत्येक रूप के विषय में समान रूप से लागू है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी उपलब्धि से सामाजिक उपलब्धि को भिन्न नहीं मानता, साधारण स्तर पर अपने हितों और स्वार्थों से सामाजिक हित को अलग नहीं मान पाता। व्यक्ति की प्रगति इसीमें है कि वह सामाजिक समष्टि को गतिशील कर सके, उसका कल्याण यही है कि वह सामाजिक कल्याण में योग-दान दे सके। साथ ही उसको इसका अनुभव भी न हो कि वह कुछ दे रहा है या पा रहा है, क्योंकि समाज उससे अविच्छिन्न है और वह समाज की पूर्णता है।

पुनः इस प्रश्न पर एक दूसरे दृष्टिकोण से -

1. १६वें अंक का शेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार करना भी अनिवार्य है। दायित्व का सवाल व्यक्तित्व का इसीलिए है कि सामाजिक चेतना में वह समष्टि इकाई के रूप में उद्देश्य की आकांक्षा करने में समर्थ है। सामाजिक अर्थ में दायित्व मात्र उपलब्धि है उस मर्यादा की, जो अपने-आपमें कार्य-कारण की अपेक्षा स्थिति ही अधिक है। उदाहरण के लिए साहचर्य, प्रेम, सहानुभूति अथवा सौन्दर्य आदि ऐसे किसी भी दायित्व को जो सामाजिक कहा जा सकता है, वास्तव में मूल्य ही माना जाना चाहिए जो व्यक्ति की किसी अपेक्षा की अपने-आपमें सार्थक प्रक्रिया है। जब तक दायित्व व्यक्ति के लिए समाज को देने की शर्त है अथवा समाज के लिए पाने की बात है, तब तक यह उसकी चेतन-प्रक्रिया न होकर कार्य-परिणाम के रूप में अधिक संगत जान पड़ता है। यदि व्यक्ति सहानुभूति रखना समाज के प्रति अपना दायित्व मानता है अथवा समाज व्यक्ति से सहानुभूति की माँग दायित्व रूप में करता है, तो ऐसा जान पड़ता है सहानुभूति ऐसा कृत्य है जो व्यक्ति को करता है अर्थात् वह कुछ ऐसा है जो उससे अलग है। इस प्रकार का दायित्व व्यक्ति की स्वकीय इच्छा का प्रतिफलन न होकर आरोपित कार्य की दिशा का संकेत-मात्र देता है। वस्तुतः सहानुभूति, प्रेम या कल्याण की भावना जब व्यक्ति का स्वभाव बन सके तभी वह उसके दायित्व का सहज रूप है। इस रूप में दायित्व उसके व्यक्तित्वकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है, क्योंकि उसकी अपनी स्वीकृति है। इसका अनुभव वह अलग आरोपित वस्तु के समान नहीं करता, वह तो उसकी अपनी प्रकृति, अपने स्वधर्म का अङ्ग बन जाता है।

× × ×

यहाँ से दायित्व का प्रश्न एक ऐसी सीमा निर्धारित कर लेता है, जहाँ वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का अङ्ग नहीं बन जाता, वरन् उसके स्वातन्त्र्य की व्याख्या भी करता है। व्यक्तित्व यदि निर्माण की स्थिति है तो दायित्व उस प्रक्रिया की दिशा है। पर इस दिशा को निर्धारित कौन करेगा? इस निर्माण की प्रक्रिया का साक्षी कौन है, उसकी सापेक्षता क्या है। इन प्रश्नों का उत्तर ऊपर की व्याख्या में अन्तर्निहित है। इस निर्माण की प्रक्रिया की सापेक्षता निश्चय ही मानवता के रूप में जिस समाज की व्याख्या की गई है, उसीसे निर्धारित होती रही है, क्योंकि मानव-मूल्यों की उपलब्धि इसका उद्देश्य है। अपनी निर्णय करने की विवेक-शक्ति के कारण व्यक्ति इसका साक्षी है। परन्तु दायित्व जब स्वधर्म है, तब उसका निर्धारण 'स्व' (Person) की अपनी प्रेरणा करेगी, किसी बाहरी आधार की अपेक्षा उसे नहीं होगी। यह स्वधर्म वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के रूप में उद्भासित होगा। इस विवेक-स्वातंत्र्य से ही व्यक्ति अपनी परम्परा, अपने पक्षपातों, पूर्वग्रहों के बीच अपने दायित्व (स्वधर्म के रूप में) के वास्तविक अर्थ को ग्रहण करता है। यहाँ स्वातन्त्र्य का अर्थ है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में अन्तर्निहित मानवीयता को (मानव-मूल्यों के अर्थ में) समस्त संस्कारों से मुक्त होकर अर्थवान करता है और क्योंकि उसका व्यक्ति समस्त सामाजिक व्यक्तित्वों की समष्टि में ही गतिशील है, इस कारण इस स्वातन्त्र्य के अन्तर्गत अन्य सभी व्यक्तियों के स्वातन्त्र्य का भाव समन्वित है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वातन्त्र्य दूसरे के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य से इस प्रकार बाधित न होकर उसका पूरक ही सिद्ध होता है और स्वातन्त्र्य व्यक्ति के अपने स्वातन्त्र्य के साथ दूसरों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की स्वीकृति भी है। इस प्रकार आन्तरिक स्वधर्म को अनुभूत सत्य के रूप में स्वातन्त्र्य ही उपलब्ध कराता है, इस कारण इसे मौलिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवीय प्रतिमान (अर्थात् समाज के गत्यात्मक प्रतिमान) के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

इस बात को अधिक स्पष्ट रूप में सामने रखना अपेक्षित है। अनेक बार व्यक्तिवादी (Individualistic) स्वतन्त्रता और वैयक्तिक (Personel) स्वतन्त्रता को समान अर्थ में समझने का भ्रम किया जाता है।[1] पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता का विकास हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत महत्त्व का आग्रह बढ़ा है। इस स्वतन्त्रता में दूसरे अनेक व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का अपहरण भी सम्मिलित था। नये प्रतिमान के रूप में स्वीकृत वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अर्थ है समाज के प्रत्येक व्यक्ति की मुक्ति। इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की मुक्ति में अपनी मुक्ति को पा सकेगा। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति यह प्रयत्न करने के बजाय कि दूसरे व्यक्ति उसका मत स्वीकार करें, उसके विचार को ग्रहण करें, उसका अनुकरण करें, अथवा उसके प्रभाव में रहें, उसका प्रयत्न होगा कि प्रत्येक दूसरा व्यक्ति स्वयं स्वतन्त्र रूप से सोच-समझ सके, निर्णय ले सके, और स्वयं अपना स्वधर्म निर्धारित करने में समर्थ हो सके। व्यक्ति अपने विचार में स्वतन्त्र है, उसको प्रकट करने में उस सीमा तक स्वतन्त्र रहेगा, जिस सीमा तक दूसरों की विचार करने की पद्धति को कुण्ठित न करे। पर कार्य रूप में परिणत करने के पूर्व उसे दूसरों की इच्छाओं, आकांक्षाओं, विचारों तथा भावनाओं का समादर करना होगा, क्योंकि उसे दूसरों के व्यक्तित्व के स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा करनी है। वस्तुतः जिस गतिशील समाज की स्थापना की गई है, उसमें समष्टिगत भावना के साथ वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की यह निर्बाध स्थिति सहज है, क्योंकि दायित्व (स्वधर्म) के रूप में यह स्वतः मानवता का मौलिक प्रतिमान है, जिसमें विरोध की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार दायित्व और स्वातन्त्र्य एक ही प्रक्रिया की (अथवा मूल्य की) दो स्थितियाँ भर हैं और उनके साथ 'वैयक्तिक' लगाना उतना ही निरर्थक है जितना 'सामाजिक', वे एक-दूसरे से अविच्छिन्न मूल्य हैं।

× × ×

अन्त में साहित्यकार के दायित्व का प्रश्न आता है और इसके साथ ही उसके व्यक्तित्व तथा स्वातन्त्र्य का प्रश्न भी सन्निहित है। पूछा जा सकता है कि साहित्यकार के प्रश्न को इस प्रकार अलग क्यों रखा गया है। दायित्व के क्षेत्र में अथवा व्यक्तित्व की दृष्टि से उसका विशिष्ट महत्त्व क्या है? उसके महत्त्व के लिए तर्क देना कि साहित्य का प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत है, अधिक तर्क-संगत नहीं है। इस दृष्टि से अन्य अनेक व्यक्ति हैं (धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नेता) जो बहुत बड़े जन-समाज को प्रभावित और नियंत्रित करते हैं। पर इस प्रकार की व्यक्तिगत महत्ता के विषय में काफी

1. बर्डेव के अनुसार "व्यक्तिवाद (Individualism) एक सीमित मनोवृत्ति है जो असंस्कृत, असामाजिक, अन्ध प्रेरणाओं से या एक विशेष सामाजिक स्थिति के प्रति मानसिक प्रक्रिया के रूप में हमारे व्यक्तित्व में उद्भूत हो जाती है और हमारे अपने स्वार्थों और सीमाओं की ओर उन्मुख करती है। वैयक्तिकता (personalism) व्यक्ति का आन्तरिक धर्म है, विकासोन्मुखी सर्जनात्मक वृत्ति है जो स्थायी व्यापक मानवीय मूल्यों को उनकी सम्पूर्णता में पहचानकर, उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार करके अपने व्यवहार को मर्यादित करती है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा जा चुका है। सामाजिक जीवन के अर्थ में साहित्यकार के व्यक्तित्व की समस्या व्यक्ति-मात्र की समस्या से भिन्न नहीं मानी जा सकती। वह अपनी प्रकृति से ही व्यक्तिवादी महत्त्वाकांक्षा से पीड़ित नहीं होता, इस कारण उसमें शासक, अधिनायक अथवा नियन्ता होने की सम्भावनाएँ नहीं रहतीं। पर साथ ही उसकी स्थिति विशिष्ट अवश्य है और उसके व्यक्तित्व की यह विशेषता उसकी रचनात्मक प्रक्रिया की है। वह सामाजिक जीवन का भोक्ता है, साथ ही उसका स्रष्टा भी है और यहीं से प्रश्न एक नवीन मोड़ लेता है। इसी स्थल से उसके दायित्व की व्यंजना और उसके स्वातन्त्र्य का अर्थ किंचित् बदलता है।

कहा गया है कि व्यक्ति महत्त्वपूर्ण होकर (शक्ति, प्रभाव अथवा प्रतिभा की दृष्टि से) समस्त समाज को शासित, मर्यादित अथवा नियन्त्रित करने का अधिकार चाहते हैं। वे वस्तुतः विवेक तथा संयम से हीन ही रहते हैं, क्योंकि उनके लिए विधि-विधानों का महत्त्व है, उनमें अपने मत को प्रतिपादित करने का आग्रह होता है और दूसरों को मनोनुकूल प्रेरित करने की वांछा विद्यमान रहती है परन्तु साहित्यकार अपनी रचनात्मक प्रक्रिया में इस प्रकार के पक्षपातों से सहज ही अलग रह सकता है, क्योंकि वह समस्त जीवन (मानवता) के प्रति आस्थावान है। वह अपने रचनात्मक क्षणों में यह नहीं सोचता कि उसका क्या मत है, उसका क्या पक्ष है, उसका क्या वर्ग है। वह बुद्धि से अधिक अपने आन्तरिक विवेक से जीवन को ग्रहण करता है। यदि वह अपनी आन्तरिक संवेदना से हटकर बौद्धिक स्तर पर वस्तु-स्थिति के सत्य को ग्रहण करेगा तो वह जीवन को उपलब्धि के रूप में प्राप्त न करके अपने समस्त पक्षपातों तथा पूर्वग्रहों को व्यक्त करने के लिए विवश हो जाता है। यह सर्जना की प्रकृति का सत्य है कि साहित्यकार अपने जीवन के स्थान पर दूसरों के [illegible] में जीवित रहता है। वह वस्तुतः अपनी वैयक्तिक सीमा में समस्त समाज को आत्मसात् करने की प्रक्रिया में ही साहित्य-सर्जन करता है।

ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति और समाज एक ही गत्यात्मक प्रक्रिया के रूप हैं, इस कारण उनकी उपलब्धियाँ एक हैं, उनके मूल्य एक हैं। साहित्यकार सामाजिक जीवन की [illegible] गति को ग्रहण करता है, इस कारण वह मा[illegible] के दायित्व अथवा स्वातन्त्र्य-सम्बन्धी मौलिक प्रतिमान को अनिवार्यतः महत्त्व देगा। [illegible] स्थिति उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण इस[illegible] है कि साहित्य मनुष्य के सांस्कृतिक मूल्यों [illegible] उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है। साहित्यकार उसके प्रति तभी ईमानदार [illegible] सकता है, जब वह स्वतन्त्र विवेक अ[illegible] आन्तरिक संवेदन से अपने दायित्व की [illegible] करे। इस स्थिति में स्पष्टतः दायित्व (साहित्यि[illegible] उसकी सर्जनात्मक प्रक्रिया का अंग बन जा[illegible] आत्मोपलब्धि के बिना प्रक्रिया का अंग [illegible] नहीं बन सकता, ऐसी स्थिति में साहित्य[illegible] के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह [illegible] समस्त सामाजिक दायित्व को आत्मोपलब्धि [illegible] रूप में ग्रहण करे।

वाल्मीकि, कालिदास, होमर, गेटे, शे[illegible] पियर, मिल्टन, तुलसी या सूर किसी को [illegible] लें, वे अपनी-अपनी सामाजिक परिस्थिति[illegible] जीवन बिताते हुए भी अपनी रचना-प्र[illegible] में अपने सीमित संस्कारों, अनुराग-वि[illegible] ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठकर ही अपने यु[illegible] सांस्कृतिक उपलब्धियों के अनुकूल मानव-[illegible] को चित्रित कर सके हैं। मानव-मूल्य के [illegible] महत्त्व के कारण आज भी उनके साहित्य [illegible] हमारे लिए आकर्षण है। ऐसी नहीं है [illegible] समस्त साहित्य और सारे साहित्यकार [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्षपातों और पूर्वग्रहों से मुक्त हो जाते हैं। पर धर्म, सम्प्रदाय पर लिखा गया, राजाश्रय में राजा की प्रशंसा में तथा शृंगार की नाना-विधियों और उद्दीपनों पर लिखा गया और विभिन्न मतवादों के प्रचार के लिए लिखा गया साहित्य वस्तुतः साहित्य की संज्ञा का अधिकारी नहीं रहा है। इसी प्रकार कल्पना को उद्दीप्त करने वाला और व्यक्तिगत वासनाओं को उत्तेजित करने वाला साहित्य भी साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता, क्योंकि यह समस्त साहित्य लेखक की विचार-परतंत्रता, संयमहीनता तथा स्वार्थपरता का द्योतक है और यह दूसरों को भी इसी प्रकार की प्रेरणा देता है। यह साहित्य वास्तव में साहित्य नहीं माना जाता, परन्तु हमने इस कारण इस पर विचार किया है कि अनेक विचारकों ने इस प्रसंग में अश्लीलता तथा उच्छृङ्खलता आदि के प्रश्न को उठाया है। इस प्रकार का साहित्य न तो साहित्यकार के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का द्योतक है और न यह दूसरों की मुक्ति में किसी भी रूप में सहायक हो सकता है, क्योंकि ऐसा साहित्य व्यक्ति की कुण्ठाओं, वासनाओं तथा आवेगों को आक्रान्त करके उसे निष्क्रिय करता है। पर इस प्रकार के साहित्य के लिए सामाजिक चेतना ही सबसे बड़ा प्रतिरोध होती है।

जो साहित्य समय की कसौटी पर खरा उतरा है, या जो युग-युग का साहित्य हो गया है, वह निश्चय ही लेखक की आत्मोपलब्धि का साहित्य है। इन साहित्यकारों ने अपने युग के सामाजिक जीवन को सांस्कृतिक चेतना के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने मात्र राजाओं का वर्णन, घटनाओं का चित्रण तथा विभिन्न अवस्थाओं का दिग्दर्शन नहीं कराया है और न मात्र मतों, सम्प्रदायों तथा विश्वासों का प्रवर्त्तन किया है। उन्होंने युग-जीवन को आत्मगत सत्य के रूप में ग्रहण किया है और अपने साहित्य को युगीन सांस्कृतिक उपलब्धियों का वाहक बनाया है। साहित्यकार की आन्तरिक संवेदना उसके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की शर्त है और इसीके माध्यम से वह मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो पाता है। इस संदर्भ में यदि हम आज के साहित्यकार के व्यक्तित्व के प्रश्न को रखें, तो निश्चय ही उसके स्वातन्त्र्य का आग्रह उसके दायित्व की माँग सिद्ध होगा। उसके इस विवेक-स्वातन्त्र्य को अस्वीकार करने का अर्थ होगा कि हम उसकी आन्तरिक संवेदनशीलता को नियन्त्रित करना चाहते हैं, अर्थात् उसकी रचना-प्रक्रिया को शासित करना चाहते हैं। स्पष्ट ही जिसका अर्थ है कि उसको समाप्त करने की आग्रह प्रकट करते हैं। इस स्वातन्त्र्य को दायित्वहीन, अराजक, उच्छृङ्खल तथा समाज-विरोधी कहना व्यक्ति और समाज के गत्यात्मक सम्बन्ध को अस्वीकार करने के साथ साहित्यकार की रचनात्मक प्रक्रिया न समझना है।

साहित्य की सर्जन-प्रक्रिया की विशिष्ट स्थिति के कारण प्रत्येक युग में यह सम्भव हो सका है कि साहित्यकार धार्मिक मतवादों, दार्शनिक चिन्तन-पद्धतियों तथा राजनीतिक संघर्षों के विरोध के बीच भी सामञ्जस्य और समन्वय का मार्ग प्रशस्त करता आया है। उन सभी पिछले युगों में जिनमें व्यक्ति की सत्ता अपने व्यक्तिवादी रूप में सारे समाज को नियन्त्रित करती रही है (राजा, पुरोहित, पूँजीपति अथवा अधिनायक के रूप में), साहित्यकार ने अपने वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की रक्षा की है और सामाजिक (मानवीय) मूल्यों को गति प्रदान की है। इसका कारण यह है कि साहित्यकार का साहित्यिक-सर्जन के क्षेत्र में व्यक्तिगत कुछ नहीं रहा है। साहित्य उपलब्धि के रूप में भी प्रेषणीय है, इसलिए उसके साथ समष्टि का प्रश्न चिरन्तन है। साहित्यिक व्यक्तित्व और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका स्वातन्त्र्य रचना की प्रेषणीयता के कारण व्यक्तिवादी होकर अपने-आपको कुण्ठित ही कर लेगा। उसके लिए स्वातन्त्र्य मात्र-दायित्व की चेष्टा है और वह समाज (वर्गगत नहीं) की आन्तरिक मर्यादा की सापेक्षता में प्रतिफलित होता है। मानवीय जीवन के अन्य क्षेत्रों में जो-कुछ सांस्कृतिक उपलब्धियों के रूप में स्वीकृत होता रहा है, वह भी इसी आधार पर कि वह मानवीय प्रतिमानों की परम्परा को अग्रसर करने में अविरोधी तत्त्व है। उसने मानवीय मर्यादा को खण्डित न करके इतिहास के क्रम में आगे ही बढ़ाया है। मानवता को खण्डित रूप में मानने वाले धर्म, दर्शन और नीतियाँ हमारे सांस्कृतिक विकास में बाधक ही रही हैं। परन्तु साहित्य ने, निरन्तर मानव-संस्कृति को वहन किया है, युग-विशेष की उपलब्धियों को आगत युगों के लिए सुरक्षित रखा है और यह स्वातन्त्र्य का प्रतिमान साहित्य की रचनात्मक प्रक्रिया की आन्तरिक प्रकृति से उद्भूत है।

साहित्यकार जीवन के अन्दर से जीवन का साक्षात्कार करता है। वह अन्य ज्ञानी-विज्ञानियों के समान मानव-जीवन को वस्तु नहीं मानता और विश्लेषण करके उसकी परीक्षा नहीं करता। इन अनुभूत क्षणों को वह दूसरों के लिए प्रेषणीय बनाता है। इस संवेदन और संप्रेषण की स्थिति में साहित्यकार का व्यक्तित्व इस सीमा तक सामाजिक गत्यात्मकता का अंग बन जाता है कि शायद दूसरा व्यक्ति अपने किसी क्षण में कम ही उस सीमा तक पहुँच सकता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति तथा समाज की सीमा अभिन्न हो जाती है, वह सामाजिक जीवन के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को व्यंजित करता है। इस कारण यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि साहित्यकार का व्यक्तित्व सामान्य होकर भी, अपनी सर्जनशील प्रकृति के कारण विशिष्ट है ऐसी स्थिति में उसके स्वातन्त्र्य की आकांक्षा उसके दायित्व की सबसे बड़ी स्वीकृति है, वस्तुतः यह स्वतन्त्रता उसके लिए सबसे महान् दायित्व है; क्योंकि उसका दायित्व किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र आदि देश-कालगत स्थिर रूपों के प्रति न होकर सम्पूर्ण मानवता के प्रति है, जिसका निर्णय उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही कर सकता है।

ऐसी स्थिति में साहित्यकार (कलाकार) के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का प्रस्ताव मानव-मूल्यों और प्रतिमानों की स्वीकृति तथा उसकी मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए महत्त्वपूर्ण शर्त है। यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि यह स्वातन्त्र्य उसके व्यक्तिगत सामाजिक जीवन की स्वतन्त्रता से अभिन्न होकर भी विशिष्ट अवश्य है। परन्तु साहित्यकार का रचनात्मक परिस्थिति के सम्बन्ध में स्वातन्त्र्य का प्रश्न मौलिक (Basic) और अनिवार्य है, क्योंकि जैसा कहा गया है कि इसका सम्बन्ध साहित्य की मूल प्रकृति से है। समाज का सांस्कृतिक जीवन मानवीय मूल्यों की श्रेष्ठतम अनुभूतियों से संचालित और उन्हीं की उपलब्धियों पर आधारित और विकसित होता है। साहित्य इस सांस्कृतिक संचरण का समर्थ और महत्त्वपूर्ण वाहक है। अतः यदि साहित्यकार मानवीय स्वाधीनता को अपनी साहित्य-रचना का मौलिक प्रतिमान स्वीकार करता है तो यह उसकी रचना-प्रक्रिया (Creative Process) के मुक्त होने की स्वीकृति के साथ अपने गम्भीर दायित्व के प्रति जागरूक होने की घोषणा भी है। इस प्रकार उसके लिए दायित्व और स्वातन्त्र्य अविच्छिन्न मूल्य हैं, एक का भाव दूसरे में आ जाता है, एक में ही दूसरे की स्वीकृति हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

रमाशंकर तिवारी

साधारणीकरण का नवीन स्तर

काव्य जीवन और जगत् से 'मार्मिक छवियों' का संकलन करता है। सत्य एवं सौन्दर्य की जो झलक कवि को प्राप्त होती है, उसे वह अविलम्ब लोक में विकीर्ण कर देने के लिए छटपटाने लगता है। उसकी अनुभूतियाँ, उसकी कामनाएँ और अभिलाषाएँ उसे इतनी प्यारी होती हैं कि वह उन्हें छिपाकर रखने में असमर्थ हो जाता है। कृपण की तरह वह उनके प्रति एक गाढ़ी ममता रखता है, किन्तु कर्ण की तरह वह उन्हें विश्व में बिखेर देना भी चाहता है। बात यह है कि वह अपनी 'व्यक्तिगत' संकीर्ण सीमाओं का अतिक्रमण करके अपनी अनुभूतियों एवं प्रतीतियों के लिए लोक-मान्यता चाहता है। अभिव्यक्ति में उसे अपनी अस्मिता की तृप्ति होती है और वह 'व्यक्ति' से 'विश्व' बन जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जिस मार्मिक छवि का चित्रण कवि करता है, वह भावक अथवा सहृदय को कैसे प्रभावित करती है, और स्वयं उसका दृष्टिकोण क्या रहता है? दूसरे प्रश्न का उत्तर अत्यन्त स्पष्ट है—कवि ने सौन्दर्य अथवा सत्य का साक्षात्कार किया है 'व्यक्ति' के रूप में, किन्तु वह उसे दूसरों तक पहुँचाना चाहता है 'मानव-प्रतिनिधि' के रूप में। उसकी समस्त कला, उसका समग्र शिल्प-विधान इसी चरम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त नियोजित होता है कि उसकी अनुभूतियाँ व्यक्ति का सम्बन्ध विसर्जन करके सामान्य मनुष्यता की सम्पत्ति बन जायँ। कवि के इस दृष्टिकोण से प्रथम प्रश्न का उत्तर भी प्राप्त हो जाता है—कोई चित्र, अपने विशिष्ट वैयक्तिक सम्बन्धों से समन्वित होते हुए भी, भावक के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव में सार्वजनीन स्वरूप ग्रहण कर लेता है। मनोवैज्ञानिक तथ्य भी यही है कि जो वस्तु दूसरे की है, जिससे हमें कोई सम्बन्ध-सरोकार नहीं उसका गहरा प्रभाव हमारे ऊपर क्योंकर पड़ सकता है? कवि द्वारा अंकित चित्र हमें इसीलिए आकर्षित करता है कि उसमें हम कुछ अपनी वस्तु पाते हैं, अपनी ममता का कोई आलम्बन पाते हैं। सभी सहृदय व्यक्ति उस चित्र में अपनी-अपनी अन्तरात्माओं का अनुरणन लाभ करते हैं। वे भूल जाते हैं कि वह संगीत किसी अन्य के हृदय से सम्भूत है, तथा उन्हें यही अनुभव होता है कि वह तान उनकी अपनी ही अन्तर्वीणा की झंकार है। अतएव, जब सभी सहृदय कवि द्वारा चित्रित मनोरम मूर्ति पर अपने निसर्ग-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध अधिकार की भावना से अनुप्राणित होते हैं, तब उसकी वैयक्तिकता का विसर्जन हो जाता है और वह सामान्य सहृदय-मात्र की सम्पत्ति बन जाती है। अभिनव गुप्त के "सकलसहृदयसंवादभाजा" में इसी सत्य की स्वीकृति विद्यमान है। उस भाव-मूर्ति की विश्वजनीन ममता प्राप्त करने की सामर्थ्य ही, शास्त्रीय शब्दावली में, 'साधारणीकरण' की शक्ति है।

वस्तुतः आचार्यों ने जब आश्रय एवं आलम्बन के साधारणीकृत होने का सिद्धान्त निरूपित किया, तब उनके समक्ष, समीक्षा के लिए केवल ऐसे काव्य उपस्थित थे जिनमें वर्णित चरित्र आसानी से मनुष्य-जाति के प्रतिनिधि हो सकते थे। उनमें ऐसे मोटे, स्थूल गुणों की प्रतिष्ठा हुई रहती थी कि वे 'व्यक्ति' न होकर 'टाइप' ही अधिक होते थे। उनके प्रेम में और घृणा में, हास्य में एवं रुदन में, कहीं कोई उलझन नहीं रहती थी। फलतः सभी प्रेमी-प्रेमिकाओं अथवा नायक-नायिकाओं को एक ही मापदण्ड से एक ही कसौटी पर रखकर, नापा जा सकता था। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की गहराई के अभाव में, न तो कवि और न भावक ही, ऐसे चित्रों अथवा चरित्रों की कल्पना कर सकते थे, जो सामान्य की सीमाओं को लाँघकर, कुछ जटिल अथवा अपरिचित-से लगें। अतएव, सर्व-स्वीकृत ढाँचे में ढले होने के कारण, काव्यगत पात्र अथवा चरित्र अधिकांशतः सामान्य ही होते थे। जिन काव्यों में आदर्श चरित्रों की सृष्टि होती थी, उनमें आपाततः कुछ असाधारणता दृष्टिगोचर हो सकती थी; लेकिन वहाँ भी ऐसे ही गुणों की अतिरंजना-पूर्ण प्रतिष्ठा कवि का लक्ष्य होता था जो सामान्य मानवता की ममता के भाजन होते थे। इस प्रकार काव्य-वर्णित विभावादिकों का साधारणीकरण मानने में पुराने आचार्यों को कोई मानसिक उलझन नहीं हो सकती थी। यदि सीता या शकुन्तला में सामान्य कामिनीत्व, और राम या दुष्यन्त में सामान्य प्रेमीत्व की कल्पना की गई तो इसमें क्या आपत्ति उठाई जा सकती थी? आचार्यों ने विभावादि के साथ स्थायी भाव का भी साधारणीकरण स्वीकृत किया। वस्तुतः जब भाव निर्वैयक्तिक हो गया हो तो उस भाव को धारण करने वाला व्यक्ति अथवा पात्र अपनी वैयक्तिकता क्योंकर बनाए रख सकता है? भावों में विशिष्टता होने से ही व्यक्तित्व में विशिष्टता आ सकती है। 'व्यक्तित्व' को 'व्यक्ति' से अलग नहीं किया जा सकता। अतएव, व्यक्तित्व के साधारणीकृत हो जाने पर व्यक्ति का भी साधारणीकरण सम्पन्न हो जायगा। परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने विभावादि के साधारणीकरण के साथ ही, भावक का आश्रय के साथ तादात्म्य ('अभेद') मानकर प्रश्न को थोड़ा उलझा दिया है। साधारणीकरण का अभिप्राय यह नहीं है कि आश्रय के साथ पाठक या प्रेक्षक सदैव आत्मीयता का अनुभव करे। प्रेम के मधुर प्रसंगों में, तो यह सम्भव हो सकता है, लेकिन अप्रिय आश्रय अथवा कटु भाव के प्रसंग में उसकी संभावना नहीं हो सकती। पुनः, जहाँ आश्रय मनुष्य न होकर कोई इतर प्राणी होगा, वहाँ आश्रय के साथ भावक के तादात्म्य-स्थापन की बात असंगत प्रतीत होगी। 'शाकुन्तलम्' में भयग्रस्त हरिण का जो चित्र दिया गया है, उसमें हरिण के साथ पाठक का तादात्म्य क्या अर्थ रख सकता है? भट्टनायक और अभिनव गुप्त ने आश्रय के साथ अभेद का कोई उल्लेख नहीं किया। अतएव, आश्रय के साथ भावक का तादात्म्य अनेक कारणों से सर्वदा सम्पन्न नहीं हो सकता। तथापि, इस तादात्म्य के अभाव में भी कुछ ऐसे विभावादिकों का साधारणीकरण सम्पन्न हो सकेगा जो सामान्य मनुष्यता अथवा उसके किसी एक अंग-विशेष या समुदाय-विशेष के प्रतीक-रूप में कल्पित एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रित किये गए हैं। आश्रय के साथ तादात्म्य की तर्कना का सहारा लेकर ही, कतिपय आधुनिक विद्वानों ने आश्रय के साधारणीकरण की मान्यता का प्रत्याख्यान किया है[1] जो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। मेरी समझ में, साधारणीकरण के मूल में विभावों की प्रातिनिधिक प्रकृति की स्वीकृति ही सन्निहित थी। उनकी देश-कालादि की सीमाओं के अतिक्रमण की कल्पना का संकेत इसी ओर था! वास्तव में, यह साधारणीकरण तभी सम्पन्न नहीं होगा जब काव्य-वर्णित विभावादि जटिल एवं असाधारण ढंग के रहेंगे। अतएव, इसीके आधार पर, विभावादिकों का साधारणीकरण नहीं माना जाय तो यह उचित ही कहा जाना चाहिए; क्योंकि स्थापना ऐसी होनी चाहिए जो सभी परिस्थितियों में ग्राह्य हो।

आलम्बन का साधारणीकरण भी उपयुक्त तर्कनाओं के आलोक में बाधित हो जाता है। कथा-काव्यों के अतिरिक्त, किसी आत्मनिष्ठ, प्रगीतात्मक अथवा प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करने वाली आधुनिक रचना पर विचार करने से बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। 'दिनकर' की प्रसिद्ध कविता 'हिमालय' हमारी अनेक स्मृतियों को उद्बुद्ध करती है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उससे सभी समानरूपेण उत्तुङ्ग पर्वतमालाओं का भाव हमारे हृदय में उदित हो जाता है, अथवा यह कि विश्व के वैसे ही गगनचुम्बी गिरिशिखर हममें वैसी ही चेतनाएँ जाग्रत करने में समर्थ हो सकेंगे। इसी प्रकार अँगरेजी कवि कीट्स की अत्यन्त प्रसिद्ध रचना 'ओड टु दि नाइटेंगेल' को लीजिए। उसमें उस बुलबुल के मधुर एवं तीखे स्वर के आलम्बन से कवि के अन्तर में जो विषादमयी भावनाएँ प्रादुर्भूत हुई हैं, वे क्या सभी समय, सभी परिस्थितियों में, सभी बुलबुलों के स्वर को सुनने से पैदा हो सकती थीं? स्पष्ट है कि यहाँ उस बुलबुल का साधारणीकरण कोई अर्थ नहीं रखता। जैसा ऊपर कहा गया है, सर्वसामान्य ढाँचे में ढले होने के कारण शकुन्तला इत्यादि साधारण कामिनी के रूप में प्रतिभासित हो सकती हैं; किन्तु आधुनिक काल में जैसे चरित्रों की कुतूहलमूलक सृष्टि हुई है या हो रही है, उनका साधारणीकरण कठिन ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए, हार्डी के उपन्यासों के नारी-पात्रों को लीजिए। ये नारियाँ या तो अनेक से प्रेम करती हैं या अनेक द्वारा प्रेम की भाजन बनाई जाती हैं, या अनेक को प्रवंचित एवं प्रतारित कर, किसी एक से, और बाद को दूसरे से, विवाह कर लेती हैं। इन नारियों को साधारणीकृत स्त्रियों के रूप में क्योंकर समझा जा सकता है; क्योंकि अन्ततोगत्वा सामाजिक का मानस ही तो साधारणीकरण सम्पन्न करता है? इन कठिनाइयों से बचने के लिए आचार्य शुक्ल की यह तर्कना साधारणतः स्वीकार्य प्रतीत होती है कि काव्य का अनुशीलन करते समय 'कल्पना' में मूर्ति तो विशेष की ही होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगा सके जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है—तात्पर्य यह कि आलम्बन-रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलंबन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं'—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के

१. डॉ० नगेन्द्र : 'रीतिकाव्य की भूमिका', पृ० ४९-५०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन में यह भेद-भाव नहीं रहता कि आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।[1] डॉ० नगेन्द्र का यह कथन कि 'शुक्ल जी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है,'[2] युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। शुक्ल जी उसी प्रसंग में आगे कहते हैं "साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं।" अर्थात्, सभी सहृदयों में प्रस्तुत आलम्बन के प्रति लगभग एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया ('रेसपान्स') का प्रदुर्भाव होता है; अर्थात्, सहृदयों की मानसिक प्रतिक्रियाएँ साधारणीभूत होती हैं, उनकी चित्त-वृत्तियों का साधारणीकरण होता है। शुक्ल जी के निरूपण की दुर्बलता वस्तुतः है, "आलम्बनत्व धर्म" का भी साधारणीकरण, अर्थात् आलम्बन में लोक-सामान्य धर्मों की स्थापना मानना जिससे ही—वे सोचते प्रतीत होते हैं—सभी भावकों के मानस पर लगभग समान प्रभाव पड़ सकेगा। लेकिन, आलम्बन में असामान्य एवं असाधारण धर्मों की प्रतिष्ठा होने पर भी, भावकों में समान प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो सकती हैं यदि उनमें काव्यानुशीलन के दीर्घ अभ्यास के कारण 'तन्मयीभवनयोग्यता' का विकास हो गया हो।

अब तक हमने देखा है कि आश्रय तथा आलम्बन का साधारणीकरण अप्रतिहत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतएव, कवि की अनुभूति तथा भावक के स्थायी भाव का साधारणीकरण ही अब विवेचनीय ठहरता है।

किसी भी काव्य-कथित प्रसंग में दो प्रकार के चित्रों की प्रतिष्ठा होती है। पहला चित्र 'स्थूल' होता है जिसकी प्रतीति कवि द्वारा नियोजित शब्द-विन्यास के सहारे होती है। नाटक में नटों की वेश-भूषा इत्यादि से भी इसी स्थूल चित्र के प्रकाशित या व्यंजित होने में सहायता मिलती है। लेकिन, कवि का वास्तविक अभीष्ट वह 'भाव-चित्र' हुआ करता है जिसकी संवेदनीयता के हेतु उसकी समस्त कला अयोजित रहती है। यह भाव-मूर्ति ही साधारणीकरण की अपेक्षा रखती है तथा इस प्रक्रिया में कवि एवं सहृदय, दोनों ही परस्पर सहयोग करते हैं। भारतेन्दु-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' में श्मशान-भूमि में पुत्र-मरण के शोक से अभिभूत होकर विलाप करने वाली शैव्या पर विचार कीजिए। शैव्या को मर्मस्पर्शी अश्रु बहाते हम देखते हैं। प्रथमतः प्रसंग का स्थूल-चित्र, अपने व्यक्तिगत भौतिक आवेष्टन के साथ, हमारी कल्पना में या नेत्रों के समक्ष, उतर आता है। हम शैव्या की वास्तविक परिस्थिति से अभिज्ञता प्राप्त करते हैं। कवि अपनी कला-निपुणता से, अपनी कुशल शिल्प-योजना से, ऐसी स्थिति प्रस्तुत कर देता है कि विलाप करने वाली शैव्या का अत्यन्त मर्म-द्रावक चित्र सामाजिक के मानस में अंकित हो जाता है। अभी तक हम 'स्थूल-चित्र' को ही, उसकी समग्र पूर्णता के साथ, हृदयंगम कर चुके हैं। रंगमंच पर अभिनय की माया अग्रसर है। खुमारी धीरे-धीरे उत्पन्न हो रही है और चित्र की स्थूलता क्रमशः सहृदय प्रेक्षक के मानस से कपूर की नाईं उड़ती जा रही है। कुछ समय के पश्चात् कवि की अभीप्सित भाव-मूर्ति, आध्यात्मिक या मानसिक सूक्ष्मता से आवेष्टित होकर हमारी अन्तरात्मा को अभिभूत कर लेती है। उसी क्षण हममें उस "ब्लेसेड मूड" का आविर्भाव होता है जब हम भूल जाते हैं कि शैव्या की वेदना, शैव्या

१. 'रस-मीमांसा', पृ० ३१२-१४।
२. 'रीतिकाव्य की भूमिका', पृ० ४८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अपनी निजी वेदना है। उस समय हमारे अन्तःकरण का वासनात्मक वेदना-भाव वैसे ही फूट पड़ता है जैसे मृत्तिका-पात्र में जल-स्रवण से उसकी अव्यक्त गंध अथवा परशु के आघात से चन्दन वृक्ष का नैसर्गिक सौरभ। इसी 'स्टेज' पर कवि का 'संवेदन' अथवा अनुभूति (क्योंकि शैव्या को रुलाने के पहले कवि स्वयं रो चुका है।) सामाजिक की संस्कारगत अनुभूति को अतिशयतापूर्वक उद्दीप्त करती है। इसका फल यह होता है कि वह भी मर्म व्यथा के आँसू बहाने लग जाता है, शैव्या की वेदना उसकी वेदना बन जाती है तथा अन्त में, उसकी व्यथा-विह्वल अन्तरात्मा विश्वात्मा के साथ मिल जाती है, 'एकरस हो जाती है'—अर्थात्, उसकी व्यथा का विस्तार हो जाता है, साधारणीकरण (Universalisation) हो जाता है। तदनन्तर यदि कोई विघ्न नहीं हुआ तो उस 'मूड' में अपेक्षित घनत्व का उदय हो जाता है और सामाजिक रसोद्रेक की चर्वणा में तल्लीन हो जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि कवि की अनुभूति भावक की अनुभूति के साथ, दूध-चीनी की तरह मिल जाती है और उस अनिर्वचनीय भाव-माया का जनन करती है जिसमें कवि भी, 'व्यक्ति' की परिधियों का अतिक्रमण करके, मनुष्य-मात्र का प्रतिनिधि हो जाता है। ऐसी दशा में कवि की अनुभूतियों का भी साधारणीकरण सम्पन्न होता है। पहले हमने कहा है कि कवि को, अपनी अनुभूतियों की विज्ञप्ति करने में अपने 'अहं' अथवा 'अस्मिता' के प्रसार का स्वर्ण-संयोग मिलता है। आदिकवि वाल्मीकि के अन्तःकरण पर कामासक्त क्रौंच के निर्मम वध से जो गहरा आघात पहुँचा, उससे उनका समग्र संवेदनात्मक अस्तित्व ही हिल उठा। उस समय जो मर्मस्पर्शी अनुभूति उनकी अन्तरात्मा में आविर्भूत हुई, वह "मा निषाद···" के वाग्निर्झर में निखिल विश्व में विज्ञापित कर दी गई—अब वह निष्करुण कृत्य केवल महर्षि की आत्मा द्वारा ही अभिशप्त नहीं हुआ, प्रत्युत समस्त विश्व के अन्तःकरण की भर्त्सना का भाजन बना। अतएव, कवि की भावनाओं को सार्वजनीन बनाना प्रत्येक कला-कृति का मूल उद्देश्य हुआ करता है अथच उसकी अनुभूतियों की सान्द्रता एवं सच्चाई के संघर्ष में आकर, भावक के वासनामूलक भाव-स्रोत, उचित कला की योजना से, प्रस्फुटित हो जाते हैं। अतएव, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि और भावक, दोनों की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है। अर्थात् और आगे बढ़कर, हमें यह कहना चाहिए कि किसी 'व्यक्ति' या 'सत्ता' का नहीं, अपितु 'भाव-तत्त्व' का साधारणीकरण घटित होता है जिसमें कवि एवं सहृदय, दोनों बराबरी के साझीदार होते हैं।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि काव्य-चित्रित भाव मानव-जगत् के परम प्रिय एवं सर्वसाधारण-गृहीत भाव ही नहीं होते, यद्यपि यह सच है कि ऐसे भावों का साधारणीकरण अधिक आसानी से हो सकता है। काव्य को लोक-हित से समन्वित करने के कारण शुक्ल जी ने "लोक-सामान्य भाव-भूमि" का उल्लेख किया है। मेरा विचार है कि यह 'लोकसामान्यता' उतनी ही दूर तक स्वीकार की जानी चाहिए जितने से काव्य की संप्रेषणीयता को बल मिलता है तथा उसमें घोर, उद्दाम वैयक्तिकता के निर्बाध विकास की संभावना नियन्त्रित होती है। वर्ड्सवर्थ ने सर्व-साधारण में व्याप्त राग-विरागों ('Joys in the widest commonality spread') के चित्रण की संस्तुति की है। इससे शुक्ल जी की 'लोक-सामान्य भावभूमि' को अनुमोदन मिलता है। तथापि, यह समझ लेना कि कवि की सम्पूर्ण अनुभूतियाँ इस भाव-भूमि तक पहुँच जायँगी, भ्रान्तिपूर्ण होगा। काव्य वस्तुतः हमें अपने क्षुद्र स्वार्थों एवं संकीर्ण प्रयोजनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की परिधि से बाहर ले जाता है। जीवन की सामान्य दिनचर्या में हम 'स्व' से बहुत ऊपर नहीं उठ पाते। हमारे समस्त कार्य-कलाप, हमारी समग्र चिंतन-धारा, हमारा सत्य, हमारा सौन्दर्य, हमारा शिव, सभी प्रयोजन-सापेक्ष होते हैं। सामान्य जीवन की कुण्ठाओं से विमुक्त करने का मंगलमय अनुष्ठान कवि द्वारा सम्पन्न होता है। उस समय वह उच्चतर सत्य, श्रेष्टतर सौन्दर्य और गम्भीरतर शिव का हमें दर्शन कराता है। जितनी योग्यता एवं प्रभविष्णुता के साथ वह उस लोकोत्तर सृष्टि का उन्मीलन करता है, उसी परिमाण में वह अपने व्यक्तित्व की सीमाओं को लाँघकर विश्वात्मा से तादात्म्य स्थापित करने में सफल होता है। काव्य हमें इसी प्रयोजनातीत सौन्दर्य एवं सत्य की अनुभूति कराता है। इसी अर्थ में काव्य विश्वजनीन बनता है और इसी अर्थ में काव्य के भाव-तत्त्व का साधारणीकरण मानना उचित होगा। 'कामायनी' की दार्शनिक भाव-भूमि लोक-सामान्यता की परिधि में नहीं आ सकती; वर्ड्सवर्थ का 'इमॉर्टेलिटी ओड', शेली का 'स्काइलार्क' तथा 'वेस्टविंड' और छायावादी कवियों की अनेक रचनाएँ लोक-सामान्य भाव-भूमि का अनुमोदन प्राप्त नहीं कर सकतीं। गेटे का 'फॉस्ट' तथा दाँते की 'डिवाइन कॉमेडी' लोक सामान्य के धरातल पर नहीं घसीटे जा सकते। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी भावभूमियों का साधारणीकरण नहीं होता। एक सुदीर्घ काल तक इन रचनाओं को जो सम्मान मिलता आया है, उसका रहस्य इस बात के अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि इनमें काव्यानुरागियों ने अपनी ममता के लिए कोई-न-कोई आलम्बन प्राप्त किया है? यह दूसरी बात है कि सामान्य पाठकों के बीच ये काव्य बहुत लोक-प्रिय न हों। साधारणीकरण के लिए परमावश्यक यह है कि काव्यगत भावों में यथेष्ट सचाई, गहराई एवं ज्वलनशीलता रहे तथा उनकी अभिव्यंजना भी मर्मस्पर्शी रहे जिससे हमारे अनुरूप वासनात्मक भाव-स्रोत सबलतापूर्वक उद्वेलित हो सकें। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि केवल कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण मानना एकांगी स्थापना कही जायगी, क्योंकि सहृदता के सहयोग के बिना काव्य के आस्वादित होने की कल्पना की ही नहीं जा सकती। इसीलिए, अभिनव गुप्त ने कवि एवं प्रमाता, दोनों के अनुभवों के साधारणीकरण का निरूपण किया है।

उपर्युक्त स्थापना से एक महत्त्व का निष्कर्ष यह निकलता है कि कवि के साथ भावक का तादात्म्य होना चाहिए— (स्मरण रहे कि कवि के साथ तादात्म्य का अर्थ सर्वदा यह नहीं होगा कि काव्य-वर्णित आश्रय के साथ भी हमारा तादात्म्य हो।) जब कवि और सहृदय, दोनों की अनुभूतियाँ या वासनात्मक भावनाएँ, साधरणीकृत अवस्था में, एक-दूसरे में लय हो जाती हैं, तब यह मानने में कोई संकोच अथवा बाधा नहीं होगी कि कवि और भावक, दोनों का पूर्ण तादात्म्य रसानुभूति के स्तर पर सम्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से पाश्चात्य पंडित भी साधारणीकरण के अनुमोदन के अत्यन्त निकट पहुँच जाते हैं। 'Einfuhlung' अथवा Empathy का सिद्धान्त इस स्वीकृति का निरूपण है कि भावक अपनी स्वतन्त्र सत्ता का विस्मरण करके काव्यगत वस्तु, चित्र अथवा चरित्र से (अपनी मानसिक प्रवृत्तियों का प्रक्षेपण करके ही सही) पूर्ण तादात्म्य उपलब्ध कर लेता है।[१] क्रोचे ने भी यह माना है कि काव्य के रसास्वादन में कवि तथा भावक, दोनों के अलौकिक व्यक्तित्व मिल जाते हैं और वे दोनों एक

१. "Empathy connotes the state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self-consciousness and is identifying himself with some character in the story or screen."— A. E. Mander.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही बन जाते हैं।[१] अपने लौकिक (Empirical) व्यक्तित्व में, वे व्यक्तिगत प्रयोजनों की परिधि को अतिक्रमित करने में असमर्थ होते हैं। किन्तु, अपने सहज या आदर्श (Spontaneous or ideal) रूप में उनकी चित्तभूमियों का एकतान मिलन हो जाता है जहाँ वे विश्वात्मा से अभिन्नता प्राप्त कर लेते हैं। यही अवस्था साधारणीकरण की अभीष्ट दशा है।

वर्तमान कविता में बौद्धिकता के विस्फोट से सशंक होकर अनेक विद्वानों को साधारणीकरण के सामर्थ्य में सन्देह होने लगा है। लेकिन, यह ध्यान में रखने की वस्तु है कि प्रत्येक 'विचार' के साथ कोई-न-कोई 'रागात्मक प्रसंग' अवश्य संलग्न रहता है तथा उस विचार से अभिज्ञ होने पर सम्बद्ध 'भाव-क्षेत्र' निश्चय ही जाग्रत हो जाता है।[२] अतएव, बौद्धिकता का जितना ही अतिशयतापूर्ण पल्लवन कविता में क्यों न हो, यदि वह कविता की परिधि में परिगणित होने योग्य होगी, तो उसमें कोई 'भावमूर्ति' अवश्य छिपी होगी; वही सहृदय पाठक को आकृष्ट करेगी और उसीके माध्यम से कवि एवं प्रमाता, दोनों की अनुभूतियों का साधारणीकरण सम्पन्न होगा। सम्भव है, सम्प्रति हम रसास्वाद की 'वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यता' में विश्वास न करें, किन्तु वह दूसरी बात होगी। हाँ, यहाँ पर यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रयोगवादी कुछ कविताओं का साधारणीकरण कदाचित् कभी सम्भव न हो सके क्योंकि ऐसे कवि छन्द के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु सौन्दर्य अथवा भाव के क्षेत्र में भी अनगढ़ प्रयोग करने के लिए लालायित हो उठते हैं। निम्न पंक्तियों का 'सत्य' अथवा 'सौन्दर्य' निश्चय ही कवि की व्यक्तिगत सम्पत्ति-मात्र रह जायगा :

(१) "निकटतर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नतग्रीव
धैर्य-धन गदहा।"

(२) "सरग था ऊपर,
नीचे पाताल था।"
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था,
दिल दिमाग भुस का, खद्दर का खाल था।"

मानो कवि काव्य के चिराचरित कोमल, उदात्त एवं शालीन व्यवहार से ऊब गया है अथवा उस धरातल तक उठने की अपनी अभ्यान्तरिक अक्षमता का अनुभव करके नीचे के तलदेश में ही अपना मनबहलाव कर रहा है। अर्थात्, वह स्वयं नहीं चाहता कि उसकी धारणाएँ सार्वजनीन स्वीकृति प्राप्त करें। व्यक्तित्व के एक विशिष्ट स्तर पर ही, सात्विकता के एक विशिष्ट उद्रेक के फलस्वरूप ही कवि उस स्पृहणीय 'मधुमती भूमिका' को उपलब्ध कर सकता है।

---

१. "In order to Judge Dante, we must raise ourselvs to his level. Let it be understood that empirically neither we are Dante nor Dante we; but in the moment of Judgement and Contemplation, our spirit is one with that of the poet and in that moment we and he are one single thing."—B. Croce.

२. "Poetry will, therefore, be words which do communicate a 'thought' and the 'emotional field' which it excites, from the mind of the poet to the mind of the reader."— J. Middleton Murry.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्मीकान्त वर्मा

प्रयोग, प्रगति और परम्परा

नई कविता को लेकर इधर जो कुछ भी विभिन्न आलोचकों द्वारा कहा-सुना गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश धारणाएँ काव्यगत सौन्दर्य एवं उसकी मार्मिक संवेदनाओं पर आधारित नहीं की जातीं वरन् नई कविता को केवल बाह्यारोपित मतवाद के कटघरे में बन्द करने का प्रयास किया जाया है। इन सबका परिणाम यह है कि आज जहाँ और प्रकार की आलोचनाएँ नई कविता के सम्बन्ध में प्रस्तुत की जाती हैं वहाँ विशेष रूप से इस बात पर बल दिया जाता है कि नई कविता प्रयोगशील है इसलिए न तो वह प्रगतिशील हो सकती है और न ही परम्परा का अनुकरण ही करती है। काव्य के गुण-दोष, और दायित्व-निर्वाह पर विचार-विमर्श न करके सारा विवाद 'प्रयोगवाद', 'प्रगतिवाद' और 'परम्परावाद' पर ही केन्द्रित कर दिया जाता है और जब कोई भी आलोचक रूढ़िवाद में किसी भी मतवाद को स्वीकारता है, चाहे वह प्रयोगवाद हो, प्रगतिवाद हो अथवा परम्परावाद हो, तो वह सदैव विषय-वस्तु का मूल्यांकन न करके अपने पूर्वग्रहों की रक्षा को ही अपना ध्येय मान बैठता है। कहीं-कहीं यह सारा विवाद अनर्गल प्रलाप की सीमा तक ही रह जाता है, क्योंकि सिवा इसके कि पूर्वग्रहों के कारण वह असन्तुलित, असंगत और अनुचित रूप में काव्य और उसके प्रतिमानों को विकीर्ण करें और दूसरा रचनात्मक दृष्टिकोण न तो वह स्वयं मान पाते हैं और न ही उसके विकास में विश्वास ही प्रदर्शित कर पाते हैं। फलस्वरूप आज यह आवश्यकता अधिक संगत मालूम पड़ती है कि प्रयोग, प्रगति और परम्परा की वास्तविक मर्यादा को गलत प्रकार के पूर्वग्रहों से पृथक् करके सोचा जाय, उसका मूल्यांकन किया जाय, और उनके विश्लेषण के आधार पर वह सारा सब-कुछ, जो असंगत और असन्तुलित व्याख्या के रूप में आज प्रतिपादित किया जा रहा है उसका वास्तविक रूप जाना और समझा जाय।

प्रत्येक नई प्रवृत्ति से चौंककर जो-कुछ भी प्रगति और परम्परा के नाम पर कहा जाता है उसमें केवल उन सड़े हुए तीखे अंशों की झलक-मात्र प्रदर्शित होती है जो समय के विकास के साथ विकसित नहीं हो सके हैं और इसीलिए निर्जीव प्रेत-से केवल आतंक फैलाने में सक्रिय हैं। यदि प्रगतिवाद केवल गति की लकीर पीटकर आज की नई प्रवृत्ति को गलत सिद्ध करना चाहता है तो परम्परा का अनुयायी उस गति के विकास में अनावश्यक रूढ़ियों की इतनी दुहाई देता है कि इतिहास, सभ्यता, संस्कृति और मानवता के समस्त विकासशील तत्त्व कुण्ठित हो जाते हैं और इतनी निर्मम पंगु स्थिति का भास होने लगता है कि उसके बाद न तो प्रगति ही सम्भव है और न प्रयोग। लेकिन इस सारी स्थिति का जीवन्त मजाक यह है कि प्रगति और परम्परा-जैसे दो विरोधी तत्त्व एक साथ मिलकर प्रयोग पर आक्रमण करने लगते हैं। प्रगतिवाद आधुनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग को इसलिए भी बुरा कहता है क्योंकि प्रयोग में सहानुभूति की सशक्त स्वीकृति है और यह स्वीकृति भी ऐसी कि जिसमें दलगत अथवा सम्प्रदायवादी मान्यताओं के विरोध में नये बिन्दुओं को विकसित करने की सम्भावना निहित है। परम्परावादी इसलिए प्रयोग का विरोध करता है क्योंकि उसकी स्थिति ठीक उस योग्य पिता के अयोग्य पुत्र के समान बन जाती है जो अपनी अकर्मण्यता के कारण पैतृक सम्पत्ति की रक्षा ही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य मान बैठा है, उसके पास अपना कुछ नहीं है, वह जीना चाहता है केवल उस पूँजी पर जो कि पूर्वजों ने अपनी मानसिक एवं आत्मिक अनुभूतियों के आधार पर एकत्र की है। संकीर्ण प्रगतिवादी भी परम्परा की दुहाई महज जनमत को अपने वश में करने के लिए देता है। उसका मोह या उसका आकर्षण किसी के प्रति नहीं है। विशेषतया अपनी सांस्कृतिक थाती के प्रति तो है ही नहीं। तुलसी से लेकर पंत तक में वह वर्गचेतना से आक्रान्त पलायनवादी साहित्य की परम्परा सिद्ध कर सकता है बशर्ते कि सम्प्रदायवादी दल उसको ऐसा करने की छूट दे और जब यह छूट मिली है तब उसने ऐसा किया भी है।

जहाँ तक परम्परावादी का प्रश्न है वह भी वह गहन अन्तर्दृष्टि नहीं रखता जो उसे अपने पूर्वजों से मिली है इसलिए वह केवल आँख बन्द करके शब्द-वेध पर अग्रसर होना चाहता है। परम्परा की रक्षा पर जोर देने वाले परम्परा की वृद्धि के प्रति विश्वास नहीं रखते। वह केवल उसकी रक्षा से सतुष्ट हो लेते हैं; क्योंकि उस सम्पति के आधार पर आगे बढ़ने की शक्ति उनके पास नहीं है। इसलिए योग्य पिता के निकम्मे पुत्र की तरह वह अपने पूर्वजों के पुराने यश को सस्ते दामों गिरवी रखकर अपनी लाज ढकने का प्रयास करना है।

लेकिन इन प्रगतिवादी और परम्परादी आलोचकों से भिन्न एक तीसरा वर्ग भी है जो नई प्रवृत्ति को स्वीकार करने में सर्वथा नया ढंग अपनाता है। इस वर्ग की स्थिति अजीब है। वह प्रयोग अथवा नई प्रवृत्ति की खुलकर भर्त्सना भी नहीं करता लेकिन वह उसे स्वीकार करता हो ऐसा भी नहीं है।[1] अतिवादी परम्परावादी के समान वह परम्परा का पूर्ण समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाता है। प्रगतिवादी वह इसलिए नहीं हो पाता, क्योंकि वह स्वयं अन्तर्मन में प्रयोग से प्रभावित है, प्रयोग का समर्थन वह इसलिए नहीं करता क्योंकि उसमें इसका दृढ़ विश्वास नहीं है। यह वर्ग इसलिए तटवर्ती नगर के नागरिक की भाँति नदी की गति देखता है, बाढ़ में खतरे के बिन्दु पर आँख गड़ाये तट से दोनों का रस लेता है, उनका भी जो अभियान के क्षणों में हर लहर के साथ नये प्रतिमान स्थापित कर रहे हैं, साथ ही उनका भी जो नदी में दूध-डाली का तर्पण देकर पितरों को संतुष्ट करने के नाम पर हिंसक जन्तुओं को पिंडदान खिला रहे हैं। यह वर्ग बहुत ही निर्लिप्त होकर वस्तुस्थिति पर पैंतरे बदलता है, लेकिन हर पैंतरे के बाद अनुभव करता है कि वह कहीं किसी दिशा में एक सूत भी नहीं बढ़ा है, जहाँ था वहीं है, यह बात और है कि परिस्थिति बदल गई है, मूल्यों और दृष्टिकोणों में परिवर्तन आ गया है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है—

---

१. देखिए, 'नयी कविता का भविष्य' : गिरजा कुमार माथुर : आलोचना।
देखिए, 'नयी कविता : मूल्यांकन' : बालकृष्ण राव : आलोचना।
देखिए, 'प्रयोगवादी कवि : एक चेतावनी' : डा० देवराज 'नयी कविता' २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग की सार्थकता किसमें है ? उसकी मर्यादा क्या है ?
परम्परा का महत्त्व क्या है ? उसकी सीमाएँ क्या हैं ?
तथाकथित प्रगति और वास्तविक प्रगति में अन्तर क्या है ?

प्रयोग प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार की सहज प्रकृति है। प्रतिभा की मूल प्रवृत्ति है कि वह नई अनुभूति और आत्मबोध के नये स्तरों को विकासशील दृष्टि से, नये माध्यम और नई पृष्ठभूमियों से, देखने की सजग प्रेरणा दे। जो-कुछ दूसरों ने देखकर, समझकर अथवा अनुभव करके हमें दिया है वह आज के प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार का भी आत्म-सत्य होगा ही, ऐसा स्वीकार करना अवैज्ञानिक एवं रूढ़िगत चेतना का परिचय देता है। जो कुछ हमारे पूर्वजों ने अनुभव किया है उसके साथ उनकी सापेक्ष अनुभूति सम्बद्ध थी और उनके सापेक्ष सत्य के साक्षात्कार को अपने सापेक्ष सत्य से पृथक् न करना देश-काल की मर्यादा को अस्वीकार करना है, साथ ही ह्रास एवं आत्महीनता का भी परिचय देना है। इसलिए जब हम किसी भी सत्य को अपनी सापेक्ष दृष्टि से अनुभव करते हैं और उन अनुभव के क्षणों का आत्म-साक्षात्कार करके व्यक्त करते हैं तो फिर उसमें से अधिकांश ऐसा होता है जो दूसरों की सापेक्षता से भिन्न हो। यह भिन्नता सदैव साहित्य का अंग रही है; क्योंकि इस भिन्नता में लेखक का, युग का, एवं अनुभूतियों का विवेक, उनकी मार्मिकता एवं सहजता भी प्रदर्शित होती रही है। देश, काल के भिन्न आयाम भी इन्हींके माध्यम से अंकित होते रहे हैं और यही नया प्रयोग भी माना जाता रहा है। इसमें न तो किसी को आपत्ति रही है और न होनी चाहिए। यदि इस भिन्नता को न स्वीकार किया जाता तो आज का समस्त साहित्य पुनरावृत्ति-मात्र बनकर रह जाता।

पुनरावृत्ति यदि वह साहित्य में हो अथवा किसी अन्य क्षेत्र में, यह सिद्ध करती है कि मौलिक प्रतिभा का ह्रास हो रहा है। दृष्टि (vision) में रुकावट पैदा हो गई है।[1] इसके विपरीत प्रयोग प्रबुद्ध चेतना को परिलक्षित करता है; जिसके आधार पर नये मूल्यों, नये आयामों और नई प्रवृत्तियों का विकास होता है। जिस कला में कृतिकार का व्यक्तित्व रचना से सम्बद्ध नहीं होता अथवा जो जीवन को एक परिधि में बाँधकर देखने को ही कला की मर्यादा समझता है। उसके सामने केवल दो ही रास्ते शेष बचते हैं—प्रथम तो यह कि वह विगत पीढ़ी की समस्त रचना-विधि एवं अभिव्यंजना को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर ले अथवा उनके अतिरिक्त नया रास्ता ढूँढे, नये प्रयोग करे। जो नये अन्वेषण को अपराध समझते हैं वे परम्परा की खोखली खाल ओढ़कर पुनरावृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं। जहाँ तक नई कविता का सम्बन्ध है वह पुनरावृत्ति के दोष से मुक्त है, मिथ्या रूप-आकर्षण से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिए वह प्रयोगशील होती है। प्रयोगशील वह इसलिए और भी है क्योंकि वह आत्मभुक्त (Self realised) क्षणों को, वाह्यरोपित श्रुतिधर्मा

१. Art only begins where imitation ends, but something must come into my work of fuller memory of words, perhaps, of richer cadences, of more curious effects of simpler architectural order, of some aesthetic quality at any rate."
—Oscar wilde : De Profoundis.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति से, अधिक श्रेयस्कर समझती है अर्थात् अपने आत्मसात् सत्य को अपनी अनुभूति की गहराई के साथ अपने ढंग से व्यक्त करना अपना नैतिक धर्म मानती है। जहाँ पुनरावृत्ति कला का दोष है वहाँ प्रयोग उसके भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष को व्यक्त करने की मुक्त प्रक्रिया है, विवेक रखते हुए भिन्नता को स्वीकार करने की क्षमता है, नये अनुभव-क्षेत्रों को उद्घाटित करने की शक्ति है, और इस सबसे भी बढ़कर उसके पास वह अन्तर्दृष्टि (vision) है जो हमें जीवन को नये माध्यमों से देखने की प्रेरणा देती है।[१] जो लोग सत्य के अमूर्त, निरपेक्ष (Absolute) होने के हामी हैं और उसकी अनेकता में अविश्वास करते हैं वे सत्य के पहचानने में भ्रम पैदा करते हैं; क्योंकि सत्य केवल निरपेक्ष रूप में कोई भी महत्त्व नहीं रखता। उसकी असली कसौटी उसकी सापेक्षता में है। व्यक्ति, समाज, आदर्श, यथार्थ, परम्परा, विकास, इन सबकी सापेक्षता में सत्य के रूप भी बदलते रहते हैं, अनुभव-स्तर में परिवर्तन भी आता रहता है, अनुभूतियों की गहराई में अन्तर प्रस्तुत होते रहते हैं और जब हम उस बदले हुए रूप को स्वीकार करते हैं, उनके विभिन्न पहलुओं के अस्तित्व को मान लेते हैं, देश, काल की मर्यादा को अंगीकार करते हैं तो निश्चय ही हम उन लोगों से, जो सत्य को निष्क्रिय, जड़, एवं गतिहीन मानते हैं, उनसे पृथक् सोचते हैं, लिखते हैं और चलते हैं। जैसे-जैसे नई अभिरुचि और नया दृष्टिकोण रूढ़ियों को छोड़कर आगे बढ़ने की चेष्टा करते हैं, उसीके अनुपात में परम्परावादी पुनरावृत्ति को एक-मात्र सत्य मानने लगता है और पुरानी जड़ों को इतने जोर से पकड़कर बैठ जाता है कि स्वयं उसकी बाह्य और आन्तरिक जर्जरता उनमें अविश्वास पैदा करके उन्हें उपहासास्पद बना देती है। प्रयोग प्रबुद्ध चेतना की विकास-प्रवृत्ति का परिचायक है, जहाँ प्रयोग नहीं है, लीक छोड़कर चलने की परम्परा नहीं है वहाँ निष्क्रियता जन्म लेती है, भोंडापन और खोखलापन विकसित होने लगता है। इसीलिए प्रयोग की नवीनता में वे सम्भावनाएँ निहित रहती हैं जो परम्परा और रूढ़ि के प्रति विद्रोह करके अपना नया रास्ता बनाने में समर्थ होती हैं।

लेकिन प्रयोग जैसे पुनरावृत्ति से पृथक् है, परम्परा की रूढ़ि को अस्वीकार करता है ठीक उसी प्रकार से वह मूलतः प्रगति के प्रति आस्थावान होते हुए भी तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न है। प्रगति में उसकी आस्था इसलिए है क्योंकि प्रगति प्रयोग की सहज गति है, अन्तर केवल इतना है कि यह गति स्वचालित, आत्मानुभूति पर आधारित है उसके ऊपर कोई बाह्यारोपित आडम्बर अथवा सम्प्रदायवाद नहीं है, इसीलिए प्रगतिबद्ध होते हुए भी वह तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न है, उसकी आत्मा को सन्तुष्ट नहीं करता। प्रयोग मानवीय चेतना के नये स्तर विकसित करने की निष्ठा है, इसलिए वह प्रत्येक अनुभव जो जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है और अपनी जिज्ञासु दृष्टि से सम्पूर्ण चेतना को दृष्टि प्रदान करता है उसमें मतवाद से अधिक व्यक्तिगत अनुभूति के प्रति अधिक आस्था है।[२] प्रगति मानव-यात्रा की गति की ही परिचायक

१. The work of art is in some sense a liberation of personality, normally art feelings are inhibited and repressed. Art is the economy of feeling, Emotion cultivating good form.— Herbert Read 'The Meaning of Art'.

२. No one can be a great thinker who does not recognize that as a thinker it is his first duty to follow his intellect to whatever conclusion it may lead,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है वह अन्तर्मन और अन्तश्चेतन में विचारों की विद्रोहमयी परम्परा का प्रतिनिधित्व भी करती है। प्रयोग प्रगति की दृष्टि से परिचालित होता है। यदि प्रगति की भावना न हो, आगे बढ़ने की चेष्टा न हो, तो प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। प्रयोग तो विचारों की नवीन क्रियाशीलता की सजग अभिव्यक्ति है। सजग, प्रबुद्ध और व्यक्तिगत अनुभूति की ईमानदारी में विश्वास रखने के नाते ही वह तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न है, क्योंकि प्रगतिवाद में सजगता कला अथवा कलाकार की चेतना की नहीं होती वह शास्त्रीय होती है, उसकी प्रबुद्ध सत्ता विचार-स्वातन्त्र्य से अंकुरित नहीं होती वरन् दलगत स्वार्थ से परिचालित होती है, उसमें व्यक्ति-अनुभूति का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वह एक निर्धारित समाजवाद की चेतना के फ्रेम में कसी हुई स्वतन्त्रता होती है। फ्रेम के भीतर, उसके वृत्त में जितनी चीजें आती हैं वे स्वीकार की जाती हैं, उस फ्रेम के बाहर की चीज उनके लिए अस्पृश्य है। यही कारण है कि प्रयोगवाद की प्रगति-आस्था में और तथाकथित प्रगतिवाद में एक स्वाभाविक विरोधाभास दिखलाई पड़ता है। जो भी कला-विशेषज्ञ किसी भी कला-कृति में कलाकार की इस मूल मनःस्थिति पर बाह्यारोपित मतवाद को देखने की चेष्टा करता है वह निश्चय ही प्रयोग की प्रगति-निष्ठा से प्रभावित नहीं होगा; क्योंकि वास्तविक प्रगति और प्रगतिवाद में उतना ही अन्तर है जितना कि किसी भी कला की तीव्रानुभूति में और उसके ऊपर लादे हुए रूप और शिल्प के आडम्बर में। प्रयोग की प्रगति, कलाकार की अनुभूति की प्रगति से परिचालित होने के नाते सौन्दर्य-बोध के स्तरों में मानव-प्रज्ञा को सन्तुलित करने की क्षमता रखती है। यह सन्तुलन बाह्यारोपित न होकर आत्म-नियन्त्रित ही होगा, इसीलिए ऐसे मतवादी जो साहित्य की प्रगति को उपज और खपत के सैद्धान्तिक मानदण्डों से देखने की चेष्टा करते हैं वे निश्चय ही अन्यथा आरोप लगाकर किसी अन्य मन्तव्य को सिद्ध करने की इच्छा रखते हैं। प्रयोग में अन्तर्मन की संवेदनशीलता उपजेगी, उसमें ईमानदारी होगी और तभी वह ग्राह्य हो सकेगा। किसी भी साहित्य में किस सीमा तक गति देने की शक्ति है, किस सीमा पर जाकर वह मात्र नारे में बदल जाने के कारण अनूदित भावस्थिति है, इसका भी पता इस प्रयोग, प्रगति और परम्परा के स्पष्ट दृष्टिकोण से ही लगेगा। प्रयोग का आधार दृष्टि की नवीनता है (Navwision)। जिस भी कला-कृति में यह नवीनता नहीं है, अथवा जिसमें जूठन है, अथवा जो केवल उपदेशक की गाथा है, वह ललित साहित्य तो हो ही नहीं सकता, और चाहे जो हो।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्रयोग पूर्वग्रहों से अधिक अनुभूति और रागात्मक अनुभव में विश्वास करता है और कला में इस रागात्मकता की गहराई सिवा कलाकार के कोई दूसरा नहीं दे सकता; क्योंकि रागात्मक बोध में व्यक्तित्व की ऊँचाई ही दृष्टि प्रदान कर सकती है। उस अनुभव के क्षण को कोई भी उपदेशक, कलाकार के लिए नहीं अनुभव कर सकता इसलिए वह कोई भी बाह्य-आरोप लेकर उसकी अनुभूति को अच्छा या बुरा कहने का अधिकारी भी नहीं हो सकता। रागात्मक बोध व्यक्तिगत अनुभव होने के नाते परम्परा से भी उतना ही

Truth gains more even by errors of one who with due study and preparation thinks for himself than by the true opinions of those who only hold them because they do not suffer themselves to think.

—John Stuart Mill

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न हो सकता है जितना कि किसी भी पूर्वनिर्धारित मतवाद से। इसीलिए प्रयोग, उस आत्म-सत्य की प्रतिष्ठा का हेतु है वह स्वयं पूर्ति नहीं है। वह मात्र शिल्प-सज्जा भी नहीं है, वह देश-काल के वातावरण से उत्पन्न हुआ प्रयोग है। इसी कारण से यह कहना उचित होगा कि प्रयोग केवल चमत्कार की अनुभूति नहीं है, इसमें युग का ध्येय लक्षित हुआ है। इसमें देश-काल से सम्बन्धित जीवन की, व्यापक मानव-जीवन की ग्रहणशीलता का प्रयास मिलता है, क्योंकि :

जीवन है कुछ इतना विराट् इतना व्यापक
उसमें है सबके लिए जगह, सबका महत्त्व
ओ मेजों ! की कोरों पर माथा रख-रखकर रोने वाले
यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सबका है
....
हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दो

(ठण्डा लोहा : पृ० ६१)

: २ :

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगति अपनी वस्तुस्थिति में प्रयोग की सहज मनोवृत्ति है जो प्रयोग से अलग नहीं की जा सकती; लेकिन प्रगतिवाद प्रयोग की प्रतिक्रिया है, जो अनावश्यक ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति का परिचय देता है। जहाँ कहीं भी विचार-धारा में, मूल्यों में और मर्यादाओं में विकास होगा वहाँ प्रयोग[1] में वह विकासशील तत्त्व व्यक्त होगा। प्रयोग साहित्यिक अभिरुचि और विकास का मुख्य अंग है।

लेकिन तथा कथित प्रगतिवाद प्रयोग को असामाजिक घोषित करके उसको उद्देश्यहीन सिद्ध करना चाहता है। मूलतः ऊपर की व्याख्या के बाद वह स्वयं विरोधाभास का भागी बन जाता है; क्योंकि सत् साहित्य जहाँ प्रयोग के माध्यम को शक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अपनाता है वहीं वह उस भाव-स्तर को भी व्यक्त करना चाहता है जिसमें साहित्यिक दायित्व के साथ सामाजिक दायित्व भी निहित है। किन्तु प्रयोग के माध्यम से व्यक्त सामाजिक दायित्व में और तथाकथित प्रगतिवाद द्वारा व्यक्त सामाजिक दायित्व में एक महान् अन्तर है। वह यह कि प्रयोग में यह दायित्व कलाकार के व्यक्तित्व से उभरकर व्यक्त होता है जब कि प्रगति के माध्यम से वही सत्य खण्डित व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त होने के नाते स्थायी एवं ग्राह्य नहीं हो पाता। ऐसा होने का भी एक कारण है। प्रयोग में व्यापक मानव का विराट् रूप व्यक्त होता है, खण्डित सामाजिक सत्य नहीं; क्योंकि प्रयोग कला को प्रचार का यन्त्र नहीं मानता वरन् उसे वह व्यापक मानव की करुणा और पीड़ा को आत्मसात् करने का माध्यम मानता है। जब साहित्यिक स्तर पर सामाजिक दायित्व की बात आती है तो प्रयोग उस समस्त चेतना को केवल सीमित परिधि में बाँधकर रखने में अपने को असमर्थ पाता है। वह मानवात्मा की मूल समस्या को अंकित करने के साथ एक वर्ग-विशेष की बात नहीं कर

१. Style conists in adding to a given thought all the circumstances calculated to produce the whole effect that the thought ought to produce.

J. Middleton Murray.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाता। उसके लिए समस्त मानव-समाज ही अपना है। उसकी विराट् सम्भावनाओं के प्रति वह अपनी वैयक्तिक अनुभूति को किसी भी साम्प्रदायिक अनुभूति से अधिक स्पष्ट और ईमानदार पाता है क्योंकि वह व्यक्ति अनुभूति और बाह्य स्थिति के बीच सीधा और अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करके रचना करता है। सत्य को दूसरों की आँखों से देखना प्रगतिवाद की अपनी विशेषता है, उसके पास अपनी दृष्टि नहीं है इसीलिए उसके माध्यम से ऊँचे-ऊँचे नारे भले ही सुनने को मिलें, उसमें उसका व्यक्ति कहीं भी नहीं है। सम्प्रदायवाद का आधार मानव-व्यक्ति नहीं बनता बल्कि सामूहिक मतवाद उसका आधार सहज रूप में ही बन जाता है। यही कारण है कि कोई भी सामूहिक व्यवस्था कला और साहित्य के क्षेत्र में, समस्त जीवन के उपकरणों में अन्वेषण और आत्मसात् को प्रश्रय देने में असमर्थ रहती है; क्योंकि "मानव की समूह-चेतना" की यह व्यवस्था केवल निर्धारित वस्तुस्थिति को नियन्त्रित रूप में देखने के लिए बाध्य करती है, केवल उतनी ही सीमा तक ज्ञान-वृद्धि की सीमा मानती है जहाँ तक जाना जा चुका है अथवा जो सामूहिक व्यवस्था में साम्प्रदायिक मतवाद जानने की आज्ञा देता है। इसके विपरीत आत्मविश्वासी कलाकार जानी हुई संचित थाती को साभार ग्रहण करते हुए उसके आगे बढ़ने की चेष्टा में प्रयोगशील होना पसन्द करता है। वह नये खतरे पैदा करता है, पुरानी धारणाएँ तोड़ता है, नई धारणाएँ बनाता है; क्योंकि वह सजग है, सचेत है और जीवन्त रुचियों से ओत-प्रोत है।[1]

अस्तु, प्रगतिवाद और प्रयोग में संघर्ष है 'सामूहिक मानव' और 'व्यक्ति मानव' का। 'संख्यावादी मतवाद' का और 'सगुण सचेत मानव-प्रतिमा' का। जो व्यापक मानवता की अपेक्षा समूह में विश्वास करता है वह यथार्थ को आत्मसात् नहीं कर सकता है। इसीलिए समूहवादी चेतना मानवीय व्यापकता को अपना ही नहीं सकती और 'समूह' अधिनायकवाद, फासिस्टवाद को विकसित करता है, स्वतन्त्र सचेत मानववाद को व्यापक आस्था स्पष्ट करती है। 'समूह' व्यापकता में विश्वास ही नहीं कर सकता और जो व्यापकता में विश्वास रखता है वह निश्चय ही समूह की बँधी हुई सीमा से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। तथाकथित प्रगतिवाद समूह की संकीर्णता के साथ सम्बद्ध है जिसमें न तो व्यक्ति का महत्त्व है, न व्यापकता का। इसके विपरीत आज की नई कविता अथवा नया प्रयोग व्यापक मानवता के प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में विश्वास रखता है—उसकी संवेदना की कोई सीमित परिधि नहीं है। वह उसे व्यापक मनुष्य-परम्परा से ग्रहण करता है और व्यापक मानव सम्भावनाओं को प्रतिक्षण सौंपता चलता है। प्रगतिवाद समूह की प्रशासित ध्वनि होने के नाते आत्महीन, विवेक-रहित समूह-सत्ता की स्वीकृति है। प्रयोग इस प्रकार की मान्यता के विरोध में ही जन्म ले सकता है। किन्तु वह व्यापकता के प्रति आस्थावान है; क्योंकि उस व्यापकता में ही वह अपनी और व्यक्ति की मर्यादा की रक्षा कर सकता है, अपने स्वातन्त्र्य को अर्थ दे सकता है।

१. इसी बात को टामस मैन ने एक स्थान पर बड़े सुन्दर ढंग से कहा है: "My writings are full of all vices abhored by communism such as formalism, psychologism, Scepticism a weakness for truth. For, love of truth is a weakness according to any absolutist partisan......I have not much faith nor much faith in faith. I put more faith in goodness which can exist without faith and may indeed be the product of doubt."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

दि ३७आ

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज जिस मोड़ पर साहित्यिक विचारों की अन्तर्दृष्टि पहुँचती है वह यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देती है कि किसी भी कथित स्वप्न (Utopiam dream) के लिए आज मनुष्य घुट-घुटकर मर जाय, यह संगत नहीं है। मार्क्सवाद की परिणति इधर जिस रूप में तथाकथित प्रगतिवाद में व्यक्त हो रही है उसमें एक नया स्वर फूटता दीख रहा है और वह यह कि आज की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को समूह को समर्पित कर दो, कल व्यापक निष्ठा की रचना के लिए यह आवश्यक है। यहीं वह सन्देह होता है कि जिसका संकेत पिछले तीस वर्ष के इतिहास में मिलता है। यही तर्क फ़ासिस्टों का भी था। यही तर्क कम्युनिज्म का भी है। व्यापक दृष्टिकोण 'समूह' की संकीर्णता से पनपेगा यह केवल भ्रम है और इसीलिए यह नरमेध यज्ञ वांछनीय नहीं प्रतीत होता।

प्रगति का वास्तविक अर्थ मानव की विकासशील प्रवृत्ति में निहित है। इसीलिए प्रगति की वास्तविक मर्यादा मनुष्य की 'आन्तरिक' मर्यादा है।[1] यह 'आन्तरिक' मर्यादा बाह्यारोपित मतवाद के आधार पर नहीं विकसित हो सकती। उसके लिए कला की मूल आस्था के प्रति विश्वास विकसित करना पड़ेगा। किसी भी पैम्फलेट में और किसी भी साहित्यिक कृति में जहाँ और अन्तर हैं वहाँ उन दोनों की विकास-प्रक्रिया में भी एक मौलिक भेद है। व्यक्ति की, समाज की, मानवता की मर्यादा के अतिरिक्त एक कला की स्वतःविकसित मर्यादा भी है जो साहित्य और उपदेश में, प्रगति और प्रयोग में, रूढ़ि और परम्परा में एक नियन्त्रित विवेक पैदा करती है। कलाकार की रचनानुभूति और उसकी आत्मग्राह्यता ही किसी भी कृति को केवल प्लेटिट्यूड की सीमा तक लाकर छोड़ सकती अथवा उसे व्यापक रूप दे सकती है। प्रगतिवाद इस रचनानुभूति में विश्वास नहीं करता, प्रयोग इस रचनानुभूति की ईमानदारी में विश्वास करके चलता है। प्रयोग की आधारभूत भावना रचनानुभूति की प्रेरणा में प्रश्रय पाने के कारण कला को सजीव और नवीन शक्ति प्रदान करने में समर्थ होती है इसीलिए वह वाद से मुक्त है, प्रयोग करते हुए भी वह प्रयोग के तथाकथित वाद से भी मुक्त है; क्योंकि उसका वास्तविक सत्य आत्म-सत्य है जो हर वाद-विवाद से ऊँचा है।

प्रगतिवाद आत्म-सत्य को स्वीकार नहीं करता वह बाह्य सत्य को ही सर्वस्व मानता है किन्तु जैसा कि स्पष्ट है कोई भी बाह्य सत्य निरपेक्ष हो ही नहीं सकता इसलिए प्रगतिवाद की मूल धारणा को कला कृति की अपेक्षा बाह्य दर्शन, सम्प्रदायवाद एवं नारों का माध्यम स्वीकार करना पड़ता है। प्रगतिवाद जिस बाह्य सत्य अथवा वस्तु-सत्य की चर्चा करता है वास्तव में वह असम्भव है; क्योंकि प्रत्येक बाह्य सत्य व्यक्ति से रागात्मक सम्बन्ध रखे बिना प्रभावित ही नहीं कर सकता, रचना की प्रेरणा दे ही नहीं सकता। जो लोग इस सम्बन्ध की वास्तविकता नहीं

---

१. 'साहित्य की नई मर्यादा'—डा० धर्मवीर भारती, आलोचना ११।

१. "निरे तथ्य और सत्य में, यह कह लीजिये वस्तु-सत्य और व्यक्ति-सत्य में यह भेद है कि सत्य वह तथ्य है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है। बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो तद्वत् काव्य में स्थान नहीं पा सकती। लेकिन जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है। —अज्ञेय : 'तार सप्तक'-२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझ पाते, उसकी अनिवार्यता नहीं मानते, वे साहित्य के मर्म को भी नहीं समझ पाते। वे तो और भी नहीं समझ सकते जो इन रागात्मक सम्बन्धों के परिवर्तन में विश्वास नहीं रखते; क्योंकि वे स्वयं विकास नहीं कर पाते, देश-काल की सीमाओं को समझ नहीं पाते। इस दृष्टि से प्रयोग इसीलिए बाह्य सत्य और व्यक्ति-चेतना के एकाकार होने की प्रक्रिया है, जो सत्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को एक सापेक्ष मूल्य प्रदान करती है। यही कारण है कि प्रयोग केवल उस रागात्मक सम्बन्ध को अभिव्यक्ति देने का साधन है, लक्ष्य नहीं।

प्रगतिवाद और प्रयोग के विषय में एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है; वह यह कि प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक मतवाद का लक्ष्यपूर्ण आन्दोलन है जिसका सम्बन्ध साहित्यिक मानदण्ड से निर्धारित नहीं होता वरन् राजनीतिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं द्वारा संचालित होता है। उनका सामाजिक दायित्व भी उन्हीं राजनीतिक मन्तव्यों से प्रकाशित होता रहता है और इसीलिए उसके विधान का बहुत बड़ा अंश साहित्यकारों द्वारा निर्धारित न होकर दलगत राजनीतिक व्यक्तियों द्वारा संचालित होता है। जीवन का यथार्थ अंकन भी इसीलिए अनेक दाँव-पेच के साथ साहित्य में व्यक्त किया जाता है। उसका अधिकांश उस बाह्य सत्ता के मार्ग-प्रदर्शन का फल है जो साहित्यिक रुचि से अनभिज्ञ और अपरिचित है। इसका उचित प्रदर्शन हमें स्वयं प्रगतिवाद के विभिन्न मतों द्वारा समय-समय पर होता रहा है। इस संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण ही प्रगतिवाद आज के व्यापक यथार्थ को वहन करने में असमर्थ है।

प्रयोग या नई काव्य-प्रवृत्ति आज के जीवन के यथार्थ को स्वीकार करती है और यही एक अनिवार्यता है जो इसे आज के यथार्थ को चित्रित करने की शक्ति देती है। क्लासिक या रोमाण्टिक भाव-धारा इसे नहीं वहन कर सकती, क्योंकि उसके शिल्प-विधान और व्यवधान में कसे हुए घेरे में आज का यथार्थ आ नहीं पाता। आज की जीवन-अनुभूति की व्यापकता और उसका आत्म-सत्य न तो क्लासिक विधान की रूढ़ियों में व्यक्त हो सकते हैं और न रोमाण्टिक कोमलता पर ठहर सकते हैं, वह न तो छायावाद की कोमल पदावली के अनुकूल है और न ही वह 'भारत भारती' की शैली में लिखी जा सकती है। इसलिए प्रयोग आज का फैशन नहीं है, वह वर्तमान जीवन की अनिवार्यता है। जो इस अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता वह कला-सृजन की मूलभूत वैज्ञानिक क्षमता को भी स्वीकार नहीं करता और न आधुनिक मानव-संवेदना को स्वीकृति दे पाता है।

: ४ :

यह तो हुई प्रगति और प्रयोग की बात। इसीसे सम्बन्धित प्रयोग और परम्परा का भी विषय है जिसको लेकर मनमाने ढंग के राग अलापे जाते हैं। प्रयोग की हेयता को सिद्ध करने के लिए जैसे प्रगतिवाद प्रगति की दुहाई देता है वैसे ही प्रयोग को असफल सिद्ध करने के लिए रूढ़िवादी परम्परा की दुहाई देता है और यह भूल जाता है कि प्रयोग की प्रेरणा परम्परा में ही निहित रहती है[1] यदि कोई परम्परा विकास की अपेक्षा स्थिरता, प्रयोगहीनता

१. No poet, no artist has his complete meaning alone. His significance, his appreciation is the appreciation of his relations to the dead poets and

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्रश्रय देती है तो वह परम्परा तो नहीं ही हो सकती और चाहे जो हो। वस्तुतः प्रयोग प्रगतिनिष्ठ होने के नाते परम्परा के सशक्त स्वरों को स्वीकार करके नई सम्भावनाएँ अंकित करता है। प्रत्येक प्रयोग कालान्तर में परम्परा बन जाता है इसलिए जिस परम्परा में आगे प्रयोग; करने की प्रेरणा निहित नहीं होती वह उतनी ही निरर्थक होती है जितना कि वह प्रयोग जो नई परम्पराएँ स्थापित करने में असमर्थ होता है। प्रयोग और परम्परा में यहीं अनिवार्य सम्बन्ध है। आज का प्रयोग आने वाले युग की परम्परा निर्धारित करेगा; ऐसी परम्परा, जिसमें ठहराव नहीं होगा, गति होगी और जिसकी गतिशीलता ही नये प्रयोगों को प्रेरणा देगी।

परम्परा और रीति की रूढ़ि भी प्रयोग के विरोध में प्रस्तुत की जाती है और बहुधा रीतिवादी प्रवृत्ति को परम्परा का नाम देकर गाया जाता है। प्रयोग अथवा नई काव्य-प्रवृत्ति इस रीतिवादी परम्परा को स्वीकार करने में असमर्थ है। काव्य किसी निश्चित फार्मूले द्वारा नहीं लिखा जाता। काव्यानुभूति में विविधता का एक महत्त्व है, सत्य को अनेक दृष्टियों से देखने की अन्तर्भावना है। यह अन्तर्भावना व्यक्तिगत विवेक द्वारा ही विकसित होती है। जैसे प्रगतिवाद बाह्यारोपित मतवाद के माध्यम से काव्य-गुण को निर्देशित नहीं कर सकता वैसे ही रीतिवादी परम्परा कलाकार की सृजन-शक्ति को किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों में नहीं बाँध सकती। जब तक काव्य का सम्बन्ध जीवन और उसकी व्यापकता से रहेगा तब तक काव्य-प्रतिभा इन सीमाओं तक नहीं रह सकती; वह पुरानी सीमाएँ तोड़ेगी, नई बनायगी, नई से भी आगे नई सम्भावनाओं की ओर विकसित होगी, क्योंकि मानव-प्रजा सतत नई अनुभूतियों से अनुप्राणित होती रहती है। जीवन का प्रत्येक क्षण उसे नई अनुभूति देता है, नई प्रेरणा-शक्ति देता है, नया स्वर, नये लय और नये प्रतिबिम्ब, प्रतीक, शब्द और रचना-शक्ति का ओज उसमें विकसित होता रहता है इसलिए प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार इस परम्परा की रूढ़िवादी व्यजंना को कभी ग्रहण ही नहीं कर सकता। वह सदैव नये जीवन-सत्यों की विकसित प्रवृत्ति की ओर उत्सुक होगा।

तथाकथित परम्परावादी बहुधा प्रयोग पर यह भी आरोप लगाते हैं कि आधुनिक प्रयोग में कोई दार्शनिक तत्त्व नहीं है। एक सीमा तक यह आरोप निरर्थक है और कुछ सीमा तक यह सही है। गलत इसलिए है क्योंकि काव्य का गुण है कुछ संचित भावों को प्रधान रूप में उसके भावलय के साथ व्यक्त करना। तुलसीदास या सूरदास की कविता पहले काव्य है, बाद में वह उनके जीवन-दर्शन का माध्यम। प्रत्येक काव्य-कृति का मुख्यतः काव्य होना चाहिए और यदि वह मुख्यतः काव्य है तो उसमें निश्चय ही कवि का सौन्दर्य-बोध, उसका दृष्टिकोण, उसका व्यक्तिगत जीवन-दर्शन भी उसमें होगा ही। आज का यथार्थ किसी यूटोपिया की अपेक्षा नहीं रखता। उसे विशिष्ट मतवादी दार्शनिक प्रचार की भी आवश्यकता नहीं है। यदि आज का कवि अनास्थावादी है और वह अपनी अनास्था को भी सबल ढंग से व्यक्त करता है तो वह भी दार्शनिक हो सकता है। लेकिन उसका दार्शनिक होना भी काव्यगत प्रक्रिया के बाहर की वस्तु नहीं है। दर्शन और काव्य में मौलिक अन्तर है। दर्शन वस्तुतः वस्तुपरक व्याख्या का निष्कर्ष है। कविता आत्मपरक अनुभूति को रागात्मक अभिव्यञ्जना है। जो काव्य-रचना

---

artists......that the poet should be altered by the present as much as the present is directed by the past.

T. S. Eliot : Sacred Wood.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्यात्मक होगी उसका काव्य-गुण नष्ट हो जायगा। जिसमें आत्मपरक अनुभूति होगी वह प्रभावपूर्ण कला बन जायगी। दर्शन को काव्य में प्रतिपादित करने के लिए प्रयास करना निरर्थक है। जितना दर्शन कवि के व्यक्तित्व से छनकर उसकी कृति में आता है, काव्य में उतना ही ग्राह्य है। यदि ऐसा नहीं होगा तो एक कविता (Mannerism) "रीति के चंगुल में मर जायगी। न तो उसमें प्रेषणीयता होगी, न काव्य-विशेषता। वह केवल त्रिद्रूप रचना बनकर रह जायगी।

फिर भी प्रश्न यह उठ सकता है परम्परा की ग्राह्यता का मानदण्ड क्या है ? वस्तुतः परम्परा की ग्राह्यता का मानदण्ड-मात्र यह है कि वह प्रगति में बाधक न बने, उसकी सहज विकासशील प्रवृत्ति को उत्तरोत्तर विकसित होने दे। परम्परा का उतना ही अंश महत्त्वपूर्ण है जो हमें संस्कार देता है और वह संस्कार भी ऐसा, जिसमें उदारता हो; जो समूचे व्यक्तित्व में उदात्त चेतना समाहित करने के साथ आत्मपरक पृथक्त्व को बनाये रहे। बहुधा लोग आज के समूचे साहित्य की नई प्रवृत्ति को यह कहकर तिरस्कृत करने की चेष्टा करते हैं कि उसमें पन्त, प्रसाद, प्रेमचन्द[1] की परम्परा का निर्वाह नहीं है। समझ में नहीं आता कि इन आचार्यों का मन्तव्य क्या है ? पंत, प्रसाद, प्रेमचन्द ने भी रूढ़ियों को तोड़ा था और तब सहसा एक नई प्रवृत्ति को वह विकसित कर सके थे। यदि ऐसा न होता तो पन्त, प्रसाद, महादेवी केवल 'भारत-भारती' का नवीन संस्करण लिखते, प्रेमचन्द 'चन्द्रकान्ता संतति' की बाईसवीं पीढ़ी की गाथा लिखते और देवकीनन्दन खत्री की निर्जीव परम्परा के सिरहाने बैठकर फातिहा पढ़ते होते। फिर जब प्रेमचन्द या पन्त, निराला, प्रसाद, महादेवी ने अपने पूर्व की परम्परा को छोड़कर नया मार्ग अपनाया तो वह मात्र इसलिए कि उस परम्परा में उस देश-काल के यथार्थ को वहन करने की क्षमता नहीं थी। ऐसी स्थिति में यदि आज का लेखक या कवि कलाकार आज के यथार्थ के अनुकूल नये प्रयोग करता है, नई व्यंजना देता है तो कहाँ परम्परा को तोड़ता है या उसे सशक्त नहीं बनाता है !···

: ५ :

आज की नई कविता इन दृष्टियों से कई प्रकार की स्थितियों से गुजर रही है। परम्परा का उचित दायित्व जिस प्रकार नई कविता ने स्वीकार किया है उससे कुछ लोगों को अनावश्यक उत्तेजना मिली है और वह इसको ह्रासोन्मुख भी घोषित करना अपना कर्तव्य समझते हैं। दूसरे वर्ग के लोग आचार्यों के मतों और नई कविता के उद्धरणों में साम्य स्थापित करना चाहते हैं, तीसरा वर्ग उनका है जो आज का यथार्थ जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करने में आज की कविता में दृष्टि का अभाव पाते हैं।[2] पता नहीं ऐसे लोग नई कविता के प्रयोगों को किस प्रकार देखते हैं। दृष्टि से प्रधान कविता दृष्टि की सार्थकता इसी सीमा तक स्वीकार कर सकती है कि स्वतः कविता का भावस्तर उसे दृष्टि प्रदान करे। कुछ शाश्वत साहित्य के समर्थक आधुनिक प्रयोगों में शाश्वतता की कमी पाते हैं किन्तु इस दिशा में हमें इतना ही कहना

१. 'परिमल' द्वारा आयोजित गोष्ठी में नन्ददुलारे वाजपेयी का उद्घाटन-भाषण।
२. "साम्प्रतिक प्रयोगवाद की तीन मुख्य कमियाँ हैं, कविगण नई दृष्टि द्वारा नूतनता उत्पन्न न कर सिर्फ शब्दों और अलंकारों द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं।"
(नयी कविता, संख्या २ : पृष्ठ ८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि :

हमें किसी अजरता का मोह नहीं
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् कर लें
उसकी विविक्त अद्वितीयता
आपको किमपि को, क, ख, ग को
अपनी-सी पहचनवा सके
रसमय करके दिखा सके
शाश्वत हमारे लिए वही है
अजर अमर है
वेदितव्य अक्षर है
....
....

एक क्षण : क्षण में प्रवाहमान
व्याप्त सम्पूर्णता।
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो
पिया था अगस्त्य ने[1]

अर्थात् वे आलोचक जो नयी कविता के प्रयोग को आज के यथार्थ, अनुभूति-क्षण की मार्मिक संवेदना से मुक्त करके देखते हैं वे उस शाश्वत परम्परा की दुहाई देते हैं जिसमें उनकी समस्त रूढ़िवादी मनःस्थितियाँ प्रश्रय पाती हैं। वे यह नहीं समझते कि शाश्वत यह क्षण भी हो सकता है, यह अनुभूति भी हो सकती है जिसे हम उस समय उस क्षण से सम्बद्ध होकर भोगते हैं।

नई कविता का प्रयोग अनास्था से नहीं व्यक्त हुआ है। जो लोग यह समझते हैं कि आज के कवि के व्यक्तित्व में कमी है या अभाव है या इसमें अनुकरण या पारस्परिक होड़ है, उनकी धारणा मिथ्या है। यह कहना भी उतना ही गलत है कि प्रथम सप्तक के प्रयोगों के बाद नई कविता ने कोई प्रगति नहीं की है। वस्तुतः प्रथम सप्तक के प्रायः सभी कवि संशय, द्विविधा और अनास्था मत के कवि हैं। अज्ञेय को छोड़कर प्रथम सप्तक में आज की भाँति स्पष्ट कवि शायद ही दूसरा हो। प्रभाकर माचवे की यह कविता देखिए :

लक्ष्यहीन सन्दिग्धता का स्वर :

"मुझे कौन दे संजीवन ? दिल का प्याला कब से खाली है
शून्य दिशायें, आंधी-लक्षण, मैं हूँ, यह चा की प्याली है[2]
....

आतंक एवं भयग्रस्त व्यक्तित्व का रूप :

जबकि अन्दर खोखलापन कीट सा
है सतत घर कर रहा आराम से,

१. अज्ञेय : नयी कविता-२।
२. माचवे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यों न जीवन का बृहत् अश्वत्थ यह
डर चले तूफ़ान के ही नाम से[1]

× × ×

परम्परा को तोड़ने के पूर्व ही नये पथ के प्रति अविश्वास :

कौन सा पथ है ?
मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही यों पुकारा
....

अन्तरात्मा अनिश्चय संशय ग्रसित
क्रान्तिगति अनुसरण योग्य है न पद-सामर्थ्य
कौन सा पथ है...[2]

× × ×

पराजित मनोभावनाओं से आक्रान्त काव्य-प्रतिभा किसी कोष्ठ में बन्द होकर कहती है :

मार्ग दर्शक बोल दो
हो रही हैं पुतलियाँ धुँधली अनवरत चेष्टा से
देखने की
जो कि मानो व्यंग्य से
उपहास से
निर्मम
सरकता जा रहा है[3]

× × ×

उपर्युक्त पंक्तियाँ उस समय के प्रगतिवादी कवियों की हैं जिनमें अविश्वास, पथ की अस्पष्टता आदि का बड़ा ही सफल और स्वाभाविक मिश्रण है। यह अविश्वास उस समय के प्रगतिवादी जीवन का एक अंश था। जो लोग यह कहते हैं कि प्रगतिवाद या प्रथम सप्तक के कवियों में जीवन-दृष्टि और व्यापकता अधिक थी वे शायद इन कवियों की मार्मिक संवेदना को समझने में असमर्थ रहे हैं। इसके विपरीत दूसरे सप्तक के कवियों में यह संशय, यह संक्रमण और यह अविश्वास इस मात्रा में नहीं मिलेगा :

इस पुरानी जिन्दगी की जेल में
जन्म लेता है नया मन
....

जल रहीं प्राचीनताएँ बाँध छाती पर मरण का एक क्षण
इस अंधेरे की पुरानी ओढ़नी को ओढ़कर
आ रही ऊपर नये युग की किरण[4]

---

१. मुक्तिबोध।
२. भारत भूषण अग्रवाल।
३. नेमिचन्द्र जैन।
४. हरिनारायण व्यास।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैं, तुम, यह, वह
मन के चारों कोने
और व्यक्ति की यह सीमाएँ
कब टूटेंगी...?
जब तुम होगी मुझसे दूर
यह भी अपना
वह भी अपना
होगा
मैं अपने वश में होऊँगा
तब तथास्तु[1]

× × ×

प्रलय से निराशा तुझे हो गई....
इसी ध्वंस से मूर्छिता हो कहीं
पड़ी हो नयी जिन्दगी, क्या पता ?
सृजन की थकन भूल जा देवता !
क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी
अभी मेरी आखिरी आवाज बाकी है
लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ
नया इतिहास देती हूँ ।
कौन कहता है कि कविता मर गई ।[2]

जैसा कि स्पष्ट है दूसरे सप्तक के कवियों में निश्चय ही प्रथम सप्तक के कवियों से अधिक आत्मविश्वास, आस्था और आशा है । ये कवि प्रथम सप्तक के कवियों की भाँति पथ के संशय में डूबे नहीं हैं; उन्होंने अपना पथ बना लिया है । ये यदि चाहेंगे तो उस नये पथ का संगठन अवश्य होगा । जहाँ प्रथम सप्तक के कवियों की भाषा, भाव-भूमि उनके विकास के प्रति आस्था विकसित कर रही है वहीं प्रथम सप्तक के कवियों में वह सन्देह से विकसित होकर छायावादी परम्परा, जो रीति बनकर रूढ़ि बन रही रही थी, उसके प्रति विद्रोह भी था । प्रथम सप्तक के कवियों में यह सन्देह और भ्रम होना स्वाभाविक था, क्योंकि जब कभी भी किसी प्रतिष्ठित परम्परा के प्रति विद्रोह का कदम उठाया जाता है तो उसके प्रवर्तकों में सन्देह ही वह वस्तु होती है जो परम्परा की रूढ़िगत रीति वाली प्रवृत्ति के विरोध में खड़े होने का साहस प्रदान करती है, प्रयोग की दृष्टि से प्रथम सप्तक का महत्त्व है, उसकी सहानुभूति-परक वेदना जो नये यथार्थ के प्रति है, लेकिन उसमें वह दोष भी है जो किसी भी नई प्रवृत्ति के प्रेरकों में होता है । छायावाद की मिथ्या उदात्त भावना को पहले सप्तक ने मध्यम वर्ग के जीवन से सम्बद्ध करके उस नये यथार्थ को स्वीकृति देने का प्रयास किया है जो आज की नई कविता में अधिक आयामों के साथ विकसित हो रहा है ।

१. रघुवीर सहाय ।
२. धर्मवीर भारती ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन परम्परा की मूल स्थापना में कोई दोष नहीं होता। जब वह रूढ़ि बन जाती है, तभी उसमें दोष होता है। प्रगति की मूल मानव-भावना से प्रेरित होकर जब इस रूढ़िवादी परम्परा के समर्थक प्रयोग होते हैं तब उसकी प्रतिक्रिया में तथाकथित प्रगतिवाद भी अपना स्वर बेढंगे तरीके से मिलाने लगता है। अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' एक सशक्त चिरन्तन सत्य की सापेक्षता को स्वीकार करती हुई व्यक्ति-मानव की अहंनिष्ठा को प्रतिष्ठित करती है। उसके स्वर में परिवर्तन के प्रवाह में लीन होकर उसे स्वीकार करके फिर उस व्यक्ति-निष्ठा को नये ढंग से विकसित करने की बात 'नदी के द्वीप' के माध्यम से कही गई है। लेकिन भारतभूषण अग्रवाल की कविता 'हम नहीं हैं नदी के द्वीप' कविता महज प्रति-क्रियात्मक भावना के कारण काव्य-बोध की अपेक्षा आवेश में बदल गई है। जहाँ अज्ञेय व्यक्ति-निष्ठा को इतना व्यापक अर्थ देते हैं कि :

द्वीप हैं हम
यह नहीं है शाप
यह अपनी नियति है
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में
वह बृहद् भूखंड से हमको मिलाती है
और वह भूखंड अपना पिता है
....
तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे
यह स्रोतस्विनी हो कर्मनाशा कीर्तिनाशा
घोर काल प्रवहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर फिर छनेंगे हम।
जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना—[1]

यह नया प्रयोग है। व्यक्ति की मूल मर्यादा के प्रति कवि की सहज और स्वाभाविक आस्था है। इसमें कुण्ठा नहीं है। वेग, प्रवाह, स्रोतस्विनी के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए भी व्यक्ति-मर्यादा और उसके अस्तित्व के प्रति विश्वासपूर्ण स्वर है। परम्परा, प्रगति और प्रयोग की तीनों स्थितियाँ इसमें स्पष्ट हैं लेकिन इसी की प्रतिक्रिया भारतभूषण अग्रवाल की कविता में इसप्रकार व्यक्त होती है।

हम सरोवर हैं
नहीं है धार
अब नहीं हममें तरंगित गान
और बन्धन की व्यथा में खो गया अभिमान
विवश हम अब बह नहीं सकते
और अपनी और अपने आपमें ही बन्द

१. अज्ञेय : 'नदी के द्वीप'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी बात आपस में किसी से कह नहीं सकते
... ...
तुम अगर हो द्वीप
रूखी रेत के बेडौल टीले
तो भले ही तुम रहो ऊँचे महान
पर यह न सोचो,
धार की हर लहर जो आती हमारे पास
ठोकती है हमारी पीठ......[1]

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

जो भी काव्य-कृति मात्र-प्रतिक्रिया में लिखी जायगी उसमें यह दोष रहेगा ही। न तो वह परम्परा के औचित्य को निभा सकती है और न ही उसमें प्रगति के तत्त्व आ सकते हैं और जब इन दोनों के प्रति उचित दृष्टिकोण भी नहीं विकसित हो सकेगा तो प्रयोग की स्वच्छता भी उस रचना में नहीं रहेगी। यदि यह कहा जाय कि नदी के द्वीप की रेत स्वच्छ, पवित्र रेत का विकसित रूप है और सरोवर नदी के छोड़े हुए जल की सड़ाँध है तो द्वीप और सरोवर की स्वाभाविक और प्रतिक्रियावादिता की परख स्पष्ट हो जायगी। आज का प्रगतिवाद न तो परम्परा के दायित्व को ही निभा सकता है और न प्रयोग के, क्योंकि वह मात्र-प्रतिक्रिया से विकसित होकर कुण्ठाओं में डूब जाता है।

किसी अन्य स्थान पर पहले सप्तक के एक प्रतिष्टित कवि ने नई कविता की आलोचना करते हुए यह लिखा है कि उसमें पहले सप्तक के बाद कोई विकास नहीं हो सकता है। पता नहीं यह बात कैसे कही गई है, क्योंकि पहले सप्तक के बाद दूसरे सप्तक में बात अधिक स्पष्ट-रूप से कही गई है और दूसरे सप्तक से भी अधिक स्पष्ट स्वरों में नई कविता में व्यक्त हुई है। प्रयोग में जीवन का कटु सत्य भी अंकित होता है उससे मुँह बिचकाकर छुट्टी नहीं ली जा सकती। शायद आज का नया कवि अधिक तीखे स्वर में स्पष्ट बातें करता है। शायद इतना स्पष्ट स्वर किसी का नहीं रहा है :

कहने को बहुत कुछ है
कहते नहीं बनता
वाणी की तपस्या
दर्द की ताड़का से हार गई
(राम। ईश्वर, अजन्मा हे राम)
लगता है कहीं कोई ठौर नहीं
आज मनुष्य
गर्भ से धक्के देकर निकाला हुआ
ऋषि पुत्र।[2]

इसी प्रकार उस प्रचारवादी प्रगतिवाद की अपेक्षा मूल मानव-भावना के प्रति आज के कवि की आस्था अधिक तीव्र है। इस समूहवादी जीवन में विकल मानव-जीवन का दुःख,

१. भारत भूषण : हम नहीं हैं द्वीप।
२. राजेन्द्र किशोर : नयी कविता-२।

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी विषमता इससे अधिक स्पष्ट स्वरों में न तो पहले सप्तक में कहीं है और न ही इसकी आशा छायावादी कवि से की जाती है। आज की नई कविता जहाँ परम्परा की रूढ़ियों के प्रति अपना यह विश्वास रखती है :

ओ महा प्रलय के बाद नये उगे शिखरो,
है तुम्हें कसम इन ध्वस्त विन्ध्य मालाओं की
मत शीश झुकाना तुम अपना।
आ सूर्य तुम्हारा तेजस्वी यह भाल देख
कितने अगस्त्य आयँगे गुरु का वेश धरे,
आशीष वचन कहने वाले
चिर विनत तुम्हारा मस्तक यों ही झुका छोड़
ये गुरुवर वापस नहीं लौटकर आयेंगे।[1]

वही उसकी नई जिज्ञासा तथाकथित प्रगतिवाद के बीच घुटती मानवता के प्रति अधिक सजग है। उसे प्रचार से अधिक साहित्य प्रिय है, मतवाद से अधिक मनुष्य में विश्वास है, समूह-मानव के व्यंग्यात्मक अस्तित्व से अधिक साधारण मनुष्यप्रिय है। वह स्वर स्पष्ट रूप में कहता है :

पोस्टर विशालकाय पोस्टर
लोग उन्हें देखकर हँसते हैं
मुँह बनाते हैं, सीटियाँ बजाते हैं
उदास हो जाते हैं
....
और मैं उनके सामने
नन्हा सा दबा खड़ा हूँ
बेजाना बे पहचाना
इस प्रतीक्षा में कि शायद
कभी कोई भूली हुई दृष्टि
मुझ पर टिक जाय,
शायद कोई मुझे आवाज दे
....
लेकिन मैं देखता हूँ
कि आज के ज़माने में
आदमी से ज्यादा लोग
पोस्टरों को पहचानते हैं
वे आदमी से बड़े सत्य हैं[2]

नई कविता के प्रयोग का यही महत्त्व है कि उसमें किसी भी मतवाद की अपेक्षा किसी

१. विजयदेव नारायण साही : युग चेतना।
२. सर्वेश्वर : नयी कविता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी रूढ़िग्रस्त परम्परा की अपेक्षा व्यापक मनुष्यत्व में विश्वास किया है। उसने परम्परा से शील लिया है और उस शीलवान उत्तराधिकारी की भाँति वह सब ग्रहण किया है जो उसे उचित रूप में उत्तराधिकारी होने के नाते मिला है। जो त्याज्य था उसका उसने परित्याग किया है, इसीलिए उसकी आस्था में प्रगति है और प्रयोग वह उस नये मार्ग को प्रशस्त करने के लिए कर रहा है जिसमें देश-काल की मर्यादा के साथ नया यथार्थ उसको सन्देश देता है। परम्परा का सहज अधिकारी आज का प्रयोग है, जो प्रगति का विश्वास रखते हुए किसी भी मतवाद की संकीर्णता को बिना स्वीकार किये आगे बढ़ने में संलग्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रजविलास श्रीवास्तव

हिन्दी-उपन्यास में नये प्रयोग

साहित्य में प्रयोग शब्द का व्यवहार सामान्यतया परम्परा के विरोध के अर्थ में किया जाता है। अंग्रेजी में कुछ आलोचकों द्वारा आधुनिक अंग्रेजी साहित्य—विशेष रूप से उपन्यास और कविता का—प्रयोगवादी (experimentalist) और परम्परावादी (Traditionalist) इन दो वर्गों में बाँटा जाना इसी अर्थ की ओर संकेत करता है। इसी दृष्टि से जेम्स ज्वायस, डारोथी, रिचर्डसन और वर्जिनिया वुल्फ के उपन्यासों को प्रयोगवादी वर्ग में रखा जाता है। इन लेखकों ने अपने युग के नये यथार्थ को मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक आधार पर अभिव्यक्त करने के लिए पिछले उपन्यासों द्वारा स्थापित परम्परागत मानों, मूल्यों और रूप-शिल्प को अनुपयुक्त और युग-सत्य की अभिव्यक्ति में बाधक घोषित किया। वर्जिनिया वुल्फ के शब्दों में 'इस समय कथा-साहित्य का जो रूप प्रचलित है उसमें अपेक्षित वस्तु पकड़ में न आकर प्रायः छूट जाती है; चाहे हम उसे जीवन कहें या आत्मा, सत्य कहें या वास्तविकता, उसे हम जिस ढाँचे में रखना चाहते हैं वह अनुपयुक्त होने के कारण उसे व्यक्त नहीं कर पाता।' जीवन के गहन यथार्थ को चित्रित करने के लिए उपन्यास के प्रचलित रूप-विधान के स्थान पर नये रूप-विधान की आवश्यकता महसूस की गई। और इसके लिए उपन्यास-कला ने लेखक की कल्पना में मूर्त होकर अपने एकाधिकार और यौवन की पुनः प्राप्ति के लिए उपन्यासकारों को इस बात की पूरी छूट दे दी कि वे जैसे चाहें उसके अंगों को तोड़-मोड़कर उसे नया रूप दे सकते हैं।[1] परिणामस्वरूप उपन्यास-कला को नया रूप और नई शक्ति देने के लिए इन उपन्यासकारों ने अनेक प्रयोग किये; यह अलग प्रश्न है कि उनमें से कितने प्रयोग सफल हुए। अंग्रेजी के इन प्रयोगवादी कहे जाने वाले उपन्यासकारों ने अपने युग की वास्तविकता को किस सीमा तक अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त किया अथवा उनकी वास्तविकता का स्वरूप या उसकी पकड़ का साधन क्या था, इस सम्बन्ध में विचार करने का यहाँ अवसर नहीं। इतना बता देना पर्याप्त है कि उनके इस नये यथार्थ को युग-सत्य का समानार्थी मानने के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास-कला को नई दिशा में मोड़ने में ये प्रयोगकर्ता पूर्ण रूप से सफल हुए। उपन्यास के परम्परागत रूप-विधान में इतना अधिक परिवर्तन न सह सकने वाले परम्परावादी आलोचकों और उपन्यासकारों ने इन प्रयोगों को परम्परा-विरोधी और प्रयोगकर्ताओं को बौद्धिक अराजकतावादी घोषित किया।

परम्परा और प्रयोग-सम्बन्धी यह विवाद अंग्रेजी साहित्य में बहुत दिनों तक चलता रहा, हिन्दी में भी नये प्रयोगों के प्रारम्भ होने के कुछ ही वर्षों बाद परम्परावाद का सिद्धान्त

1. 'Modern Fiction'—The Common Reader Virginia Woolf.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी विशेष रूप में सामने आया। यह दूसरी बात है कि हिन्दी में यह विवाद अभी भी ज्यों-का-त्यों समस्या के रूप में बना हुआ है, जबकि अंग्रेजी में इसे समाप्त हुए २०-३० वर्षों का एक लम्बा युग बीत चुका है। सच तो यह है कि सच्चे साहित्य के सम्बन्ध में परम्परा और प्रयोग का विवाद उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता क्योंकि प्रयोगवाद घिसे-पिटे परम्परावादी साहित्य के ही विरोध में आता है और ये घिसे-पिटे परम्परावादी साहित्यिक ही प्रयोग के विरोध में परम्परावाद के सिद्धान्त की आत्म-रक्षा के लिए आड़ लेते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि नये प्रयोगों के कारण खण्डित होने वाली जिस परम्परा की यहाँ चर्चा की जा रही है, वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलने वाली परम्परा है जिसे साहित्यकार उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करता है। परम्परावादियों के अनुसार साहित्य में अनियन्त्रित नये प्रयोगों द्वारा इसी परम्परा की अक्षुण्णता बाधित होती है और यही कारण है कि परम्परा-विच्छिन्न नये प्रयोगों में दुरूहता और अस्पष्टता आ जाती है। इस अस्पष्टता के कारण प्रयोगवादी रचना में प्रेषणीयता का गुण नहीं रह जाता। फलस्वरूप प्रयोगकर्ता का मूल उद्देश्य—अपनी नई बात को नये माध्यम से पाठक तक पहुँचाना—ही नष्ट हो जाता है। परम्परावादियों के इस सिद्धान्त—प्रयोग परम्परा-विरोधी होता है—का खण्डन साहित्य में नये प्रयोग के सबसे बड़े समर्थक टी० एस० इलियट ने अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक अपने निबन्ध 'ट्रेडिसन एण्ड इण्डिविजुअल टैलेंट' में किया है। इलियट ने परम्परा के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा को भ्रान्त बतलाते हुए कहा है कि यदि परम्परा का अर्थ अपनी ठीक पूर्व की पीढ़ी का अन्धानुकरण करना या उसकी सफलताओं से चिपके रहना है, तो उसकी निश्चित रूप से उपेक्षा होनी चाहिए। नवीनता आवृत्ति से कहीं अच्छी है। परम्परा इससे कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है, वह उत्तराधिकार के रूप में नहीं प्राप्त होती, बल्कि उसकी प्राप्ति के लिए उस ऐतिहासिक दृष्टि की आवश्यकता होती है जिससे भूत के बीते हुए रूप को ही नहीं बल्कि वर्तमान में उसकी विद्यमानता को भी देखने की शक्ति प्राप्त होती है। इस ऐतिहासिक दृष्टि से युक्त प्रतिभाशाली साहित्यकार अपनी प्रतिभा से नई वास्तविकता को पकड़ पाने और अभिव्यंजना-प्रणाली के नये प्रयोगों द्वारा उसे ठीक-ठीक अभिव्यक्त करने में सफल होता है। इलियट के इस कथन में सत्य का बहुत अधिक अंश है। वास्तव में इस तरह के प्रयोग से ही परम्परा का विकास होता है। परम्परा स्थिर और निर्जीव वस्तु नहीं, वह विकासमान और गतिशील होती है। पिछली पीढ़ी के अनुकरण अथवा आवृत्ति द्वारा परम्परा का विकास रुक जाता है। अतः परम्परा को उसके प्रचलित और सीमित अर्थ में स्वीकार करके रचना करने वाले साहित्यकार वास्तव में परम्परा के समर्थक नहीं माने जा सकते।

किसी साहित्य-रूप में प्रयोग उसके रूप-शिल्प (Form) में ही होता है; कम-से-कम प्रयोग की पहचान रूप-शिल्प, अभिव्यंजना-प्रणाली और भाषा-शैली आदि से ही होती है। रूप-शिल्प में प्रयोग का अर्थ है किसी साहित्य-रूप के परम्परागत रूप-विधान के स्थान पर किसी सीमा तक नवीन रूप-विधान का अन्वेषण। किन्तु नवीन रूप-विधान भी अपने-आपमें उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कि उस रूप के अन्वेषण या प्रयोग के लिए बाध्य करने वाला लेखक का वह कथ्य, जिसे वह परम्परागत रूपों अथवा अन्य किन्हीं प्रचलित रूपों द्वारा उतनी प्रभविष्णुता और गहराई से व्यक्त नहीं कर सकता। प्रयोग के लिए प्रयोग तो वे रूपवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं, जिनके पास कहने को कुछ नहीं होता। निष्कर्ष यह कि वास्तविक प्रयोग उसीको कहा जा सकता है जिसमें कथ्य की नवीनता रूप-शिल्प में नवीनता लाने के लिए बाध्य करती है। सच पूछा जाय तो प्रयोग की सारी समस्या वक्तव्य-वस्तु अथवा लेखक के अभीप्सित उद्देश्य और प्रभाव-सृष्टि को लेकर ही है। कलात्मक नवीनता से प्राप्त होने वाले सौन्दर्य-बोधात्मक आनन्द (Aesthetic pleasure) की उपलब्धि भी इन्हीं प्रयोगों द्वारा होती है।

यहीं एक और प्रश्न यह उठता है कि वक्तव्य-वस्तु की नवीनता से क्या अभिप्राय है। सम्भवतः कोई भी प्रबुद्ध साहित्यकार इससे इन्कार नहीं कर सकता कि प्रत्येक युग बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही नई समस्याएँ, नये मूल्य और नई मर्यादाएँ साथ लाता है। परिवर्तित परिस्थिति में वास्तविकता का स्वरूप भी वह नहीं रह जाता जो उसके पूर्व युग की परिस्थितियों में था। इन बदली हुई परिस्थितियों और उनके बीच संघर्ष-रत मनुष्य के चित्रण द्वारा नये मानव-मूल्यों और नई मर्यादाओं की खोज और उनकी स्थापना ही साहित्यकार, विशेष रूप से उपन्यासकार का प्रमुख दायित्व है। इस दायित्व को स्वीकार करके चलने वाले लेखकों के लिए प्रायः नये माध्यमों का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। पूर्वयुगीन सत्यों और मानव-मूल्यों को अभिव्यक्ति देने में जो रूप-विधान पूर्णतया सफल हुए हैं, सम्भव है वे ही नई परिस्थिति में जन्म लेने वाले नये सत्यों और नये जीवन-मूल्यों को प्रेषित कर पाने में असफल सिद्ध हों। अतः साहित्य में नये प्रयोगों में की आवश्यकता और सार्थकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस दायित्व-निर्वाह का सबसे अधिक बोझ उपन्यासकार के ऊपर ही है, क्योंकि परिस्थितियों से संघर्ष-रत मानव और उसकी उपलब्धियों को जितनी पूर्णता और सफलता के साथ उपन्यासकार हमारे सामने रख सकता है, उतनी पूर्णता और सफलता के साथ कवि, नाटककार अथवा अन्य कोई नहीं। किन्तु आज के उपन्यासकार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि आज की वास्तविकता को ठीक-ठीक पकड़ने वाली दृष्टि क्या है? १९वीं सदी में जब फ्रेञ्च उपन्यासों का अंग्रेजी पर तेजी से प्रभाव पड़ रहा था जॉर्ज मूर ने उपन्यास की परिभाषा स्थिर करते हुए लिखा था कि 'उपन्यास समकालीन इतिहास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वह जिस युग में हम जी रहे हैं, उसके सामाजिक परिवेश का बिलकुल पूर्ण और सही-सही पुनर्निर्माण है।'[1] इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक श्रेष्ठ उपन्यास किसी सीमा तक अपने युग का इतिहास होता है। फिर भी आज का उपन्यासकार उक्त परिभाषा की व्याख्या चाहेगा। वह कई प्रश्न करेगा; सही-सही से क्या अभिप्राय है? पूर्ण का क्या अर्थ है? इससे भी आगे बढ़कर वह यह पूछ सकता है कि पुनर्निर्माण सही माने में किसे कहते हैं? आदि। यहाँ तक कि अपने युग की भी वह व्याख्या चाहेगा, क्योंकि इन प्रश्नों का उत्तर आज उतना सरल नहीं रह गया है जितना पूर्ववर्ती युगों में था। आज के उपन्यासकार के लिए केवल दो मार्ग हैं। या तो वह इन प्रश्नों से अपने को बचा जाय और कोई भी किस्सा कहकर अपने दायित्व की इतिश्री समझ ले या वह उन प्रश्नों की गहराई में जाकर उनका उत्तर ढूँढे और सत्य को पाने का प्रयत्न करे। आज का सजग उपन्यासकार इन प्रश्नों को अपने सामने रखता है और उनकी

१. The novel, if it be anything is contemporary history, an exact complete reproduction of the social surroundings of the age we live in.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जटिलता के कारण कोई स्पष्ट उत्तर न पाकर विविध रूपों में उन समस्याओं को सामने रखता और उनका उत्तर ढूँढने का प्रयास करता है। परिणामस्वरूप आज के उपन्यासों में रूप-शिल्प-सम्बन्धी विविध नये प्रयोगों के साथ-साथ उपन्यासकार के कथ्य और उसकी दृष्टि में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखलाई पड़ता है।

जहाँ तक हिन्दी के नये उपन्यासों के रूप-गठन का प्रश्न है उनमें अंग्रेजी के आधुनिकतावादी (Modernist) उपन्यासों की तरह का कोई ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ है, जो रूप-शिल्प की दृष्टि से उन्हें पिछले उपन्यासों से इस सीमा तक विच्छिन्न कर दे कि वे भिन्न जाति के मालूम पड़ें और समीक्षकों तथा पाठकों को इस साहित्य-रूप के सम्बन्ध में नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य होना पड़े। अंग्रेजी के उपन्यासों में हुए प्रयोगों और रूप-शिल्प-सम्बन्धी क्रान्तिकारी परिवर्तनों का अन्दाज तो इसीसे लगाया जा सकता है कि वर्जिनिया वुल्फ अपने उपन्यासों को प्रचलित अर्थों में उपन्यास मानती ही नहीं। प्रसिद्ध उपन्यासकार ह्यू वालपोल ने अंग्रेजी-उपन्यास की आधुनिक प्रवृत्तियों की विवेचना करते हुए लिखा है कि 'वर्जिनिया-वुल्फ अपनी कला के लिए, यदि मिल जाय तो, कोई नया नाम गढ़ने के लिए तैयार है। आल्डस हक्स्ले को इस बात की बिलकुल परवाह नहीं कि कोई उन्हें उपन्यासकार मानता है या नहीं। इस समय (१९३०-३४ के आस-पास) इंग्लैण्ड में कोई भी यह ठीक-ठीक नहीं जानता कि उपन्यास क्या है। बड़े आलोचक दृढ़ता-पूर्वक यह मानते हैं कि यह कुछ ऐसी चीज है जो सामान्य पाठकों की समझ में न आए, जब कि छोटे आलोचक उतनी ही दृढ़ता से कहते हैं कि बड़े आलोचक जिसे उपन्यास की संज्ञा देते हैं, वह उपन्यास नहीं।'[1] जेम्स ज्वॉयस के 'यूलिसिस' और 'फिनेगन्सवेक', वर्जिनिया वुल्फ के 'मिसेज डालोवे', 'बिट्वीन द एक्ट्स' तथा फिलिप टायनबी के 'टी-विथ मिसेज गुडमैन' को उदाहरण-स्वरूप देखा जा सकता है। 'यूलिसिस' के प्रयोग का अन्दाज तो इसीसे लगाया जा सकता है कि जुंग ने इसके बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि इसका आदि-अन्त कुछ नहीं है और इसे सीधे आगे की ओर और उलटे पीछे की ओर, किसी ओर से पढ़ा जा सकता है, कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। यूलिसिस के बारे में न सही, किन्तु 'फिनेगन्सवेक' के बारे में यह कथन बिलकुल सच है। जिस वाक्य के मध्य से उपन्यास प्रारम्भ होता है, उसी वाक्य के मध्य में समाप्त भी होता है। इसे आगे-पीछे किसी तरफ से पढ़ सकते हैं। भाषा जेम्स ज्वॉयस की बहुत-कुछ स्वयं गढ़ी हुई बिलकुल मौलिक है, एकदम अछूती और अप्रयुक्त। यह उपन्यास वस्तुतः श्रव्य है अर्थात् जेम्स ज्वॉयस के अनुसार इसे समझने और आनन्द लेने के लिए इसका सस्वर पाठ सुनना चाहिए। आदर्श पाठक जेम्स ज्वॉयस ही हो सकते थे; इसलिए उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण उपन्यास का स्वयं किया हुआ पाठ रेकर्ड भी करवा डाला।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि जेम्स ज्वॉयस, डारोथी रिचर्ड्सन, वर्जिनिया वुल्फ, फिलिप टायनबी, होरेस मेकॉय आदि अंग्रेजी के अधिकांश प्रयोगवादी उपन्यासकार अन्तश्चेतनावादी हैं, जो मनोविश्लेषणात्मक स्तर पर मानव-मन या अन्तश्चेतन की गहराइयों को—चाहे वे जैसी भी हों—उभारकर पाठकों के सम्मुख रखने के दायित्व में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि अंग्रेजी उपन्यासों में प्रयोगवाद अन्तश्चेतनात्मक के अर्थ में बहुत अंश तक

१. Tendencies of Modern novel—English.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूढ़ हो गया है। यद्यपि अंग्रेजी में ऐसे भी उपन्यास हैं जिनमें प्रयोग की पर्याप्त नवीनता है और जो सतत प्रवहमान अन्तश्चेतन की बारीकियों का दर्शन कराने वाले उपन्यासों से भिन्न कोटि के हैं। सच पूछा जाय तो अंग्रेजी के आधुनिक उपन्यास-साहित्य में परम्परावादियों और इन तथाकथित प्रयोगवादियों का सारा विवाद बहुत-कुछ समय तत्त्व को लेकर है। परम्परावादियों की तरह ये प्रयोगकर्त्ता यह नहीं स्वीकार करते कि समय सेकण्ड, मिनट और घण्टे के निश्चित अन्तर और क्रम से व्यतीत होता है। परम्परावादी समय और क्रिया तथा समय और घटना में सामञ्जस्य बनाये रखने पर जोर देते हैं, जब कि अन्तश्चेतनावादी एक क्षण के विचार अथवा क्षणस्थायी चेतना-प्रवाह का चित्रण इस प्रकार कर सकते हैं कि वर्षों का समय और अनगिन घटनाएँ उसके सामने तुच्छ और छोटी मालूम पड़ें। प्रयोगवादी ये नहीं मानते कि समय अपने-आपमें कोई विधेयात्मक गुण रखता है; उनके अनुसार समयगत मूल्य (Time value) और उसकी अवधि अन्य परिवर्तनशील कारणों पर आधारित है। समय की निरंकुशता को समाप्त कर देने के प्रयत्न ने आधुनिक अंग्रेजी कथा-साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। समयगत रूढ़ि को मानकर रचना करने वाले उपन्यासकारों के लिए पुराने और प्रचलित रूप-विधान तथा कथानक, चरित्र और क्रिया-सम्बन्धी परम्परावादी धारणा मान्य थी; किन्तु प्रयोगवादी परम्परावाद के इस अत्याचार को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। १९१९ में वर्जिनिया वुल्फ ने 'माडर्न फिक्शन' शीर्षक प्रसिद्ध लेख में परम्परावाद के इस अत्याचार की चर्चा करते हुए लिखा है कि ऐसा मालूम होता है कि लेखक अपनी स्वतन्त्र इच्छा से नहीं बल्कि किसी अत्यन्त शक्तिशाली और सिद्धान्तहीन अत्याचारी के चंगुल में अवश पड़ा हुआ उपन्यास में कथानक देने, उसे सुखान्त या दुखान्त बनाने तथा उसमें प्रेम और दिलचस्पी की बातें लाने के लिए बाध्य कर दिया जाता है।[1] वुल्फ ने जीवन की यह नई व्याख्या सामने रखी :

Life is not a series of big lamps symmetrically arranged, life is a luminous holo, a semitransparent envelope surrounding us from the beginning of consciousness to the end.

इस परिभाषा के अनुसार उपन्यासकार का यह कर्तव्य माना गया कि वह मन पर पड़ने वाले, प्रत्येक घटना और प्रत्येक दृश्य के प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव को उपन्यास में क्रमपूर्वक सजाकर रखे, चाहे वह कितना भी विशृंखल और असम्बद्ध क्यों न हो।[2] परिणामस्वरूप इन लेखकों के प्रायः सभी उपन्यासों में कथानक और चरित्र, क्रिया और विचार 'चेतना-प्रवाह' (Stream of consciousness) में डूबकर अस्तित्वहीन-से हो गए हैं।

× × × × ×

हिन्दी-उपन्यास के नये प्रयोगों पर विचार करते समय सबसे पहला प्रश्न यह होता है कि उसका परम्परागत रूप (Traditional shape) क्या है? अर्थात् हिन्दी-उपन्यासों की रूप-गठन और रचना-सम्बन्धी वे कौन-सी विशेषताएँ और मान्यताएँ हैं जिन्हें आज का प्रयोगकर्ता ज्यों-का-त्यों न ग्रहण करके अथवा अपने कथ्य, उद्देश्य और प्रभाव-सृष्टि के लिए उस ढाँचे को उपयुक्त माध्यम न समझकर नई टेकनीक और नये कौशलों का सहारा लेता है।

---

१. Modern Fiction—the common reader.
२. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजी उपन्यासों की तुलना में हिन्दी-उपन्यासों की परम्परा नहीं के बराबर है; फिर भी 'परीक्षा गुरु' से लेकर 'गोदान' और 'चित्रलेखा' तक आते-आते हिन्दी-उपन्यासों का एक परम्परागत रूप स्थिर हो चुका था जिसमें आज भी अनेक प्रौढ़ उपन्यासकार उपन्यास-रचना कर रहे हैं। मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण-शास्त्र के अस्तित्व में आने के पूर्व विश्व-उपन्यास में उपन्यास-रचना के सम्बन्ध में बहुत-कुछ एक ही प्रकार की धारणा दिखलाई पड़ती है। इस धारणा के अनुसार उपन्यास में कथा अवश्य होनी चाहिए; साथ ही वह कथा पूर्वापर-सम्बन्ध और कार्य-कारण-शृङ्खला से युक्त होनी चाहिए। साथ ही उसमें सशक्त और महत्त्व-पूर्ण चरित्र का होना आवश्यक है।

अंग्रेजी के अन्तश्चेतनावादी प्रयोगात्मक उपन्यासों की भूमिका में यदि हम हिन्दी के मनोवैज्ञानिक कहे जाने वाले उपन्यासों पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि जैनेन्द्र अथवा इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास मूलतः इनसे भिन्न कोटि के हैं। यही कारण है कि हिन्दी-उपन्यास के प्रचलित रूप-विधान में इन्होंने कोई मौलिक परिवर्तन नहीं उपस्थित किया है। इनके उपन्यास उसी अर्थ में और उसी सीमा तक मनोवैज्ञानिक हैं, जिस अर्थ में और जिस सीमा तक यशपाल के उपन्यास मार्क्सवादी हैं। जिस तरह मार्क्सवादी दृष्टि के अपनाने-मात्र से मार्क्सवादी कहे जाने वाले उपन्यासों के कथा-शिल्प और रूप-विधान में कोई प्रयोगात्मक परिवर्तन (Experimental change) नहीं घटित हुआ है, उसी प्रकार 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'संन्यासी' या 'पर्दे की रानी' में भी इस तरह का कोई परिवर्तन नहीं मिलेगा, जो रूप-गठन की दृष्टि से इन्हें पूर्ववर्ती तथा समकालीन उपन्यासों से भिन्न श्रेणी का सिद्ध करता हो। कारण यह है कि इनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि किसी मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि द्वारा नायक-नायिकाओं की क्रियाओं—मानसिक तथा व्यावहारिक दोनों—और उनके सामाजिक सम्बन्धों के यान्त्रिक नियन्त्रण तक ही सीमित है, जबकि जेम्स ज्वॉयस, डारोथी रिचर्ड्सन और वूल्फ आदि के उपन्यासों में वह कई दिशाओं में काम करती है। कहानी कहना इनका उद्देश्य नहीं, फिर भी कहानी इन्होंने कही है, भले ही वह बड़े 'कन्वैस' पर परिस्थितियों से जूझने वाले मनुष्य, उसके परिवेश और उसके सामाजिक सम्बन्धों की कहानी न होकर अपनी कुण्ठाओं और ग्रन्थियों के वशीभूत आत्मकेन्द्रित व्यक्ति की ही कहानी क्यों न हो।

सच पूछा जाय तो हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में सबसे पहला प्रयोग 'अज्ञेय' ने 'शेखर : एक जीवनी' (प्रथम भाग) में किया। इसकी प्रयोगात्मकता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि उपन्यास की एक निश्चित परिभाषा स्वीकार करने वाले (यद्यपि यह परिभाषा भी पूर्ववर्ती लक्ष्य-ग्रन्थों के ही आधार पर बनी है) इसे उपन्यास मानने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि उनके अनुसार इसमें कथानक भी कार्य-कारण-शृङ्खला से युक्त सम्बद्धता नहीं है। इस उपन्यास की मौलिकता भी यही है। पूरा उपन्यास 'स्मृत्यालोक' (Flash back) की टेक्नीक में लिखा गया है। स्मृतियाँ एक साथ ही सम्पूर्णतः सम्बद्ध रूप में नहीं आतीं, वह खण्डों (Fragments) में आती हैं, यही कारण है कि उपन्यासकार ने वस्तु-गठन में खण्ड-चित्रों की पद्धति (Fragmentory method) को अपनाया है। यद्यपि ये दोनों पद्धतियाँ अंग्रेजी उपन्यासों में बहुत अधिक प्रयुक्त होकर नवीनता का आकर्षण खो चुकी हैं, किन्तु हिन्दी के लिए अभी भी ये बिलकुल नई हैं। हिन्दी में स्मृत्यालोक-पद्धति का प्रयोग न किया गया हो, ऐसी बात नहीं;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी में इस पद्धति का बहुत सुन्दर ढंग से उपयोग किया गया है। किन्तु हिन्दी में कोई उपन्यास पूरा-का-पूरा इस टेकनीक को आधार बनाकर लिखा हुआ नहीं मिलेगा। इस प्रसंग में अंग्रेजी के दो आधुनिक उपन्यासों की चर्चा करना चाहता हूँ; मे सिन्क्लेयर का 'द लाइफ एण्ड डेथ अव हैरिएट फ्रीन' और होरेस मेकाप का 'दे शूट द हार्सेज डोण्ट दे'। 'द लाइफ एण्ड डेथ अव हैरिएट फ्रीन' में 'शेखर : एक जीवनी' की तरह ही स्मृत्यालोक-पद्धति द्वारा हैरिएट की आत्म-कथा कही गई है। डूबती हुई हैरिएट की चेतना में डूबने के समय के क्षण-भर के प्रत्यावलोकन में ही उसका सारा भूत जीवन बिजली की तरह कौंध जाता है। उसके भूत जीवन के अनेक मानस-चित्र सिनेमा की रील्स की तरह आते और चले जाते हैं और इन मानस-चित्रों के रूप में ही उसके ७० वर्षों की जीवन-कथा लगभग २०० पृष्ठों में कही गई है। होरेस मेकाय के उपन्यास में सारा स्मृत्यालोक फाँसी की सजा सुनाई जाने के कुछ मिनटों के अवकाश में ही प्रकाशित होता है। कहा जाता है कि मृत्यु के कुछ समय पहले मनुष्य को उसका भूत जीवन विविध मानस-चित्रों के रूप में दीखने लगता है। इसीलिए इन उपन्यासकारों ने स्मृत्यालोक के लिए प्रायः इसी भूमिका को चुना है। 'शेखर : एक जीवनी' के सारे स्मृत्यालोक की भूमिका यही है—फाँसी, मृत्यु अथवा मृत्यु की अनिवार्यता का बोध।

'फाँसी !

......

सिद्धि कैसी—काहे की ? मेरी मृत्यु की क्या सिद्धि होगी—मेरे जीवन की क्या थी। ...मैं अपने जीवन का प्रत्यावलोकन कर रहा हूँ, अपने अतीत जीवन को दुबारा जी रहा हूँ।'

इस प्रत्यावलोकन में शेखर के चेतना-प्रवाह में भी अनेक तरंगें उठती हैं। स्मृति के दर्पण में वह अपने सम्पूर्ण भूत को प्रतिबिम्बित होते देखता है। उसका सारा पिछला जीवन विभिन्न मानस-चित्रों (Mental images) के रूप में प्रत्यक्ष होता है और जिस क्रम से वे चित्र उसे दीखते हैं, उसी अनुक्रम में उन्हें रखा गया है। इसलिए 'शेखर : एक जीवनी' (प्रथम भाग) में घटनाओं के पूर्वापर सम्बन्ध और कार्य-कारण-शृङ्खला से युक्त कथानक ढूँढना व्यर्थ है। स्मृतियों का विशृङ्खल और असम्बद्ध होना ही अधिक मनोवैज्ञानिक है, वह भी उस व्यक्ति की स्मृतियों का जो मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है, जिसके मस्तिष्क में इस दण्ड-विधान को लेकर, आज के जीवन-मूल्यों और मान्यताओं को लेकर विचारों की आँधी उठ रही है और जो आमूल परिवर्तन चाहने वाली अपनी मूल्यवान् (?) विद्रोही भावना का मूल्य मृत्यु के रूप में पाकर क्षुब्ध हो उठा है। इस उपन्यास के कथानक पर विचार करते समय इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। शेखर : एक जीवनी' में प्रयोग यही है, उसकी मौलिकता यही है। अनुक्रम इसमें घटनाओं और दृश्यों का नहीं, भावों और मनस्थितियों का है। इन भावों और मनस्थितियों के उत्तरोत्तर विकास का, उन घटनाओं और दृश्यों के साथ, जिन पर वे आश्रित हैं, चित्रण और विश्लेषण करना ही उपन्यासकार का प्रमुख उद्देश्य है। ये चित्र अपने-आपमें बहुत-कुछ स्वतन्त्र होते हुए भी समन्वित प्रभाव की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं।

'शेखर : एक जीवनी' के बाद इस दिशा में इस तरह का कोई प्रयोगात्मक उपन्यास नहीं लिखा गया। ऐतिहासिक उपन्यासों की दिशा में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बाणभट्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आत्मकथा' निश्चित रूप से एक अभिनव प्रयोग है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि न जाने कितने पाठकों के मन में इस उपन्यास ने यह भ्रान्ति उत्पन्न की है कि बाण-भट्ट ने सचमुच कोई आत्म-चरित लिखा था और द्विवेदी जी ने इस 'आत्म-कथा' के रूप में उसका रूपान्तर मात्र किया है। आत्मकथा में वास्तविकता और प्रामाणिकता का आभास उत्पन्न करने के लिए लेखक ने अनेक कौशलों का सहारा लिया है। 'आमुख', उपसंहार और पाद-टिप्पणियों का प्रयोग इसी कौशल के रूप में हुआ है। पूरा उपन्यास संस्कृत की कथा-आख्या-यिका—विशेष रूप से कादम्बरी और हर्षचरित—की शैली को ध्यान में रखकर लिखा गया है। भामह ने आख्यायिका के जो लक्षण बताए हैं, वे भी इसमें मिल जाते हैं। इसमें गद्य-काव्य से युक्त सरस कथा कही गई है, वह उच्छ्वासों में विभक्त है और कथा कहने वाला स्वयं नायक है। कादम्बरी की तरह रूप-रंग, शोभा, सौन्दर्य आदि के प्रचुर वर्णन के कारण इसमें भी कथा रुक-रुककर आगे बढ़ती है। बाणभट्ट की शैली के अनुरूप रसघनत्व, आलंकारिक वस्तु-वर्णन और पद-विन्यास द्वारा पाठकों के मन में आत्म-कथा की प्रामाणिकता उद्भासित करने में लेखक पूर्ण रूप से सफल हुआ है। फिर भी इसे प्राचीन कथा-आख्यायिका न कहकर आधुनिक ढंग का उपन्यास ही कहा जायगा। जैसा कि लेखक ने उपसंहार में संकेत किया है, इसमें 'बाणभट्ट की शैली के साथ ऊपर-ऊपर से साम्य होते हुए भी' आधुनिक शैली की वह नवीनता भी बहुत अधिक है, जो संस्कृत-साहित्य में नहीं मिल सकती, प्रेम के गूढ़ और अदृस भाव की व्यञ्जना में यह शैली विशेष रूप से दिखलाई पड़ती है। अतः उद्देश्य के अनुरूप प्राचीन शैली के साथ गूढ़ भावों को व्यञ्जित करने वाली आधुनिक शैली का सामञ्जस्य स्थापित करके लेखक ने हिन्दी-उपन्यास में निश्चित रूप से बिलकुल मौलिक प्रयोग किया है।

× × ×

'शेखर : एक जीवनी' (प्रथम भाग) और 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' के बाद हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में जो भी नये प्रयोग हुए, वे पिछले तीन-चार वर्षों में नई पौध के उन लेखकों द्वारा हुए जिनके प्रयोग की दिशा और जिनका उद्देश्य पिछले दोनों उपन्यासों से बिलकुल भिन्न है। धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा', गिरिधर गोपाल का 'चाँदनी के खण्डहर', नागार्जुन का 'बाबा बटेसरनाथ', फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें कथा-शिल्प की नवीनता और ताजगी तो है ही, साथ ही इनमें आज के यथार्थ को कई स्तरों पर उभारने का प्रयत्न किया गया है।

किसी उपन्यास का कई कहानियों के रूप में लिखा जाना हिन्दी में ही नहीं अन्य भाषाओं में भी बिलकुल नया प्रयोग है। हिन्दी में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' इस टेकनीक में लिखा गया हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। यह उपन्यास छः कहानियों के रूप में लिखा गया है। ये कहानियाँ परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी बड़े कौशल से एक-दूसरे से जोड़ दी गई हैं। उपन्यास का गठन और कहानी कहने का ढंग बहुत पुराना और परिचित है। जैसा कि 'भूमिका' में श्री अज्ञेय ने लिखा है—"अलफलैला वाला ढंग, पंचतन्त्र वाला ढंग, बोकैच्छियो वाला ढंग, जिसमें रोज किस्सागोई की मजलिस जुटती है, फिर कहानी में से कहानी निकलती है।" 'कथासरित्सागर' में नरवाहनदत्त, मन्त्री यौगन्धरायण और रानियों आदि में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी-कभी प्रेम के किसी पहलू को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाता है और हर व्यक्ति अपने निष्कर्ष की सत्यता किसी कथा के माध्यम से सिद्ध करता है। यहाँ एक ही वस्तु को कई व्यक्ति कई कोणों से कई सन्दर्भों में रखकर देखते हैं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में बहुत-कुछ इसी पद्धति का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इसमें कहानी कहने वाले कई व्यक्ति नहीं, एक ही व्यक्ति माणिकमुल्ला हैं। उपन्यासकार की सारी मौलिकता इस बात में है कि उसने इस पुराने ढंग का उपयोग अपने उद्देश्य के अनुरूप इतने नये रूप में और इतने कौशल से किया है कि इस 'ग्रामीण' लगने वाली पद्धति में भी मौलिकता और नवीनता का अद्भुत आकर्षण आ गया है। प्रत्येक कहानी का अन्त भी पुरानी पोथियों के 'इति···कृत'···पुस्तकस्य प्रथमो तरंगः (लम्बकः, अध्यायः) समाप्तः' के ढंग पर 'इस तरह माणिकमुल्ला की अमुक निष्कर्षवादी कहानी समाप्त हुई' के साथ होता है। संक्षिप्त अनध्याय वाला अध्याय उपन्यासकार की अपनी मौलिक सूझ है और वह प्रयोजन विशेष से रखा गया है। कहानियों के रूप में लिखे जाने के कारण ही इसमें मध्यवर्गीय प्रेम और उसके झूठे नैतिक मूल्यों को इतने छोटे फलक पर, विभिन्न सन्दर्भों में कई कोणों से उभार सकना सम्भव हो सका है। यही उपन्यासकार का उद्देश्य भी है। दूसरी विशेषता यह है कि टेकनीक के इस प्रयोग में मनोविश्लेषणात्मक प्रयोगों की तरह की जटिलता नहीं है; बिलकुल सादा ढंग है, यहाँ तक कि कहीं-कहीं आवश्यकता से भी अधिक सादगी आ गई है। किन्तु टेकनीक की दृष्टि से किसी उपन्यास का कहानी के फार्म में लिखा जाना उतना महत्त्व नहीं रखता, जितना कि वह कौशल; जिसके द्वारा उपन्यासकार उन कहानियों में औपन्यासिक एकसूत्रता और सम्बद्धता स्थापित करता है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में माणिकमुल्ला का व्यक्तित्व तो इन कहानियों में एकसूत्रता स्थापित करने में योग देता ही है; साथ ही अन्य पात्र भी एक से अधिक कहानियों में बार-बार आकर उस सम्बन्ध-सूत्र को दृढ़ करने में सहायता पहुँचाते हैं। उपन्यास की यह टेकनीक बहुत सफल सिद्ध हुई है। अंग्रेजी और रूसी भाषा में कई नये उपन्यास कहानियों के रूप में लिखे गए हैं।

कई कहानियों के रूप में लिखी गई हिन्दी की दूसरी कृति—शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' की 'बहती गंगा' है, जिसमें काशी के २०० वर्षों की प्रवहमान जीवन-धारा को १७ तरंगों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। तत्कालीन सामाजिक जीवन के विविध भागों, उसके विभिन्न स्तरों को सींचने वाली ये तरंगें परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी 'धारा तरंग न्याय से' एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। किन्तु कहानियों के रूप में लिखी गई किसी कृति को उपन्यास का रूप देने के लिए जिस कौशलपूर्ण सम्बन्ध-सूत्र की आवश्यकता होती है, वह सूत्र इस कृति में नहीं है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में यह सम्बन्ध-सूत्र इसलिए है कि उसकी परस्पर स्वतन्त्र दीखने वाली कहानियाँ उपन्यास की कथानक-योजना के अभिन्न अंग के रूप में लिखी गई हैं। यही कारण है कि स्वतन्त्र कहानी के रूप में लिखी जाने पर भी वे बच्चों की कहानियों जैसी महत्त्वहीन मालूम पड़ेंगी। इसके विपरीत 'बहती गंगा' की कहानियाँ परस्पर स्वतन्त्र ही नहीं, कहानी-कला की दृष्टि से अपने-आपमें पूर्ण उत्कृष्ट कोटि की कहानियाँ हैं। इन कहानियों की यह कलात्मक पूर्णता यह प्रमाणित करती है कि ये किसी उपन्यास के अंग के रूप में नहीं, बल्कि समय-समय पर स्वतन्त्र कहानी के रूप में लिखी गई हैं। इन कहानियों में दृढ़ सम्बन्ध-सूत्र के अभाव का मूल कारण यही है। फिर प्रश्न यह उठता है कि 'बहती गंगा' को क्या माना जाय, कहानियों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संग्रह या कहानी-रूप में उपन्यास या और कुछ। इसमें सन्देह नहीं कि इसकी विभिन्न कहानियों और घटनाओं में सम्बद्धता और एकसूत्रता का अभाव इसके औपन्यासिक स्वरूप की पूर्णता में बाधक है, किन्तु साथ ही यह भी सच है कि 'बहती गंगा' काशी की जिन्दगी को लेकर लिखी गई कुछ कहानियों का संग्रह-मात्र नहीं है; क्योंकि ये कहानियाँ जिस काल-क्रम में रखी गई हैं उससे दो सौ वर्षों के भीतर काशी के सामाजिक जीवन में होने वाले क्रमिक विकास का पता चलता है। वस्तुतः 'बहती गंगा' को कहानी-रूप में उपन्यास न कहकर कहानियों के रूप में दो सौ वर्षों के भीतर काशी के सामाजिक जीवन में होने वाले परिवर्तन और विकास का इतिहास कहा जा सकता है। इस दृष्टि से 'बहती गंगा' हिन्दी साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण और मौलिक कृति है, इतनी मौलिक कि अपनी नवीनता और मौलिकता के बल पर आलोचकों से नये साहित्य-रूप के नाम की माँग कर सकती है। वैसे, यदि कोई चाहे तो किसी उचित नाम के अभाव में उपन्यास की सीमाओं को थोड़ा और बढ़ाकर इसे उपन्यास की संज्ञा दे सकता है।

× × × ×

कहा जा चुका है कि अंग्रेजी के परम्परावादी और मनोविश्लेषणवादी प्रयोगवादी उपन्यासकारों का मूल विवाद समयगत मूल्य (Time value) को लेकर है। प्रयोगवादियों का समयगत मूल्य को अन्य परिवर्तनशील कारणों पर आश्रित मानने का एक प्रभाव उपन्यासों पर यह पड़ा कि उनमें कथानक की काल-सीमा धीरे-धीरे सीमित होती गई; क्योंकि इन उपन्यासकारों के अनुसार समयगत मूल्य की दृष्टि से एक व्यक्ति की सम्पूर्ण जीवन-कथा की अपेक्षा सम्भव है किसी अन्य व्यक्ति की २४ घण्टे की (या उससे भी कम) जिन्दगी अधिक महत्त्वपूर्ण हो। चूँकि मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों का उद्देश्य मानव-मन पर पड़ने वाले प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव का क्रमपूर्वक विश्लेषण करना था, इसलिए समय-सम्बन्धी यह मान्यता उनके लिए अधिक अनुकूल थी। लम्बा काल-फलक लेकर प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव को चित्रित करना उनके बूते की बात नहीं थी। इस पद्धति के आचार्य जेम्स ज्वॉयस को २४ घण्टे की जिन्दगी का विश्लेषण करने में ही ७ वर्ष लग गए, तब लगभग ८०० पृष्ठों की 'युलिसिस' तैयार हुई; 'फिनेगन्सवेक' में इसी कार्य को और अधिक बारीकी से करने में उन्हें १६ वर्ष लग गए।

समय-सम्बन्धी इस प्रयोग ने मनोवैज्ञानिक यथार्थ के चित्रण में ही नहीं, सामाजिक यथार्थ, यहाँ तक कि समाजवादी यथार्थ के चित्रण की दिशा में भी अपनी उपयोगिता सिद्ध की। आधुनिक रूसी उपन्यासकार कातीव्ह (Kataev) के प्रसिद्ध उपन्यास 'फार्वड, ओ टाइम' में भी कथा एक कस्बे की २४ घण्टे की जिन्दगी तक ही सीमित है।

हिन्दी में हाल ही में प्रकाशित गिरिधर गोपाल के 'चाँदनी के खण्डहर' और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के लघु-उपन्यास 'सोया हुआ जल' में समय-सम्बन्धी इस प्रयोग को अपनाया गया है। 'चाँदनी के खण्डहर' की काल-सीमा है २४ घण्टा, 'सोया हुआ जल' की इससे भी कम सिर्फ १२ घण्टा। इन उपन्यासों पर विचार करने के पूर्व यह बता देना, आवश्यक है कि सीमित समय को लेकर बृहद्काय और लघु दोनों तरह के उपन्यास लिखे गए हैं। 'चाँदनी के खण्डहर' और 'सोया हुआ जल' लघु उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। मेरे विचार से लघु-उपन्यासों में ही समय-सम्बन्धी यह प्रयोग अधिक सफल हो सकता है। क्योंकि लघु-उपन्यासों का उद्देश्य जीवन को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करना नहीं, बल्कि उसके किसी एक पक्ष पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या कुछ पक्षों पर तीव्र और गहरा प्रकाश डालना होता है। इनमें लघु-कथाओं-जैसी गहनता, तीव्रता और प्रभविष्णुता लाने के लिए उपन्यासकार को ऐसी ही घटनाओं, परिस्थितियों और मनस्थितियों का चुनाव करना होता है, जो अभीष्ट प्रभाव की अन्विति में उसे अधिक-से-अधिक तीव्र और गहरा बनाने में योग देती हैं। कथा की काल-सीमा कम रखने वाले उपन्यासकारों का उद्देश्य इस प्रभाव को और अधिक एकोन्मुख करना होता है। समय-सम्बन्धी इस प्रयोग को अपनाकर लिखे गए उपन्यासों में उपन्यासकार का उद्देश्य कोई कहानी कहना नहीं होता, क्योंकि सीमित समय के कारण उसके पास कथा गढ़ने लायक कथा-सूत्रों और घटनाओं की कमी रहती है।

'चाँदनी के खंडहर' में भी लेखक का उद्देश्य कहानी कहना नहीं है। उसका उद्देश्य वर्णन और चित्रण-शैली के बल पर मध्यवर्ग की वर्तमान स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करना है। एक मध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक स्थिति और उसकी पृष्ठभूमि में समूचे परिवार को भीतर-ही-भीतर निगलने वाली निराशा, कुण्ठा और आन्तरिक खोखलेपन का इतना तीखा और पाठक के मन और बुद्धि को झकझोरने वाला चित्र हिन्दी में कम ही मिलेगा। वसन्त को ५ वर्ष बाद लन्दन से ले आने में मध्यवर्ग की उच्चाकांक्षा दिखाने के अतिरिक्त उपन्यासकार के दो और उद्देश्य हैं —

१—मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति में तेजी से होने वाले परिवर्तन की ओर संकेत करना। आज का मध्यवर्ग कितनी तेजी से खोखला होता जा रहा है, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, बिलकुल उसी तरह जैसे वसन्त सोच भी नहीं पाता कि ५ वर्ष के भीतर ही उसके परिवार को, परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को इतना अधिक किसने बदल दिया।

२—इस परिवर्तन के आन्तरिक और बाह्य प्रभाव की तीव्रता और गहराई दिखाना। परिवार के किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से इस प्रभाव की तीव्रता और गहराई नहीं व्यक्त की जा सकती थी, क्योंकि वह स्वयं बदलने की इस प्रक्रिया का अंग होने के कारण बहुत-कुछ उसका अभ्यस्त हो गया है; उसे वसन्त की तरह एक साथ ही इतना बड़ा परिवर्तन देखने, झेलने या अनुभव करने को नहीं मिलता है। लम्बी अवधि के बाद उम्मीदों की एक नई दुनिया साथ लेकर लौटा हुआ व्यक्ति जितनी तीव्रता और गहराई से इसका अनुभव कर सकता है, उतना उस परिवर्तन को नित्य देखने या झेलने वाला व्यक्ति नहीं। साथ ही वसन्त के मन पर पड़ने वाले प्रभाव में भी जितनी तीव्रता और गहराई पहले दिन संभव है, उतनी दूसरे दिन नहीं। उपन्यास के कथानक को २४ घण्टे की काल-सीमा में बाँधने का यही कारण है। परिवार की उत्तरोत्तर बिगड़ती हुई स्थिति के सूचक-सूत्रों को एक-एक करके खोलने में उपन्यास के वस्तु-गठन का सारा कौशल निहित है। यदि वसन्त के प्रारम्भिक उत्साह और उमंग के अतिरंजित वर्णन को लेखक थोड़ा सँभाल पाता, तो इस अत्यधिक उमंग के कारण उपन्यास के प्रारम्भिक अंश में जो थोड़ी कचाई आ गई है, वह न आ पाती। 'कण्ट्रास्ट' दिखाने के लिए आवश्यकता से अधिक उमंग का चित्रण जरूरी नहीं था।

'चाँदनी के खंडहर' में यदि एक परिवार की एक दिन की जिन्दगी का वर्णन है तो 'सोया हुआ जल' में एक यात्रिशाला (डाक-बँगला) के यात्रियों की एक रात की जिन्दगी का। इसके अतिरिक्त दोनों में कोई सादृश्य नहीं है। वस्तु-शिल्प, रूप-गठन, शैली, उद्देश्य सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टियों से 'सोया हुआ जल' बिलकुल भिन्न कोटि का उपन्यास है और अत्यन्त लघु होते हुए भी वह कई दृष्टियों से हिन्दी में बहुत ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। पूरा उपन्यास सिने-रियो-टेकनीक में लिखा गया है। लगता है कि लेखक ने अंग्रेजी के नये उपन्यासों की टेकनीक का विशेष अध्ययन किया है। इस टेकनीक की विशेषता यह है कि इससे कई व्यक्तियों के भावों, विचारों और कार्यों, यहाँ तक की एक ही व्यक्ति के विभिन्न भावों और मनस्थितियों का समकालवर्तित्व (Simultaneity) दिखलाया जा सकता है। एक ही व्यक्ति के समकालवर्ती (Simultaneous) बाह्याचरण और आन्तरिक भाव में असंगति दिखलाने के लिए उपन्यासकार ने स्वप्न-पद्धति का सहारा लिया है। इस पद्धति के द्वारा लेखक विभा और राजेश के वैवाहिक मधुर सम्बन्ध और उनके अन्तश्चेतन में पर-पुरुष और पर-स्त्री के लिए वर्तमान अतृप्त प्यास (विभा का मोहन के और राजेश का एक गोरी लड़की के प्रति) की सहस्थिति दिखलाने में सफल हो सका है। यात्रिशाला में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों के समकालवर्ती (Simultaneous) भावों, विचारों और कार्यों का चित्रण लेखक ने उस बूढ़े पहरेदार के माध्यम से किया है जिसके कान प्रत्येक कमरे से आने वाली आवाज़ को सुनते हैं, जिसकी दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों और व्यवहारों को देखती है। पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, जन-नायक, शराबी, मौजी, आवारा, सभी प्रकार के लोग उस यात्रिशाला में रहते हैं; इसलिए एक ही समय में विभिन्न ढंग के कार्य, विभिन्न प्रकार की बातें उसे देखने-सुनने को मिलती हैं।

उपन्यास की प्रमुख विशेषता, उसकी प्रतीकात्मकता है। चाहे तो इसे प्रतीकात्मक उपन्यास (Symbolic novel) भी कह सकते हैं। स्वप्न-दूत के माध्यम से इस प्रतीकार्थ को स्पष्ट भी कर दिया गया है। बूढ़े पहरेदार को स्वप्न-दूत बतलाता है कि —

'मैं रोज यहाँ आता हूँ लेकिन तुमसे बिना मिले चला जाता था। आज तुम्हें बीमार देखकर तुम्हारे पास आ गया।

'तुम यहाँ रोज किस लिए आते हो ?

प्यासी आत्माओं की शान्ति के लिए।'

'यात्रिशाला' शब्द सोद्देश्य रखा गया है; वह इस संसार का प्रतीक है जिसमें नियत समय के निवास के लिए आये यात्री-जीव रहते हैं। उन सभी यात्री-जीवों की आत्माएँ प्यासी हैं। लेखक कहना चाहता है कि सारी अशान्ति, सम्पूर्ण विशृंखलता (Chaos) के मूल में यह आन्तरिक प्यास है, मानव की अतृप्त आकांक्षाएँ और वासनाएँ हैं। 'सोया हुआ जल' अन्तश्चेतन में सोई हुई इसी आन्तरिक प्यास का प्रतीक है। जर्जर मानवता अथवा मनुष्य को जाग्रत और सावधान रहने के लिए सचेत करने वाली उच्च मानवीय चेतना का प्रतीक है। बूढ़ा पहरेदार, जो बीमार है, अफीम खाकर पड़ा हुआ है और जो अन्त में मर जाता है। कमरा नं० ११ से आने वाली आवाज को यदि लेखक की आवाज मान लिया जाय तो मानवता की रक्षा का, इस विशृंखलता और अशान्ति को दूर करने का एक-मात्र उपाय यह है कि 'इन्सान को भीतर से बदलने दो, बाहर से बदलने से कोई काम नहीं चलेगा।'

कुछ लोगों का खयाल है कि 'डूबते मस्तूल' में भी समय-सम्बन्धी यह प्रयोग है। इसीलिए 'डूबते मस्तूल', 'चाँदनी के खण्डहर' और कभी-कभी जानकारी प्रकट करने के लिए 'यूलिसिस' को भी एक ही वर्ग में रख दिया जाता है। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धी इस प्रयोग का सम्बन्ध उपन्यास की कथा से है, जबकि 'डूबते मस्तूल' में उसकी कथा की काल-सीमा २४ घण्टे नहीं बल्कि रंजना द्वारा अपनी जीवन-कथा सुनाए जाने की काल-सीमा २४ घण्टे (या उससे भी कम, क्योंकि रंजना भी जीवन-कथा सुनने के लिए प्रथम पुरुष को स्टेशन से रंजना के बंगले तक आने और भोजन-स्नानादि में कुछ घण्टे खर्च हो गए हैं) है। इसमें सन्देह नहीं कि यह जेम्स ज्वायस की प्रेरणा से ही लेखक ने उपन्यास में '२४ घण्टे का प्रयोग' किया है। यही कारण है कि प्रयोग की भ्रान्ति में वह यह भूल गया है कि इससे उपन्यास में असंगति और अस्वाभाविकता का कितना बड़ा दोष आ गया है। पहला प्रश्न यह है कि रंजना की जीवन-कथा को प्रस्तुत करने का इतना अस्वाभाविक ढंग क्यों अपनाया गया है। क्या यह अस्वाभाविक नहीं है कि एक स्त्री एक अपरिचित व्यक्ति को अपने साथ किये गए व्यभिचार और बलात्कार की कहानी लगातार १४-१५ घण्टे दिन-रात जगकर सुनाती रहे ? और यह जानते हुए कि वह व्यक्ति उसका प्रेमी अकलंक नहीं है, उसे जबरदस्ती अकलंक मानकर, और अजीब अस्वाभाविक ढंग से उससे भी जबरदस्ती मनवाकर सारी कथा सुनाई जाती है। कथा का वह अंश तो विशेष द्रष्टव्य है, जिसमें रंजना अपने 'उस' अकलंक की प्रेम-कथा विस्तारपूर्वक अपने 'इस' अकलंक को सुनाती है।

रंजना वह असामान्य नारी-चरित्र है जिसके साथ हर व्यक्ति प्रेम का स्वाँग रचकर, धोखा देकर, बल पूर्वक उठा ले जाकर या कमरे में अकेली पाकर व्यभिचार और बलात्कार कर सकता है और जो बिना किसी विरोध के आत्म-समर्पण कर सकती है, हर किसी स्थिति से समझौता कर सकती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि इस अद्भुत सुन्दरी की सृष्टि ही ईश्वर ने इसी कार्य के लिए की थी और यह भी मान लिया जाय कि इस प्रकार वह निष्काम कर्मयोगी रमणी विशिष्ट मनस्थिति में पहुँचकर किसी भी व्यक्ति को चालाकी से अपने एकान्त गृह में बुलाकर खिलाखिलाकर और स्पर्श-सुख देकर अपनी इतनी महत्त्वपूर्ण जीवन-गाथा सुना सकती है, तब भी यह बात समझ में नहीं आती कि कथा सुनाने का यह 'सत्यनारायणी' ढंग क्यों अपनाया गया है। एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को समेटने वाली इतने लम्बे काल की कथा को अखण्ड रूप से १७-१८ घण्टे की अस्वाभाविक लगने वाली एक लम्बी बैठक में ही कहलवाने की जल्दबाजी क्यों ? सिवा इसके कि उपन्यासकार को '२४ घण्टे का प्रयोग' करना है, दूसरा कोई कारण नहीं समझ में आता। प्रयोग की इस मैनिया का ही यह परिणाम है कि कथानक का सारा सौन्दर्य तो नष्ट हो ही गया है साथ ही उपन्यास में अस्वाभाविकता का इतना बड़ा दोष आ गया है कि वह रोमांचक उपन्यासों से अधिक महत्त्व का नहीं रह गया है। किन्तु इतना अधिक मूल्य चुकाकर भी लेखक समय-सम्बन्धी प्रयोग को उपन्यास में नहीं ला सका है। कथा को कुछ घण्टे की काल-सीमा में बाँधकर लिखे गए उपन्यास 'डूबते मस्तूल' की तरह घटना-प्रधान नहीं हुआ करते।

प्रयोग के लिए प्रयोग का इससे भी अच्छा उदाहरण प्रभाकर माचवे का शुद्ध प्रयोगवादी उपन्यास 'परन्तु' है। सम्भवतः यह हिन्दी का पहला उपन्यास है, जिसमें 'उद्धरण-पद्धति' के प्रयोग को अपनाया गया है। इस प्रयोग के कारण इस उपन्यास में मौलिकता और नवीनता का अद्भुत आकर्षण आ गया है। इस दृष्टि से 'परन्तु' निश्चित रूप से 'अपने ढंग का अकेला उपन्यास' है। उपन्यास के अधिकांश पात्र उच्चकोटि के अध्येता हैं और वे प्रायः अपनी रुचि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनुसार विविध विषयों की पुस्तकें पढ़ते रहते हैं—कुमार सम्भव, गीता, पैराडाइज़ लास्ट, अन्योक्तिमुक्तलता और टी० एस० इलियट की कविता से लेकर नाट्यशास्त्र, जीव-विज्ञान और अखबारों की कटिंग्स तक। यथार्थ के तकाज़े को स्वीकार करके वे जो-कुछ पढ़ते हैं, उसे लेखक ज्यों-का-त्यों उद्धृत करता गया है। इस प्रकार डबल क्राउन साइज़ में छपे ८४ पृष्ठों के इस उपन्यास का लगभग एक चौथाई भाग इन महत्त्वपूर्ण उद्धरणों से भरा है। पाठकों को कहानियों के माध्यम से विविध विषयों का 'सामान्य ज्ञान' कराने की दिशा में इसे एक महत्त्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है। अतः उद्देश्य की दृष्टि से यह उपन्यास 'हितोपदेश' और 'मित्र लाभ' की परम्परा में आता है, उस परम्परा को आगे बढ़ाने में योग देता है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें इस 'उद्धरण-पद्धति' का अंग्रेज़ी के अन्तश्चेतनावादी उपन्यासों की 'चेतना-प्रवाह'-पद्धति के साथ अद्भुत सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। अध्येता पात्रों के अन्तश्चेतन या अन्तर्मन में कोई पुस्तक पढ़ते समय या अध्यापक का भाषण सुनते समय अनेक असम्बद्ध विचार-तरंगें उठती हैं। मनोवैज्ञानिक यथार्थ के आग्रह को मानकर लेखक इन असम्बद्ध विचारों को ज्यों-का-त्यों बीच-बीच में उद्धृत करता गया है।

उपन्यासकार का सूक्ष्म निरीक्षण तो आश्चर्य में डाल देने वाला है। उदाहरण के लिए अविनाश के कमरे में, विशेष रूप से उसकी मेज पर रखी हुई वस्तुओं की सूची देखी जा सकती है। मेज पर रखा हुआ स्याहीसोख का टुकड़ा और उस टुकड़े पर खिंची हुई अर्थशून्य आकृतियाँ और आँकड़े तक दे दिये गए हैं। इस पद्धति के आचार्य जेम्स ज्वायस में भी निरीक्षण की यह बारीकी शायद ही ढूँढ़ने से मिले। इस प्रकार इन तीन नई पद्धतियों—उद्धरण-पद्धति, चेतना-प्रवाह-पद्धति और विस्तृत सूची—के समन्वित प्रभाव से इस उपन्यास में मौलिकता और नवीनता का गुण अवश्य आ गया है, परन्तु वह उपन्यास किस प्रकार है यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों रह जाता है।

× × × ×

हिन्दी के नये उपन्यासों में आंचलिक और स्थानीय रंग (Regional touch and local colour) की इधर काफ़ी चर्चा है। 'मैला आँचल' के प्रकाशन ने इस चर्चा को और गति दी है। उपन्यास में आंचलिक तत्त्व और स्थानीय रंग को मैं कोई प्रयोग नहीं मानता। उपन्यास में अधिक-से अधिक यथार्थानुकारिता और स्वाभाविकता लाने के लिए पहले भी उपन्यासकार किसी स्थान अथवा अंचल विशेष की भाषा, रीति-रिवाज आदि का प्रसंगानुसार चित्रण करते रहे हैं। किन्तु 'मैला आँचल'-जैसा आंचलिक उपन्यास निश्चित रूप से हिन्दी में एक नया प्रयोग है। बात को स्पष्ट रूप से समझने के लिए आंचलिक उपन्यास और उपन्यास में यथास्थान आंचलिक और स्थानीय चित्रण के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। अन्तर उद्देश्य और प्रधानता का है। किसी अंचल विशेष की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का चित्रण करना आंचलिक उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य होता है, इसलिए उपन्यासकार वहाँ की भौगोलिक विशेषताओं के साथ-साथ वहाँ के लोगों के जीवन-स्तर, रीति-रिवाज, त्योहार, धर्म, लोक-विश्वास, भाषा आदि का चित्रण विशेष रूप से अपने उपन्यास में करता है; इसके लिए वह अवसर ढूँढ़कर किसी-न-किसी रूप में इन विशेषताओं को उपन्यास में लाता ही है। ऐसे उपन्यासों में कथा-सूत्र क्षीण, जीवन-वैविध्य अधिक और इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैविध्य-चित्रण में सहायक पात्रों का आधिक्य होता है। वर्णन की अधिकता के कारण आँचलिक उपन्यास में कथा काफी रुक-रुककर चलती है, किन्तु इससे रोचकता कम नहीं होती। अच्छे आंचलिक उपन्यास में ऐसे वर्णनात्मक स्थलों में उत्कृष्ट कोटि के स्केच जैसी—उससे भी अधिक—रोचकता होती है। दूसरी ओर ऐसे उपन्यास भी हैं या हो सकते हैं जिनमें आंचलिक और स्थानीय रंग के होते हुए भी, जिन्हें आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास अपनी इस विशेषता के लिए प्रसिद्ध होते हुए भी आंचलिक नहीं हैं। ऐसे उपन्यासों में वातावरण को अधिक सजीव और यथार्थ बनाने और पात्रों में स्वाभाविकता लाने के लिए, कथा के विकास-क्रम में परिस्थिति के अनुकूल यथास्थान आंचलिक और स्थानीय रंगों—रीति-रिवाज, भाषा आदि का पुट दे दिया जाता है। इससे उपन्यास के कथा-प्रवाह या रूप-गठन पर आंचलिक उपन्यासों की तरह का कोई असर नहीं पड़ता।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' आंचलिक उपन्यास का एक उत्कृष्ट उदाहरण है और सम्भवतः हिन्दी का यह पहला आंचलिक उपन्यास है। मेरे विचार से वही आंचलिक उपन्यास अधिक सफल सिद्ध हो सकता है जिसमें कथा बुनने के लिए किसी ऐसे आँचल को चुना गया हो जिसकी विशेषताओं से लोग कम परिचित हों। साथ ही उपन्यासकार का उस प्रदेश के लोक-जीवन से घनिष्ठ परिचय भी आवश्यक है। 'मैला आँचल' में पूर्णिया जिले को लिया गया है। पूर्णिया जिले की निश्चित रूप से कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, इन विशेषताओं में नेपाल, बंगाल, संथाल परगना और मिथिला आदि सीमावर्ती प्रदेशों की अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रभाव भी मिला हुआ है। पूर्णिया जिले के एक गाँव को आधार बनाकर लिखे गए इस उपन्यास में इन विशेषताओं को ही मुख्य रूप से उभारा गया है। इसीलिए गाँवों की जिन्दगी को लेकर लिखे गए अन्य उपन्यासों से यह भिन्न कोटि का उपन्यास है। गाँवों की जिन्दगी—विशेष रूप से इस अंचल की जिन्दगी का जितना वैविध्यपूर्ण चित्र इस उपन्यास में मिलेगा, उतना सम्भवतः हिन्दी के किसी अन्य उपन्यास में नहीं। एक गाँव की जिन्दगी के इतने अधिक पक्षों का इतना सजीव और यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने की दिशा में यह उपन्यास सम्भवतः प्रेमचन्द के उपन्यासों से भी आगे बढ़ा हुआ है। किन्तु इस उपन्यास के महत्त्व का आकलन करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इसकी आंचलिकता यदि एक ओर इसमें जीवन-वैविध्य लाने और यथार्थ को अधिक-से-अधिक सजीव बनाने में योग देती है, तो दूसरी ओर कुछ सीमाएँ भी बाँध देती है। अतः सुनियोजित कथानक और सशक्त चरित्र-विधान इसमें नहीं मिलेगा। होरी की तरह का आज के किसानों का प्रतिनिधित्व करने वाला सशक्त चरित्र इसमें कोई नहीं है। कारण यह है कि इस उपन्यास का उद्देश्य एक किसान की सम्पूर्ण जिन्दगी बताना नहीं, बल्कि एक गाँव की अथवा एक अंचल विशेष भी जिन्दगी को सामने रखना है। गाँवों में अनेक प्रकार के लोग रहते हैं और उनमें अलग-अलग चारित्रिक विशेषताएं होती हैं। इस उपन्यास में पात्र इन सभी चारित्रिक विशेषताओं को सामने रखने के लिए साधन-रूप में आए हैं। एक गाँव की भौगोलिक स्थिति, उस स्थिति का वहाँ के निवासियों के जीवन पर प्रभाव, विभिन्न जातियों और समुदायों की स्थिति और उनका पारस्परिक सम्बन्ध, रीति-रिवाज, धार्मिक स्थिति, राजनीतिक चेतना आदि का यथार्थ और सही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवरण देना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति में उपन्यासकार निश्चित रूप से सफल हुआ है। यही कारण है कि इस उपन्यास के किसी भी पात्र में नायक होने की क्षमता नहीं है। उपन्यास का नायक मेरीगंज गाँव ही हो सकता है, कोई पात्र नहीं।

साथ ही यह भी ध्यान में रखना है कि मेरीगंज गाँव पिछड़े गाँवों का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है। जैसा कि उपन्यासकार ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने इस गाँव को पिछड़े हुए गाँवों का प्रतीक मानकर अपनी कथा का क्षेत्र चुना है। अतः इसमें आज की बदली हुई परिस्थिति में भारतीय ग्रामीण जीवन के विकास का गत्यात्मक रूप नहीं मिलेगा। उपन्यासकार का यह उद्देश्य भी नहीं है। उपन्यास को आंचलिक रूप देने के साथ ही उसे कुछ हद तक इन सीमाओं में भी बँधना पड़ा है। ऐसे उपन्यासों का समाजशास्त्रीय मूल्य ही उनको श्रेष्टता प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। इस दृष्टि से 'मैला आँचल' हिन्दी में एक नया और महत्त्वपूर्ण प्रयोग तो है ही, साथ ही वह हिन्दी-उपन्यास को एक नई दिशा की ओर भी संकेत करता है।

गाँवों की जिन्दगी को लेकर नये लेखकों द्वारा इधर कई अच्छे उपन्यास लिखे गए हैं। इनमें डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप' तथा नागार्जुन का 'बलचनमा', 'नई पौध' और 'बाबा बटेसरनाथ' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें कथा-शिल्प-सम्बन्धी नया प्रयोग केवल 'बाबा बटेसरनाथ' में है। 'बाबा बटेसरनाथ' की कथा का अधिकांश एक पुरातन बट वृक्ष के द्वारा कहलाया गया है। इस बृहद् अंश में मुख्य रूप से बट-वृक्ष की ही आत्म-कथा कही गई है। कथा कहने की इस पद्धति का उद्देश्य बट वृक्ष की आत्म-कथा कहना भी है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उपन्यास के पूरे गठन को देखते हुए लगता है कि कपास और रुपये की आत्म-कहानी की तरह बट वृक्ष की आत्म-कहानी कहना ही उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य नहीं है, यद्यपि प्रधानता उसमें बट वृक्ष की ही है। सैकड़ों वर्ष की लम्बी आयु वाले बट वृक्ष के माध्यम से उपन्यासकार चार पीढ़ी पूर्व से लेकर अब तक के १००-१५० वर्षों के लम्बे काल में गाँव की जिन्दगी में होने वाले परिवर्तन का संक्षिप्त विवरण भी देना चाहता है। किन्तु दुहरे उद्देश्य और स्थान के अभाव के कारण इतने लम्बे काल की दो धाराओं में बटी घटनाओं को उपन्यासकार ठीक से समेट नहीं सका है। साथ ही इतने लम्बे काल की कथा को रात-भर में ही बट वृक्ष द्वारा कहलवाने के कारण उसमें विवरणात्मकता भी आ गई है और उसके कुछ अंश सचमुच ही 'प्रवचन' मालूम पड़ते हैं। बट वृक्ष की 'आप बीती' से निश्चित रूप से नागार्जुन जी की मौलिक प्रतिभा और ग्रामीण जीवन से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध का पता चलता है। यदि नागार्जुन जी अधिक सँभालने का लोभ थोड़ा सँभाल पाते, तो शायद वे ग्रामीण जीवन के घनिष्ठ परिचय से प्राप्त अपने महत्त्वपूर्ण सत्य को अधिक व्यापक स्तर पर और अधिक सफलता से व्यक्त कर सकते।

अमृतलाल नागर का हास्य-प्रधान उपन्यास 'सेठ बाँकेमल' आगरा की बोल-चाल की भाषा में लिखा हुआ अपने ढंग का अकेला उपन्यास है। भाषा और कथा-शिल्प दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी-उपन्यास में यह एक नया प्रयोग है। दुकान पर ही बैठे-बैठे आगरा के सेठ बाँकेमल अपनी और अपने मित्र चौबेजी की जवानी के दिनों की मस्ती, जिन्दादिली और 'तरबैटी' की कहानियाँ अपने भतीजे (चौबेजी के पुत्र) को बिलकुल आगरा की बातचीत के लहजे में सुनाना शुरू करते हैं और दुकान बन्द होने तक सुनाते रहते हैं। साथ ही इस गप्प की दौरान में आने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले ग्राहकों तथा अन्य व्यक्तियों को भी बीच-बीच में निपटाते जाते हैं। सेठ बाँकेमल द्वारा कुछ ही घण्टों के भीतर कही गई उनकी मस्ती, जिन्दादिली और बिजनैसी दाव-पेंच-सम्बन्धी गप्प (सं० गल्प) ही इस उपन्यास की कथावस्तु है। उपन्यास का सारा आकर्षण सेठ बाँकेमल के व्यक्तित्व में निहित है, जो पुराने तजुर्बेकार बुड्ढे की तरह हर किसी बात पर अपनी और अपने ज़माने की तारीफ़ करना शुरू करते हैं, जिसमें गप्प का अंश ही अधिक रहता है। पात्रों को अधिक-से-अधिक यथार्थ और स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करने तथा उनके अनुकूल स्वाभाविक भाषा के प्रयोग में नागर जी-जैसी कुशलता कम उपन्यासकारों में पाई जाती है।

× × ×

हिन्दी के प्रयोगात्मक उपन्यासों के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उनमें से अधिकांश में रूप शिल्प-सम्बन्धी नये प्रयोग किसी निश्चित उद्देश्य की सिद्धि के लिए किये गए हैं। प्रयोग के उद्देश्य को लेकर ही प्रयोग की सार्थकता और उसके महत्त्व पर विचार किया जा सकता है, तात्पर्य यह कि प्रयोग की सारी सार्थकता नवीन रूप-शिल्प के अन्वेषण के लिए बाध्य करने वाले उद्देश्य को लेकर है। उदाहरण के लिए 'सोया हुआ जल' में उपन्यासकार अनेक व्यक्तियों के भावों, विचारों और कार्यों का समकालवर्तित्व दिखाना चाहता है, इसके लिए उसे बाध्य होकर सिनेरियो-टेकनीक को अपनाना पड़ा है क्योंकि हिन्दी-उपन्यासों की किसी प्रचलित पद्धति द्वारा वह अपने इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता था। इस उद्देश्य की सिद्धि के साथ ही, उसके रूप-शिल्प-सम्बन्धी नये प्रयोग की सार्थकता सिद्धि हो जाती है। यह अलग प्रश्न है कि जिस यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए वह यह समकालवर्तित्व दिखाना चाहता है, वह कितने महत्त्व का है। सम्भव है कोई दूसरा उपन्यासकार यथार्थ के किसी अन्य पहलू को दिखाने के लिए इसी पद्धति का सहारा ले। उपन्यास के महत्त्व और श्रेष्टता आदि का आकलन करते समय अवश्य उसके प्रयोग के महत्त्व के साथ-साथ उस यथार्थ की महत्ता और लघुता तथा अन्य बहुत-सी बातों पर विचार करना होगा। यह कसौटी प्रयोगात्मक उपन्यासों के लिए जितनी सही है, उतनी ही परम्परागत रूप-शिल्प में लिखे गए उपन्यासों के लिए भी। फिर भी इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि आज के यथार्थ का कोई पक्ष ऐसा हो सकता है जिसके चित्रण के लिए कुछ हद तक नये रूप-विधान का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। किन्तु प्रयोग की नवीनता बिलकुल मौलिक और नई उद्भावना में ही नहीं होती; पुराने लेखकों द्वारा प्रयुक्त शैली को, उसमें थोड़ा परिवर्तन अथवा विस्तार लाकर अपने उद्देश्य के अनुरूप नये ढंग से, नये रूप में प्रयोग करने में भी उतनी ही नवीनता आ जाती है।

इन उपन्यासों के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन प्रयोगों द्वारा हिन्दी-उपन्यास एक नई दिशा की ओर मुड़ रहा है और उनमें स्वस्थ सामाजिकता की प्रवृत्ति के साथ-साथ यथार्थ के नये स्तरों का विकास हो रहा है। प्रयोग की दिशा में प्रारम्भिक प्रयत्न होने के कारण, उसमें कई अभाव (सशक्त चरित्र के अभाव की ओर सबसे पहले ध्यान जाता है) हो सकते हैं या हैं, किन्तु जिस दिशा में ये प्रयोग हो रहे हैं, वह दिशा स्वस्थ है, यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है। इसलिए आज के यथार्थ को, मानव व्यक्तित्व के संघटनात्मक और निर्माणात्मक तत्त्वों को विभिन्न कोणों से, विभिन्न आयामों में चित्रित कर सकने के लिए आज का उपन्यासकार जिन नई पद्धतियों का प्रयोग कर रहा है, उनका केवल इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिरस्कार नहीं किया जा सकता कि जिन उपन्यासों में ये प्रयोग किये गए हैं, उनमें अन्य दृष्टियों से कुछ कमियाँ हैं; या टालस्टॉय, डिकेन्स या प्रेमचन्द की तुलना में वे सामान्य कोटि के ठहरते हैं। ऐसा करना साहित्यिक प्रगति की प्रक्रिया से अनभिज्ञता प्रकट करना तो होगा ही, साथ ही उसकी असीम सम्भावनाओं को लक्ष्य न करके प्रारम्भ में ही उसका गला घोंट देना होगा। निश्चित ही यहाँ मैं उन निरुद्देश्य प्रयोगों का समर्थन नहीं कर रहा हूँ जो केवल चौंकाने और सस्ती ख्याति प्राप्त करने के लिए ही किये जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वेतोज़ार पेत्रोविच

यूगोस्लावियन साहित्य की वर्तमान समस्या

यूगोस्लाविया के प्रमुख साहित्यिक पत्रों ने इस वर्ष अपने प्रथम अंकों में गत नवम्बर को बेलग्राद में हुए एक साहित्यिक वाद-विवाद की कार्यवाही प्रकाशित की। इस वाद-विवाद का आयोजन 'यूगोस्लावियन लेखक संघ' ने किया था, जिसके लगभग सभी समकालीन यूगोस्लाव साहित्यिक सदस्य हैं। इस संघ के द्वारा आयोजित सभी समारोहों तथा सभाओं में यूगोस्लाविया के असाहित्यिक जन भी रुचि रखते थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि ये सभाएँ प्रायः सामान्य जनता तथा देश के राजनीतिक जीवन में नवीन धाराओं का प्रवहन करती थीं और देश के सैद्धान्तिक विकास को गत महायुद्ध के बाद से काफी प्रभावित किया करती थीं।

बेलग्राद में हुआ यह साहित्यिक वाद-विवाद समकालीन यूगोस्लाव साहित्य[1] में कोई युगांतरकारी घटना नहीं मानी जा सकती। कला और साहित्य के सम्बन्ध में होने वाले तर्क साहित्यिक क्रान्तियों को जन्म नहीं दे सकते। परन्तु इस अन्तिम वाद-विवाद ने तो लोगों की चिन्तन-पद्धति को उतना भी परिवर्तित नहीं किया जितना कि पहले के वाद-विवाद किया करते थे। फिर भी बेलग्राद के परिसंवाद ने यूगोस्लाव के साहित्य तथा संस्कृति की एक प्रक्रिया को पूर्ण रूप दिया, जो वहाँ कुछ वर्षों पूर्व प्रारम्भ हुई थी। विकसित होती हुई कई चिन्तन-धाराएँ इसमें कुछ और परिपक्व तथा निश्चित हुई हैं तथा कुछ नवीन दिशाओं का आभास भी मिला है।

१. प्रस्तुत निबन्ध में यूगोस्लाव साहित्य की चर्चा है। किन्तु वस्तुतः यूगोस्लाव साहित्य कोई एक नहीं है। ९वीं से ११वीं शती तक एक प्राचीन स्लावोनिक साहित्य वर्तमान था जिसके सभी स्लाव भागी थे—दाक्षिणात्य (स्लोवीन, क्रोट्स, सर्ब्स, मैसीडोनियन्स, बल्गेरियन्स), पश्चिमी (जेक, स्लोवाक्स, पोल्स) तथा पूर्वी (रूसी, यूक्रेनियन और पूर्वी रूसी)। तब से कई शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं और वे पारस्परिक बन्धन, जो समस्त स्लाव जाति को बाँधे हुए थे, भौगोलिक दूरी, चिन्तन वैभिन्न्य-तथा राजनीतिक और धार्मिक शक्तियों के प्रभाव के फलस्वरूप टूट गए। तब से दाक्षिणात्य (यूगोस्लाव) लोगों ने अपने-आपको स्वतन्त्र राष्ट्रीय वर्गों में विकसित कर लिया। १९१८ ई० तक दाक्षिणात्य स्लाव (बल्गेरियन लोगों के अतिरिक्त) एक संयुक्त राष्ट्र बना चुके थे। परन्तु अब तक भी परम्परागत विभिन्नता समाप्त नहीं हुई थी और विभिन्न भाषाएँ तथा परम्पराएँ स्लोवीन, क्रोट्स, सर्ब्स तथा मैसीडोनियन्स साहित्य को जन्म दे चुकी हैं। परन्तु फिर भी एक विदेशी के लिए उनमें विरोध की अपेक्षा समानता ही अधिक दिखाई देती है। इसीलिए एक यूगोस्लाव साहित्य की चर्चा करना सम्भवतः बहुत गलत न होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: १ :

दिसम्बर १९४९ में जाग्रेब में हुई यूगोस्लाव लेखक-संघ की द्वितीय कांग्रेस के अवसर पर प्रथम बार साहित्यिक प्रश्नों पर नये ढंग से बात शुरू हुई। कांग्रेस की बहसों में एक नये लेखक पेतर शेगेदिन का साहित्यिक आलोचन पर भाषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

शेगेदिन साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में मार्क्स-लेनिनीय पद्धति को अपनाने तथा एक यथार्थवादी एवं समीक्षा-शास्त्र को विकसित करने का समर्थन कर रहा था। वह उस युद्ध का भी समर्थक था जो 'हर पतनोन्मुख, आकारात्मक तथा अस्वस्थ' प्रवृत्तियों को साहित्य से निष्कासित करने के लिए भूल रहा था, क्योंकि इस प्रकार का युद्ध बुर्जुआ तत्त्वों के अवशेष के विरुद्ध था। परन्तु उसका भाषण प्रायः समस्त रूप से यूगोस्लाव साहित्य में उदित होने वाली कुछ 'नकारात्मक प्रवृत्तियों' के विरोध में था, जो "हमारे अपने जीवन की परिस्थितियों तथा उन नियमों के फलस्वरूप था जो हमारे कलात्मक प्रयोगों के दौरान में परीक्षित नहीं हुए थे।"

उसने सावधान होने की सलाह दी : "मनुष्य इतिहास का निर्माता है और वही उसका निर्णायक है; अतः यद्यपि वह मार्क्स-लेनिनीय सौन्दर्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुकूल चले भी······फिर भी वह प्रायः गलत रास्ता पकड़ सकता है (ऐसा सोचने में)। यहीं प्रश्न उठता है समीक्षा की कसौटी का।"

अपने भाषण में शेगेदिन ने मार्क्स की "१८४४ ई० की आर्थिक तथा दार्शनिक पाण्डुलिपियों से एक ऐसे स्थल से उद्धरण दिया जहाँ पर उसने अपनी 'मानवीय भावना-सम्बन्धी' धारणा की परिभाषा दी है और इसे समकालीन यूगोस्लावी साहित्यिक आलोचना को कुछ प्रवृत्तियों के विरोध में दिखाया है।" हमारे आलोचकों ने प्रायः सीमित राजनीतिक प्रयोगों के लिए पक्षधर साहित्य के सिद्धान्तों को गलत समझा है और ऐसा करने में वे तात्कालिक आवश्यकता से प्रभावित हुए हैं और मार्क्स के उस वाक्य को भूल गए हैं, जिसके अनुसार, गहरी तात्कालिक आवश्यकता से बँधे हुए भाव का एक सीमित अर्थ होता है। एक समीक्षक, जिसने एक सक्रिय आदर्श के समक्ष अपने-आपको झुका दिया है, जब 'स्वाभाविक मानव की उत्कृष्टता'[1] की भावना को अलग रख देता है तब वह केवल इसी विश्वास से अभिभूत रहता है कि उसे एक मतवाद के लिए आवश्यक रूप से कार्य करना है और इस प्रकार कार्य करने से वह उस धरातल पर पहुँचता है जिसे मार्क्स ने 'मानवीय भावना' के नाम से सम्बोधित किया है और भी, "जब (साहित्य का) एक सामाजिक तथा वर्ग-नियमन एक संकीर्ण व्यावहारिक दृष्टि से, जो, मानवीय मूल्य को सीमित करता है, बदल जाता है, तो उसके घातक परिणाम अवश्यम्भावी है।"

"मैं नये लेखकों की कविता की समीक्षा पढ़ रहा था और मैं उसकी गतिविधि देखकर क्षुब्ध हुआ। एक भी कविता, एक भी चरण मार्क्स के अर्थ में आलोचना का विषय नहीं बन सका (मेरा विषय वही बन सकता है जो मेरे अस्तित्व की भावना को पुष्ट करता है)। एक ओर की बातचीत बहुत चातुर्यपूर्ण है, उसमें ज्ञान के बड़े भण्डार का प्रयोग हुआ है—केवल इन पंक्तियों को छोड़कर :

1. मार्क्स से एक उद्धरण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हेमन्त का महीना था; हम सब बच्चे थे,
और तभी मैंने किस्मत को देखा,
उसने मुझे आधी की आधी पेस्ट्री दी
और गहरी भावना से उसने सिर झुका लिया।

आलोचक लिखता है : "कभी-कभी जीवन के प्रति यह निश्छल दृष्टिकोण जब सामयिक समस्याओं से अलग हो जाता है तो बुर्जुआ भावनाओं को जन्म देता है।"

"यह निश्चय ही महान् कविता नहीं है शायद मौलिक भी नहीं है। पर मैं कहता हूँ कि मैं उस व्यक्ति के साथ कठिनाई से ही रह सकूँगा जिसको इस प्रकार की कविताएँ सामयिक समस्याओं से सम्बद्ध नहीं दिखाई देतीं। जैसा कि कवि कहता है, मनुष्य को इस 'किस्मत' से वंचित क्यों रखा जाय? और वह भी किस नाम पर? शौर्य के नाम पर, दुःख के नाम पर, बुद्धिमत्ता के नाम पर, त्याग के नाम पर।"

अपने भाषण के दौरान में, साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में विकसित क्रान्तिकारी नायक की ओर संकेत करते हुए शेगेदिन ने इस बात पर बल दिया कि कोई भी नायक वहाँ नहीं रह सकता जहाँ 'मानवीय भावना' लुप्त हो गई है। "वह एक राक्षस हो सकता है, परन्तु मानवीय नायक नहीं।"

शेगेदिन ने फॉर्मलिज्म तथा डिकेडेन्स के विरुद्ध किये जाने वाले आक्रमणों की भी चर्चा की। उसने 'वस्तु तत्त्व' के लिए उस पागलपन को दिखाया जिसने एक ऐसे वातावरण को जन्म दिया जिसमें 'रूस' से सम्बन्धित किसी भी विवेचना को सन्देह की निगाह से देखा जाने लगा। उसके अनुसार 'रूप' का यह तिरस्कार भी डिकेडेंस का ही एक उदाहरण है।

: २ :

आज के यूगोस्लाविया में शेगेदिन का भाषण सम्भवतः ही किसी को स्पर्श कर सकता है। लगभग छः वर्ष के बाद अब उस पर लोग केवल मुसकरा देते हैं।

१९४९ से स्थिति में काफी परिवर्तन आ गया है।

तब से यूगोस्लाव के साम्यवादी यह समझ गए हैं कि अपने आन्तरिक नियमों से विकसित होने वाले समाज अथवा वर्ग-विनिर्मित समुदाय की मार्क्सीय भावना का उस सामान्य विश्वास से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, जिसके अनुसार 'जीवन के सभी क्षेत्रों को' एक संगठित ढंग से प्रभावित किया जा सकता है, चाहे वे मानवीय हों अथवा अमानवीय हों। एक आधुनिक यूगोस्लाव की दृष्टि में एक दल के लिए एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को संगठित कर पाना बहुत कठिन है, भले ही उसके ऐतिहासिक उद्देश्य महान् हों।

शेगेदिन का भाषण साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से भी बहुत ऊँचा नहीं माना जा सकता। इसकी कट्टर सिद्धान्तवादिता थकाने वाली है। मानवीय भावना के मार्क्सीय विचार पर उसका अधिक बल देना समुचित नहीं था और जब यह मानवीय भावना साहित्यिक वाद-विवादों में दुहराया जाने वाला सामान्य नारा हो गया तो शेगेदिन के निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण नहीं रहे वरन् एक सामान्य असम्बद्ध अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया जो उक्त शब्द से सम्बद्ध कर दिया गया। कुल मिलाकर शेगेदिन का भाषण एक विराट् प्रेरणा तथा स्पष्ट अनुसन्धान के रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में नहीं था वरन् वह एक ईमानदार तथा साहसपूर्ण वक्तृता थी। उसकी समीक्षा-दृष्टि (निर्णय के सिद्धान्त का प्रश्न ?) नई थी। यह तथ्य तो और भी नया था कि एक ऐसा व्यक्ति जो राजनीति के क्षेत्र में प्रसिद्ध नहीं था बिना किसी दलगत नियन्त्रण के यूगोस्लाव साहित्य के सम्बन्ध में अपना मत दे सके।

कोमिनफॉर्म के यूगोस्लाविया पर आक्रमण (१९४८ ई०) के बाद से एक वास्तविक परिवर्तन हुआ। पब्लिक स्कूलों की कुछ समस्याओं पर सेंट्रल कमेटी द्वारा एक प्रस्ताव पास किये जाने के बाद, जिसके अनुसार व्यक्ति को साम्यवादी अर्थात् स्वतन्त्र बनाया जाय, उक्त परिवर्तन हुआ। यूगोस्लाविया की संस्कृति में राजनीतिक मतवाद पर यह पहला आक्रमण था। प्रथम बार विभिन्न मतों के स्वतन्त्र संघर्ष का अनुमोदन किया गया।

द्वितीय कांग्रेस के अवसर पर शेगेदिन के भाषण की प्रशंसा भी हुई और उसका विरोध भी किया गया। पत्र-पत्रिकाओं में भी कुछ दिनों से वाद-विवाद चल रहे हैं। शायद ये वाद-विवाद पूर्णतः स्वस्थ नहीं थे। कम-से-कम एक केन्द्र में तो इसका आभास शेगेदिन के भाषण से भी मीला था।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे समीक्षकों पर भी आक्रमण चलते रहे जिन्होंने पहले कभी जैदोनग का अनुसरण किया था। रावान जोगोविच, सेंट्रल कमेटी के प्रचार-विभाग का भूतपूर्व सदस्य तथा एव प्रतिभावान कवि इस प्रकार के आक्रमणों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त समझा गया। तभी उसने अपने-आपको यूगोस्लाविया के विरुद्ध कोमिनफॉर्म के प्रस्ताव के समर्थक के रूप में घोषित किया।

: ३ :

प्रथम महायुद्ध के दौरान में नवयुवक यूगोस्लाव लेखकों की एक पीढ़ी ने हत्या तथा पाशविकता के वातावरण में रूसी क्रान्ति का स्वागत किया और उसके द्वारा साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध का समर्थन किया। युद्ध के बाद एक राजा की तानाशाही में आर्थिक निर्धनता से जकड़े एक पिछड़े हुए बालकन देश के निवासी के रूप में वे साम्यवाद की ओर उन्मुख हुए। उनका आदर्श था "एक ऐसा संघ, जिसमें एक का स्वतन्त्र विकास सबके स्वतन्त्र विकास की अपेक्षा रखता है, जैसा कि एक शताब्दी पूर्व के घोषणा-पत्र में कहा गया था। उनके साम्यवादी आदर्श में एक ऐसा समाज था जिसमें राज्य की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और वह फिर कभी सिर नहीं उठाती। फ्रेडरिक एँगल्स के समान ही उनके लिए सामाजिक क्रांति का अर्थ था 'मानवता का आवश्यकता के क्षेत्र से उठकर स्वतन्त्रता के क्षेत्र में प्रवेश।' एक कट्टर तथा संकुचित समाज का सामना करते हुए वे अकेले ही स्वतन्त्र चीन तथा स्वतंत्र अनुसन्धान के वातावरण के लिए पचीस वर्ष तक लड़ते रहे। इस प्रकार वे कार्ल मार्क्स के निकट थे जिसने अपना प्रिय मुहावरा बताया था प्रत्येक वस्तु सन्दिग्ध है।

१९३३ ई० में ही कुछ दूरदर्शियों ने यह देख लिया था कि 'समाजवाद के प्रथम देश' में कुछ गड़बड़ चल रही है। उन्होंने अपने सन्देह सबके सम्मुख व्यक्त किये परन्तु उन्होंने अपनी बात मुलायमियत से कही, क्योंकि इतनी दूरवर्ती घटनाओं पर उचित निर्णय एका-एक देना कठिन था, इसलिए और भी क्योंकि जिस संस्था के द्वारा उन्हें ये समाचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलते थे, उसकी तटस्थता तथा ईमानदारी में उन्हें पूरा सन्देह था।

इसके बाद फ़ासिस्ट खतरा आया, और फिर युद्ध का प्रारम्भ हुआ। फ़ासिस्टों ने देश पर कब्जा कर लिया और उन सबको उन्होंने सहयोग दिया जो उनकी सहायता करना चाहते थे। और यूगोस्लाव राष्ट्रों के सभी जिगोवादी उन्हें सहयोग देने के लिए तैयार थे, क्योंकि इसके लिए उन्हें उनके चर्चों ने प्रोत्साहन दिया था। उस युद्ध में सभी चर्च घृणा का प्रचार कर रहे थे, राइफ़ल और चाकू को धर्म-परिवर्तन का माध्यम बनाया गया था। १७ लाख व्यक्ति अर्थात् प्रति १० यूगोस्लाव व्यक्तियों में से एक व्यक्ति मारा गया था। इस युद्ध में यूगोस्लाव की कम्यूनिस्ट पार्टी भ्रातृत्व तथा एकता के नारे के साथ लड़ रही थी। इस प्रकार युद्ध को क्रान्ति में बदल दिया गया था। न केवल युद्ध-पूर्व युग के वाम पक्षी लेखक वरन् लगभग सभी महत्त्वपूर्ण यूगोस्लाव लेखक इसमें सम्मिलित हो चुके थे। तभी युद्ध की समाप्ति हुई और राष्ट्र का नव निर्माण प्रारम्भ हुआ। इस बात से क्या अन्तर पड़ता था, यदि कई साहित्यिक सिद्धातों की बलि अन्तिम लक्ष्य के लिए दे दी गई।

तभी १९४८ ई० में कोमिनफार्म का प्रस्ताव आया। इससे बड़ा धक्का लगा। कुछ तो इसे सहन नहीं कर सके। जो कर भी सके उन्होंने बहुत-सी बातों को नये प्रकाश में देखा। उदाहरणार्थ उन्होंने समझा कि यदि लक्ष्य प्राप्त करना है तो कुछ भी त्याग करने की आवश्यकता नहीं, तथा जिस माध्यम से कोई व्यक्ति किसी मार्ग पर आया है उसे वह मार्ग पर चलने के समय भूल सकता है।

पिछले तीस अथवा चालीस वर्षों में एक सामान्य यूगोस्लाव बुद्धिजीवी का इतिहास लगभग इसी प्रकार का रहा है।

इस सम्बन्ध में और भी विस्तृत विवरण दिया जा सकता है—उदाहरणार्थ मिरोस्लाव कुलेजा का।

: ४ :

१९५३ ई० में मिरोस्लाव कुलेजा की ६० वीं वर्षगाँठ मनाई गई थी। उस समय बहुत से प्रशंसकों के लिए कुलेजा निर्विवाद रूप से सबसे महान् लेखक था। कुछ लोग तो उससे यूगोस्लाव इतिहास का सबसे महान् व्यक्तित्व मानते थे। आलोचक उस समय पिछले ३ या ४ दशकों को कुलेजा युग कहकर अभिहित करते थे। जो लोग इतना नहीं मानते थे उनके लिए भी कुलेजा एक प्रतिभावान् लेखक तो था ही। अस्तु, उस समय उसके बारे में कुछ खरी बातें भी कही गई थीं, यद्यपि आज यह निश्चित रूप से माना जाता है कि कुलेजा अभी सबसे विवादास्पद लेखक है।

जो भी हो अच्छा हो या बुरा कुलेजा का प्रभाव यूगोस्लाव के बौद्धिक तथा साहित्यिक वातावरण में अत्यधिक था। जब प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर उसने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया जिसके पूर्व उसके प्रारम्भिक प्रयत्नों को कोई मान्यता नहीं दी गई थीं, तो उसके युद्ध-गीतों तथा प्रतीकात्मक नाटकों ने (जो अभिनेय नहीं हैं, यद्यपि कुलेजा के अनुसार वे अभिनेय हैं।) लोगों को सबसे अधिक प्रभावित किया।

जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया अधिकाधिक संख्या में बुद्धिजीवी तथा साहित्यकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुलेजा की रचनाओं की ओर आकृष्ट होते गए । लगभग समस्त दो पीढ़ियाँ उनके कुलेजा के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर विभक्त किया जा सकता है । यूगोस्लाव संघ में कुलेजा शैली को मान्यता दी गई और उसका प्रभाव अब भी कम नहीं हुआ है । इससे भी अधिक कुलेजा अपने सहयोगियों को एक दृष्टि दे रहा था । लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उसकी रचनाएँ उपलब्ध हैं ।

प्रथम पंद्रह वर्षों तक कुलेजा पर दक्षिण पंथी दलों तथा रूढ़िवादी साहित्यिकों के आक्रमण होते रहे । वामपक्षीय आक्रमण प्रथम बार १९३३ में हुआ ।

: ५ :

१९३० के आस-पास सोवियत यूनियन में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे । प्रथम निष्कासनों का युग था और दर्शन तथा साहित्य में प्रथम बार विद्रोह हो रहा था । उसी समय पार्टी के साहित्य-सम्बन्धी निर्णयों को घोषित किया गया और सोवियत लेखकों की प्रथम कान्फ्रेन्स (१९३४) की तैयारी होने लगीं । 'सामाजिक यथार्थवाद' का कार्यक्रम निर्धारित हुआ जिसके अनुसार ज़दानोव का प्रथम महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ ।

१९३३ ई० में कुलेजा ने क्रुस्तो हेगेदुशिव के चित्रों के संकलन की भूमिका लिखी जिसे प्रायः 'कुलेजा की भूमिका' कहा जाता है । इस भूमिका में कुलेजा के कला और साहित्य-सम्बन्धी विचार थे । भूमिका में कुलेजा ने कहा कि "कला इसी दुनिया की चीज है, उसमें दिव्य तत्त्व कुछ भी नहीं है ।

"निस्सन्देह सौन्दर्य तटस्थ तथा इस संसार से परे नहीं हो सकता। परन्तु एक कला-कृति का सामाजिक प्रभाव प्रायः ऐसा नहीं हो सकता जिसे कलाकार चाहता है और कभी-कभी तो किसी कला-कृति का प्रभाव लेखक की कोई इच्छा न रहने पर भी बहुत व्यापक हो जाता है । इसके अतिरिक्त एक ही कृति का प्रभाव विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार का हो सकता है और इसलिए किसी कला कृति का मूल्य आँकने के लिए उसका सामाजिक प्रभाव कसौटी नहीं माना जा सकता ।

भूमिका के प्रकाशित होने के कुछ ही दिनों बाद किन्हीं अज्ञात महोदय ने एक वामपक्षी साहित्यिक पत्रिका में कला पर आक्रमण किया । उक्त लेखक ने कुलेजा को विश्वास-घाती सिद्ध किया और कहा वह दक्षिण-पंथी होता जा रहा है । वह कला के सामाजिक अर्थ को नहीं समझ पा रहा है । वह अबौद्धिकता का समर्थक है । कुल मिलाकर कुलेजा मार्क्सवादी न होकर पतनोन्मुख तथा बुर्जुआ है । उसकी कृतियों में निराशावाद भरा हुआ है और वह जीवन के अन्धकारमय पक्ष को ही चित्रित कर सका है ।

इस अज्ञात लेखक को उस समय कोई सहयोग न मिल सका । कम्युनिस्ट पार्टी के दाएँ-बाएँ आने वाले साहित्यिक पत्रों ने उसका खुले-आम विरोध किया ।

और तभी यूगोस्लाविया भी युद्ध में सम्मिलित हो गया ।

: ६ :

युद्धोपरान्त कुलेजा की स्थिति आरम्भ में कुछ विचित्र-सी हो गई । वह राजनीतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा सामाजिक समस्याओं पर विशेष रूप से लिख रहा था और उसका समर्थन क्रान्ति के लिए था। परन्तु साहित्य के बारे में उसने कुछ भी नहीं लिखा। यह अनुमान लगाना कठिन है कि उसके मौन का कारण वह वाद-विवाद था जो बड़ी असुखद परिस्थितियों में समाप्त हुआ, अथवा गलत बातों में क्रान्ति का विरोध करने के लिए उसकी अनिच्छा ही इसका प्रधान कारण थी।

कोमिनफॉर्म के प्रस्ताव (१६४८ ई०) के बाद ही कुलेजा ने फिर युगोस्लावी साहित्यिक वातावरण में प्रवेश किया। एक प्रकार से उस समय की नाटकीय घटनाओं में कुलेजा की आत्मा उपस्थित थी। विश्वास की अपेक्षा चिन्तन का प्राधान्य, आदर्श की अपेक्षा तर्क के प्रति सम्मान, अन्धसिद्धान्तों के प्रति अरुचि—युगोस्लाव कम्युनिस्ट-आन्दोलन की विशेषताएँ रही हैं।

युगोस्लाव लेखक-संघ की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर कुलेजा की याद सबको आई। पेतर शेगेदिन के भाषण के माध्यम से उसके प्रभाव का भान लोगों को हुआ। कांग्रेस के अवसर पर वह स्वतः भी बोला। वह राजाओं और सम्राटों तथा रोम और बाइजौनरीयम के महलों दुःस्वप्नवत् जुलूस के बारे में कह रहा था जो दक्षिण स्लॉव देश में रक्त तथा मृत्यु की गन्ध लिये अतीत के एक हजार वर्ष पूर्व से आ रहा था।

और यह जुलूस अब एक दूसरी ओर से भी आ रहा था। 'मानवीय आत्मा के स्रष्टाओं' में से एक ने 'बुडापेस्ट ट्रायल'[1] के शिकार व्यक्तियों के बारे में लिखा कि अपनी सभी अनैतिकता के साथ वे 'टीटोवादी जन्तु' अदालत में उसी प्रकार खड़े थे जैसे मध्यकालीन जादूगरनी। मार्क्सवादी की दृष्टि से मैनीफ़ेस्टो के एक शताब्दी बाद मध्यकालीन जादूगरनी प्रश्नकारी अदालत के सम्मुख अपनी सारी अनैतिकता के साथ खड़ी हुई हैं और वे एक निर्णीत हत्या की अपराधी नहीं वरन् टीटोवादी जन्तु हैं। इसीको मार्क्सीय तर्क-शास्त्र कहते हैं, जिसके बारे में सन्देह करना खतरनाक है, क्योंकि ये उदार आलोचक तथा 'मानवीय आशा के शिल्पी' हमारे घर के चारों ओर फाँसी के स्थल बना रहे हैं।

तीसरी कांग्रेस के अवसर पर मिरोस्लाव कुलेजा साहित्य की प्रवृत्तियों के बारे में फिर बोल रहा था। उसने कहा कि युगोस्लाव लेखकों को ऐसी प्रवृत्ति का विरोध करना चाहिए, जो कला को किसी राजनीतिक वाद का अनुयायी बना देती है। यह प्रवृत्ति समकालीन सोवियत सौन्दर्य-शास्त्र को पश्चिमी यूरोप के १६वीं शती के बुर्जुआ उपयोगितावादी सिद्धान्तों से द्वितीय सामाजिक तथा प्रजातान्त्रिक इंटरनेशनल के माध्यम से मिली। इसी प्रकार उनको ऐसी धार्मिक, रूढ़िवादी तथा साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का भी विरोध करना चाहिए जो साहित्य को किसी भी रूप में पक्षधर बनाना चाहती हैं। परन्तु युगोस्लाव लेखक भी उस समाज के प्रति तटस्थ नहीं रह सकते जो निष्पक्ष पश्चिमी यूरोपीय सौन्दर्य-शास्त्र का प्रचार कर रहा है। समाजवाद के लिए संघर्ष वस्तुतः मनुष्य के तथा उसकी जीवन-पद्धति के मानवीकरण के लिए

१. सितम्बर १६५४ ई० में बुडापेस्ट में लास्लोराज्य तथा अन्य ग्रन्थों पर अमेरिका जासूस विभाग के संरक्षण में टीटो द्वारा आयोजित जासूसी तथा विद्रोह के लिए मुकदमा चलाया गया। अभियोगी ने अपराध स्वीकार किया। लास्को को राज्य से फाँसी मिली। मृत्यु से बचकर जो लोग कारागार गए वे, थोड़े दिन हुए, निर्दोष कहकर बरी किये गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः प्रत्येक ईमानदार कला कृति इस संघर्ष में समाजवाद को सहयोग देती है। इस भाव से पिछली शताब्दी के 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को मानने वाले कलाकार भी सामाजिक रूप से प्रगतिशील थे। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि ईश्वर के अभाव में भी एक अच्छा चित्र बनाया जा सकता है। वे गोलगोथा के कथानकों पर आधारित धार्मिक चित्रावली के विरोध में थे, जो शताब्दियों से यह सिखा रही थी कि इस संसार को सदैव ही अश्रु तथा रुदन से आप्लावित रहना है।

जनवरी १९५४ ई० में विलोवान जिलास यूगोस्लाव की संघीय कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया। जिलास की राजनीतिक पद्धति को यदि हम छोड़ दें तो कहा जा सकता है कि उसने यूगोस्लाव साहित्य की बहुत बड़ी सहायता ऐसे समय में की थी, जब वह (साहित्य) समाज में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा था।

जिलास के पतन के पश्चात् कई ऐसी भविष्य-वाणियाँ की गई जिनके अनुसार साहित्य में फिर से पार्टी-प्रतिबन्ध लगाए जाने की आशंका थी। उसी समय लेखकों के एक समुदाय ने जिलास के विरुद्ध आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। इस तीखे वाद-विवाद में यह पता लगाना कठिन हो गया कि ये लगाये हुए आक्षेप कहाँ तक सही हैं। सम्भवतः इनमें कुछ सत्य भी आ रहा हो, यद्यपि 'नोवामीसाओ' संघ के व्यक्तियों का प्रभाव बेओग्रेद के अतिरिक्त और किसी साहित्य-केन्द्र में अनुभव नहीं किया गया। इस समय यह बात अधिक महत्त्वपूर्ण थी कि 'नोवामीसाओ' के उन आलोचकों ने इस बात में अधिक दिलचस्पी दिखाई कि वे साहित्य के सम्बन्ध में पार्टी की नई विचार-धारा का निर्माण कर सकें और उसका प्रतिनिधित्व कर कर सकें यह अनिश्चय कुछ समय तक ही चला। फिर यह बताया गया कि एक राजनीतिक संगठन के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी किसी विशिष्ट साहित्यिक वर्ग अथवा मान्यता का समर्थन नहीं करना चाहती और सिद्धान्तों के प्रश्न पर साधारणतः तर्कों के सहारे वह हस्तक्षेप कर सकती है। इसके अतिरिक्त कोई शासकीय हस्तक्षेप नहीं होने दिया जायगा।

: ७ :

युगोस्लाव-लेखक-संघ द्वारा आयोजित पिछले वाद-विवाद (नवम्बर १९५४) ने एक विभाजित चित्र उपस्थित किया, ऐसा चित्र जो इसके पूर्व पिछले महायुद्ध से लेकर अब तक कोई साहित्यिक वाद-विवाद उपस्थित न कर सका था।

ऊपर से देखने पर जान पड़ेगा कि जो मत वैभिन्न्य समस्याओं को लेकर कुछ दिनों से चला आ रहा है—'यथार्थवादी' और 'आधुनिक', 'परम्परावादी' और 'ऐहिक-वर्गीय', 'पुराने' और 'नये' के बीच सदा रहता है। फिर भी यह मत-वैभिन्न्य प्रायः दिखावे के लिए थे। जैसा कि एम० कुलेजा को लेकर कुछ नवयुवक लेखकों ने बल देकर कहा भी था, अथवा उससे भी अधिक बल देकर जो बातें उस वर्ष के प्रथम महीनों में होने वाले वाद-विवाद को लेकर कही गई थीं।

एक वास्तविक वाद-विवाद होने की अपेक्षा वस्तुतः बेओग्राद में होने वाला यह वाद-विवाद लगभग तीस भाषाओं का एक संकलन अधिक था। व्यक्तिगत लेखकों की समस्याएँ प्रायः विभिन्न चिन्तन-पद्धतियों से सम्बद्ध थीं। उनकी भाषा और उनका दृष्टिकोण भी उतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही विभिन्न था। जब कभी वे एक ही शब्द को एक से अधिक बार कहते थे, तो निश्चय ही उनके अर्थ अलग-अलग होते थे।

स्वभावतः एक ऐसे वाद-विवाद का संक्षिप्त रूप देना इतने कम पृष्ठों में सम्भव नहीं। यही नहीं ऐसा लगता है कि प्रस्तुत निबन्ध में यह अधिक उचित भी नहीं! पाठक को यह ज्ञान हो सकता है कि युगोस्लावियन आलोचना अब एक ऐसी संक्रान्तिकालीन स्थिति में है, जैसी स्थिति इसके पूर्व के तीखे वाद-विवादों में भी नहीं रहीं (वस्तुतः नियमित रूप से होने वाले मत-वैभिन्य साहित्य के लिए एक शुभ लक्षण हैं)। सम्भवतः यह संक्रान्तिकालीन स्थिति कोमेनफ़ार्म के प्रस्ताव के बाद वाली स्थिति से साम्य रखती हो, यद्यपि इस बार साहित्यिक समस्याएँ नैतिक और राजनीतिक प्रश्नों से भी अधिक उलझ गई हैं। यह आशा की जा सकती है कि इस संक्रान्तिकालीन स्थिति में से नये मूल्यों का उदय होगा, यद्यपि वे मूल्य नवीन तथा उत्कृष्टतर होने पर भी अन्तिम नहीं कहे जा सकेंगे। फिर भी बेल्ग्राद के इस वाद-विवाद को पिछले साहित्यिक झगड़ों को तय करने वाला माना जा सकता है, यद्यपि इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि कुछ नये साहित्यिक प्रश्न फिर से उभरकर आवें। अतः इस सम्बन्ध में पूरा विचार भविष्य के सन्दर्भ में ही हो सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

डॉ० शम्भूनाथ सिंह

लेखक का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है

साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न आज के युग का कोई बिलकुल नवीन प्रश्न हो ऐसी बात नहीं है। पूर्ववर्ती युगों में भी साहित्य में यौन-सम्बन्धों का नग्न और अतिरंजित चित्रण बहुत अधिक मिलता है। कालिदास ने 'कुमार सम्भव' के आठवें सर्ग में तथा 'मेघदूत' में कुछ स्थलों पर जैसी अश्लील उपमाएँ दी हैं वैसा आज के साहित्य में भी बहुत कम मिलेगा। संस्कृत और हिन्दी के रीति-साहित्य में शृङ्गार के अन्तर्गत नायक-नायिका के नख-शिख-सौन्दर्य, हाव-भाव चेष्टा, अनुभाव, दूती, अभिसार तथा काम-विलास के विविध पक्षों का इतनी सूक्ष्मता और विस्तार से वर्णन किया गया है कि उन्हें आज के युग में सभ्य समाज में दुहराना भी लज्जास्पद माना जाता है। और-तो-और, हिन्दी के भक्त और सन्त-कवियों में भी कहीं-कहीं यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अतः अश्लील-चित्रण आज के साहित्य की नई वस्तु नहीं है। फिर भी आज इस प्रश्न ने जैसा रूप धारण कर लिया है वैसा पूर्ववर्ती युगों में कभी नहीं था। वस्तुतः यह प्रश्न आज के सचेत और प्रबुद्ध पाठकों, आलोचकों और चिन्तकों के सम्मुख एक गम्भीर समस्या का रूप धारण करके उपस्थित हुआ है। अतः इस सम्बन्ध में नये दृष्टिकोण से तथा साहित्य को उसके सामाजिक परिपार्श्व में रखकर विचार करने की आवश्यकता है।

भारतवर्ष का आधुनिक युग से पूर्व का डेढ़ हजार वर्षों का साहित्य सामन्ती युग में निर्मित और विकसित साहित्य है। सामन्ती युग में समाज के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढाँचे की तरह सांस्कृतिक और सौन्दर्यबोधात्मक, क्रियाशीलता और रुचियों का स्वरूप भी सामन्ती वर्ग राजा, सामन्त, सेठ-साहूकार आदि के संस्कार-व्यवहार और विचार-परम्परा के अनुरूप निर्मित होता है। इस वर्ग की अवकाशजन्य विलासिता और नारी-सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब तत्कालीन साहित्य में बहुत स्पष्टता से दिखाई पड़ता है। विकासशील सामन्त-युग के साहित्य में शृङ्गारिकता की यह प्रवृत्ति उतनी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप में नहीं मिलती जितनी परवर्ती ह्रासोन्मुख सामन्ती-युग में। ह्रासोन्मुख सामन्ती-युग (जैसे हिन्दी का रीति-काल) के सामाजिक ढाँचे के भीतर साहित्य विलास का साधन-मात्र था, अतः उस काल के साहित्य में अश्लील चित्रणों की अधिकता स्वाभाविक है। सम्भवतः उस समय की सामाजिक रुचि ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतनी विकृत हो गई थी कि समाज के बीच इस तरह की नग्न और अशोभनीय बातों का वर्णन लज्जाजनक नहीं माना जाता था। भक्ति के क्षेत्र में भी यह विकृत रुचि प्रविष्ट हो गई थी जो जयदेव, विद्यापति तथा कुछ कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। भक्तिपरक साहित्य में फिर भी गनीमत थी, क्योंकि वहाँ आध्यात्मिक प्रतीकों का आवरण तो था, किन्तु लोकपरक साहित्य में राधा-कृष्ण के नाम का आवरण इतना क्षीण या अशक्त सिद्ध हुआ कि उससे अशोभनीय या अश्लील जीवन-दृश्यों और तथ्यों के वर्णन में वृद्धि ही हुई। शृङ्गारिकता की यह प्रवृत्ति औद्योगिक युग की नई सामाजिकता और विचार-परम्परा के कारण कम हुई। सांस्कृतिक पुनरुत्थान और मानववादी विचार-धारा के प्रसार के साथ नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना हुई। प्रारम्भ में तो शृङ्गारिकता की प्रतिक्रिया अनुदारता की सीमा तक पहुँच गई और शृंगार-वर्णन ही वर्जित समझा जाने लगा किन्तु बाद में पूँजीवादी व्यक्तिवाद के विकास के साथ स्वच्छन्दतावादी विद्रोह और व्यक्तिवादी स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति ने इस प्रकार के अनुदार नियन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। फलत: आधुनिक छायावादी साहित्य में शृंगार का सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण होने लगा। ऐसे साहित्य में स्थूल शृङ्गारिकता और अश्लील चित्रणों के लिए अवकाश नहीं था, क्योंकि साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में लोगों की मान्यता अब बिलकुल बदल गई थी। किन्तु इसी युग में पाश्चात्य मानववादी विचार-धारा के सम्पर्क के कारण यथार्थवादी साहित्य का भी उदय हुआ जिसमें जीवन का कोई भी अंग या पक्ष अवर्ण्य या वर्जित नहीं माना जाता था। इसी धारणा के परिणामस्वरूप 'उग्र', ऋषभचरण जैन आदि कथाकारों ने समाज के गोपन और अश्लील किन्तु अछूते पक्षों का नग्न चित्रण किया। यद्यपि ऐसे लेखकों की ओर से तर्क यह दिया गया कि समाज के सुधार के लिए ही ऐसे साहित्य का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार के साहित्य को आदर्शवादी आलोचकों ने 'घासलेटी' साहित्य की संज्ञा दी, किन्तु ध्यान देने की बात है कि महात्मा गांधी जैसे आदर्शवादी व्यक्ति ने 'उग्र' के ऐसे साहित्य की समाज-सुधार की दृष्टि से सराहना की।

आधुनिक युग के छायावादोत्तर-काल में यथार्थवाद की इस परम्परा ने नवीन रूप धारण किया। वह चार धाराओं में विकसित हुई—१–सामाजिक यथार्थवाद की धारा, २–मनोविश्लेषणात्मक धारा, ३–प्रयोगमूलक कलावादी धारा, ४–व्यक्तिवादी उच्छृङ्खलता की धारा। इन चारों ही धाराओं में यथार्थ चित्रण के नाम पर अश्लील और अशोभनीय वर्णन मिलते हैं। किन्तु इन धाराओं से भी अधिक अश्लील चित्रण आज एक ऐसी धारा में मिलता है जो न तो यथार्थवादी है, न आदर्शवादी और न शुद्ध साहित्यिक। इस सस्ते काल्पनिक रोमांचक साहित्य की रचना का एक-मात्र उद्देश्य अपरिपक्व मस्तिष्क वाले पाठकों की भावुकता का अनुचित लाभ उठाकर पैसा पैदा करना है। इस प्रकार का साहित्य आज रेलवे-बुकस्टालों तथा शहर की दुकानों पर ढेर-का-ढेर खुले-आम बिकता है, क्योंकि ऐसे साहित्य के प्रकाशक पुस्तक-विक्रेताओं को मुँहमाँगा कमीशन देते हैं। ऐसे ही साहित्य की बिक्री आज सबसे अधिक हो रही है और समाज के युवक-युवतियों का मस्तिष्क उसके द्वारा बहुत तीव्र गति से और बड़े पैमाने पर निरन्तर विकृत किया जा रहा है। इस तरह गम्भीर साहित्य और बाजारू साहित्य, दोनों में आज अश्लीलता की प्रवृत्ति इस सीमा तक बढ़ गई है और समाज पर उसका इतना बुरा प्रभाव पड़ रहा है कि इस प्रश्न ने एक गम्भीर समस्या का रूप धारण कर लिया है। वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्या इस कारण और भी उलझनपूर्ण बन गई है कि उच्च शिक्षा-प्राप्त, सुसंस्कृत और विद्वान् आलोचकों में से कुछ लोग जिस ग्रन्थ को अश्लील बताते हैं उसे ही अन्य आलोचक अश्लीलता-रहित और महान् कला-कृति घोषित करते हैं। 'घेरे के बाहर' नामक उपन्यास के सम्बन्ध में इसी प्रकार के परस्पर-विरोधी मत व्यक्त किये गए हैं। अतः इस समस्या के सम्बन्ध में प्रधान विचारणीय प्रश्न ये हैं—अश्लीलता की यह प्रवृत्ति आज इतनी क्यों बढ़ गई है? अश्लीलता की सामान्य मान्यता क्या है? आज के साहित्य में अश्लीलता किस सीमा तक ग्राह्य या अग्राह्य है और अग्राह्य अश्लील चित्रणों से युक्त साहित्य के प्रति समाज और साहित्यकार का क्या रुख होना चाहिए।

भारतीय समाज आज एक जबरदस्त आन्तरिक विरोध के बीच से होकर गुजर रहा है। सम्भवतः वह किसी गुणात्मक परिवर्तन के द्वार पर आ खड़ा हुआ है। समाज का आर्थिक ढाँचा पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित है। विश्व में पूँजीवादी व्यवस्था ह्रासोन्मुख होकर अपने नाश की ओर अग्रसर हो रही है। किन्तु भारत में पूँजीवाद को समाप्त करने की जगह उसे और भी प्रश्रय दिया जा रहा है। इधर मध्यवर्गीय जनता का जीवन आर्थिक कठिनाइयों के भार से उत्तरोत्तर पिसता जा रहा है, बेकारी, विशेषकर शिक्षितों की बेकारी, की समस्या निरन्तर उग्र होती जा रही है। शिक्षित बेकारों के सामने दो ही रास्ते रह गए हैं, या तो वे अवैध कार्यों द्वारा जीवन-यापन करें या इस प्रकार के काल्पनिक, रोमाञ्चक और उत्तेजक साहित्य में अपने मन को रमाकर यथार्थ जीवन के संघर्ष से पलायन करें। ऐसी सामाजिक व्यवस्था के भीतर अपराधपरक, सस्ते, रोमांचक और कामोत्तेजक साहित्य की खपत बहुत होती है। यही कारण है कि आज जासूसी, हत्याओं से सम्बन्धित तथा काल्पनिक और नग्न यौन चित्रणों वाले साहित्य का निर्माण बहुत अधिक हो रहा है। ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार के साहित्य के निर्माता अधिकतर वे लोग हैं, जिन्हें सम्यक् शिक्षा प्राप्त न होने से अथवा समुचित परिस्थिति के अभाव में जीवकोपार्जन का अन्य कोई रास्ता न मिला, जिससे वे सस्ते बाजारू साहित्य के लेखक बनकर सरलतापूर्वक अर्थोपार्जन करने लगे हैं।

किन्तु इस प्रकार के साहित्य को बाजारू या साहित्येतर रचना मानकर टाल देने के बाद भी समस्या का अन्त नहीं हो जाता। अश्लीलता की यह प्रवृत्ति जब शिष्ट या गम्भीर साहित्य के भीतर भी दिखाई पड़ती है और कुछ लोगों द्वारा यथार्थवाद, मनोविश्लेषण-शास्त्र या कलावाद के नाम पर उसका समर्थन किया जाता है तो प्रश्न और भी विचारणीय बन जाता है। वस्तुतः एक ही सामाजिक व्यवस्था के भीतर उपर्युक्त दोनों प्रकार के साहित्यों की रचना होती है; अतः गम्भीर साहित्य में भी उस व्यवस्था का प्रतिबिम्बन और प्रतिफलन होना स्वाभाविक है। यथार्थवादी और मनोविश्लेषणात्मक साहित्य में सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के उन पक्षों को उद्घाटित किया जाता है जो वास्तविक होते हुए भी गोपनीय होते हैं अथवा जिनके बारे में लोगों को अधिक जानकारी नहीं होती। यथार्थवादी साहित्यकारों का लक्ष्य समाज की छिपी हुई बुराइयों, विशेषकर नारी की वास्तविक स्थिति का चित्रण करके समाज को सचेत करना और उसकी दुरवस्था को दूर करना होता है। अतः साहित्य में यौन सम्बन्धों, मानव के गोपनीय अंगों, आंगिक चेष्टाओं आदि का जो उनमें नग्न चित्रण मिलता है वह उनके महत्तर लक्ष्य की पूर्ति का साधन-मात्र होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोविश्लेषणात्मक साहित्य भी यथार्थवाद की सीमा के भीतर ही आता है यद्यपि उसे सामाजिक यथार्थवाद से भिन्न करने के लिए मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिवादी यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती है। पूँजीवादी समाज में नाना प्रकार की समाजिक विवशताओं से उलझकर वैयक्तिक चेतना कुण्ठित हो जाती है; व्यक्ति की दमित या अतृप्त वासनाएँ विकृत होकर अनेक प्रकार के उपद्रव करती और अपराध तथा अस्वाभाविक और अस्वस्थ यौन-सम्बन्धों के रूपों में अभिव्यक्त होती हैं। व्यक्ति के इन्हीं रहस्यमय रूपों का चित्रण मनोविश्लेषणात्मक साहित्य करता है। इस प्रकार के साहित्य का उद्देश्य भी व्यक्ति के माध्यम से समाज का सुधार ही होता है, जिसके लिए लेखक साधन-रूप में अश्लील चित्रणों का सहारा लेता है। कलावादी साहित्य में लेखक की सम्पूर्ण शक्ति रूप-विधान के निखार और नवीन रूप-शिल्प की खोज या प्रयोग में लगती है। उसके लिए कोई भी वस्तु अश्लील, अनैतिक या पापमय नहीं होती, वस्तुतः वह विषय-वस्तु या कथ्य को महत्त्व ही नहीं देता, क्योंकि वह उसे रूप-शिल्प से भिन्न नहीं मानता। रूप-शिल्प या कलात्मक पूर्णता ही उसका लक्ष्य होता है। अतः अश्लील या अनैतिक तथ्यों या वस्तुओं के चित्रण को वह बुरा नहीं मानता क्यों कि उसके अनुसार कला की सीमा में आकर सब-कुछ शुभ और शिव बन जाता है। कलावाद (रूपवाद) के अनुसार कला के क्षेत्र में श्लील या अश्लील, पाप या पुण्य, शिव या अशिव का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो केवल यही देखा जाता है कि कोई वस्तु सुन्दर है या असुन्दर। चौथी साहित्यिक धारा व्यक्तिवादी उच्छृङ्खलता की धारा है जिसमें लेखक अपने निजी ऐन्द्रिक और जुगुप्साजनक अनुभवों का वर्णन सच्ची-सीधी अभिव्यक्ति के नाम पर करता है। कवि अपनी प्रेयसी के साथ प्रेमालाप, आलिंगन, चुम्बन, अभिसार आदि का सीधा और अभिधात्मक वर्णन करते हैं। बच्चन, नरेन्द्र और नीरज से प्रभावित आज के अनेक नये कवियों में, जो कवि-सम्मेलनों की सस्ती लोकप्रियता को ही सब-कुछ मानते हैं, यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। अतिशय और नग्न ऐन्द्रिकता की यह प्रवृत्ति कविता में ही नहीं, कथा-साहित्य में भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

समसामयिक हिन्दी-साहित्य में अश्लीलता की प्रवृत्ति क्यों और किस सीमा तक बढ़ गई है, इसका संक्षिप्त विवेचन कर लेने के बाद भी यह प्रश्न हो सकता है कि अश्लीलता को समस्या बनाकर उपस्थित करना संकीर्ण या अनुदार मनोवृत्ति का परिचय देना अथवा साहित्य के स्वतन्त्र अस्तित्व को धार्मिक और नैतिक नियंत्रणों में बाँधना है। यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक साहित्य में अश्लीलता का इतना विस्तार देखना अतिरंजना है; क्योंकि इस प्रकार का अधिकांश साहित्य वास्तव में अश्लील नहीं है। अतः इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अश्लीलता क्या है, इस बात को समझ लेना आवश्यक है।

भारतीय साहित्य-परम्परा में नाटकों में सम्भोग, चुम्बन, आलिंगन आदि रति-विषयक कार्यों तथा जुगुप्साजनक और अमंगलसूचक क्रियाओं का प्रदर्शन वर्जित है। किन्तु श्रव्य-काव्य में शृंगार, बीभत्स और करुण रसों के भीतर उन्हींका वर्णन बराबर होता रहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि अश्लील या जुगुप्साजनक कार्य देखने में तो बुरे माने जाते थे पर उन्हें बुराई नहीं माना जाता था। लेकिन प्रभाव की दृष्टि से वस्तुतः देखने और सुनने की क्रियाओं में कोई तात्विक अन्तर नहीं है, मात्रा का अन्तर भले ही हो। इसी कारण आधुनिक युग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में पाश्चात्य नाटकों की तरह भारतीय नाटकों में भी पुरानी वर्जनाओं को अस्वीकार करके भोजन मृत्यु आदि कार्य प्रदर्शित किये जाते हैं, यद्यपि अश्लील दृश्यों का प्रदर्शन अब भी बुरा माना जाता है। यह हमारे सभ्य जीवन की एक बहुत बड़ी व्याधि है कि हमारी वाणी और क्रिया में सामञ्जस्य नहीं रह गया है। असभ्य आदिवासी जातियों का जीवन सभ्यता की कृत्रिम वर्जनाओं से कुण्ठित नहीं हुआ है। इस कारण उनके दृष्टिकोण, वाणी और क्रिया में कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता। संस्कृति के एक सामान्य स्तर पर पहुँचकर मानव ने आचार-सम्बन्धी कुछ ऐसे नियम बनाये जो सभी देशों, जातियों और कालों में समान रूप से मान्य रहे हैं। यौनी क्रियाओं की गोपनीयता और शरीर के गुप्तांगों को आवृत रखने की प्रथा भी मानव के उन्हीं सामान्य और सार्वभौम आचारिक नियमों में से है। इन क्रियाओं और अंगों का समाज के बीच वर्णन या उद्घाटन करने वाला व्यक्ति या तो असभ्य और अशिष्ट माना जाता है या वह स्वयं मानसिक विक्षिप्तता की अवस्था में होता है। किन्तु चिकित्सा-शास्त्र और और काम-शास्त्र के क्षेत्र में ये बातें गोपनीय नहीं है, क्योंकि वहाँ जीवन को सुरक्षित और व्यवस्थित बनाने के उद्देश्य से उन क्रियाओं और अंगों का वैज्ञानिक विश्लेषण और ज्ञान आवश्यक होता है। किन्तु व्यावहारिक दैनन्दिन जीवन में खुले आम वे क्रियाएँ न तो की जातीं और न कही जाती हैं। इस तरह निष्कर्ष यह निकलता है कि यौन-क्रियाओं और शरीर के गुप्तांगों का समाज के बीच खुले-आम प्रदर्शन या वर्णन ही अश्लीलता है, चाहे वह जीवन में हो या साहित्य में।

आज हमारे समाज में कृत्रिम सभ्यता के कारण इतनी अधिक सामाजिक और आचारिक वर्जनाएँ रूढ़ि रूप में, व्यक्ति को जकड़कर, फैली हुई हैं कि उनसे नाना प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ और कुण्ठाएँ उत्पन्न होकर व्यक्ति के मन को विकृत बना रही हैं। यही विकृति या उन रूढ़ियों के विरुद्ध होने वाली अस्वस्थ प्रतिक्रिया आज के साहित्य में अश्लील चित्रण के रूप में अभिव्यक्त हो रही है। कोई प्रतिक्रिया अस्वस्थ तब होती है जब वह औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर देती है। सामाजिक औचित्य यह है कि रूढ़िगत, आचारिक नियन्त्रणों के विरुद्ध विद्रोह होना चाहिए और सामान्य सार्वभौम आचारिक नियमों की रक्षा होनी चाहिए। जब इस औचित्य की सीमा को तोड़कर सामान्य मानवीय आचारों का भी विरोध होने लगता है तो उसका परिणाम साहित्य में अश्लील चित्रण या कुण्ठाओं के समर्थन के रूप में दिखलाई पड़ता है। प्रारम्भ में जिस समाजिक अन्तर्विरोध की चर्चा की गई है वह इस बात में भी दिखलाई पड़ती है कि ऐसे साहित्यकारों के भीतर इतना साहस नहीं कि साहित्य में वे जिन बातों को अश्लील या गोपनीय समझकर भी निःसंकोच रूप में व्यक्त करते हैं, व्यावहारिक जीवन में भी उनके अनुसार खुले-आम आचरण करें। क्रिया और वाणी के बीच यह विरोध हमारे नैतिक ह्रास का द्योतक है। क्रिया और वाणी के सामञ्जस्य का अर्थ यह है कि व्यावहारिक जीवन में जो आचारिक दृष्टि से गोपनीय या वर्जित नहीं है उसे ही सार्वजनिक उपयोग के लिए वाणी-बद्ध किया जाय और जो गोपनीय या वर्जित है उसे साहित्य में भी गोपनीय और वर्जित माना जाय।

किन्तु जिस तरह व्यावहारिक जीवन में गोपनीय और अवर्ण्य मानी जाने वाली बातें भी काम-शास्त्र और चिकित्सा-शास्त्र में विचारणीय और वर्णनीय मानी जाती हैं उस तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य में भी आवश्यकता पड़ने पर इनका वर्णन किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य को काम-शास्त्र या चिकित्सा-शास्त्र का रूप दे दिया जाय। जैसा कुछ मनोविश्लेषणवादी साहित्यकार इस समय कर रहे हैं। साहित्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वरूप है पर वह जीवन के सभी पक्षों और विषयों से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध भी है। जीवन में सामाजिक आचारों का जितना महत्त्व है उतना ही साहित्य में भी होना चाहिए और उसी तरह काम-शास्त्र या चिकित्सा-शास्त्र का जीवन में जो स्थान है, साहित्य में उनका भी उनके अनुरूप चित्रण होना चाहिए। यदि मानव का साध्य जीवन का चरम आनन्द है तो आचार-शास्त्र, काम-शास्त्र आदि सभी उनके साधन हैं। अतएव इन साधनों में परस्पर विरोध नहीं, सामंजस्य होना चाहिए। एक बात ही आचार-शास्त्र, की दृष्टि से अश्लील और कामशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर अश्लीलता-रहित प्रतीत हो सकती है। किन्तु साहित्यकार के पास वह सामंजस्य-बुद्धि होनी चाहिए जिसके द्वारा वह साहित्य और जीवन के चरम लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए आचार-शास्त्र और काम-शास्त्र के बीच प्रतिभासित होने वाले विरोधों का शमन कर सके। विरोध-शमन का एक-मात्र उपाय यह है कि लेखक का दृष्टिकोण स्वस्थ और उदार हो, उसका उद्देश्य स्पष्ट और महान् हो और उसमें मानसिक ग्रन्थियाँ तथा कुण्ठाएँ न हों।

उपर के विवेचन का निष्कर्ष यह है कि यौन-क्रियाओं और अवर्णनीय अवयवों का वर्णन साहित्य में हर हालत में बुरा ही नहीं होता। लेखक यदि पाठकों में अपने उद्देश्य के अनुरूप प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इस प्रकार का वर्णन करता है तथा इस पद्धति द्वारा उद्देश्य-सिद्धि में सफलता प्राप्त करता है तो उसका यह कार्य अनौचित्यपूर्ण या असामाजिक नहीं माना जायगा। आधुनिक युग के अनेक महान् कथाकारों—गोर्की, जोला, आस्कर वाइल्ड, डी० एच लारेन्स आदि ने इस प्रकार के अश्लील-वर्णन किये हैं पर इससे उनकी महानता में कमी नहीं आई और न उनकी कला को ही कोई दोषी ठहराता है। वस्तुतः प्रधान तत्त्व किसी रचना का प्रभाव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अश्लील सदैव अश्लील है जिस तरह चोरी या झूठ सदैव चोरी और झूठ हैं, किन्तु ये सदैव बुरे भी होते हैं ऐसी बात नहीं है। कोई वस्तु अपने-आपमें अच्छी या बुरी नहीं होती, उपयोग और प्रभाव से ही अच्छे और बुरे का निर्णय होता है। यदि अश्लीलता का उपयोग सदुद्देश्य के लिए होता है और उसका प्रभाव भी बुरा नहीं, अच्छा पड़ता है तो अश्लीलता बुरी नहीं हो सकती। इसके विपरीत वह अश्लील-चित्रण श्लाघनीय माना जायगा। जो व्यक्ति की अस्वस्थ मानसिक ग्रन्थियों और कुण्ठाओं और समाज के दुराचारों और कुरीतियों को मिटाने के लिए साधन-रूप में प्रयुक्त हुआ हो। यदि लेखक स्वयं उसमें रस लेता और पाठकों की पाशविक या काम-वृत्तियों को उत्तेजित करने के लिए ऐसा चित्रण करता है और इससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो वह अश्लील चित्रण अवश्य अग्राह्य तथा निन्दनीय है। जेम्स ज्वायस के उपन्यास पर 'युलिसिस' पर अमेरिका में रोक लगा दी गई थी। उस सम्बन्ध में हुए मुकदमे अमेरिका के एक हाई-कोर्ट के जज ने यह निर्णय दिया कि 'युलिसिस' को अश्लील उपन्यास नहीं माना जा सकता, क्योंकि उससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़ने की कोई आशंका नहीं है। हिन्दी के उपन्यासों में 'सुनीता' और 'शेखरः एक जीवनी' के बारे में भी यही बात कही जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु अनेक उपन्यास ऐसे भी हैं जिनमें उद्देश्य की महत्ता नहीं अथवा जिनका कोई उद्देश्य ही नहीं है, साथ ही उनमें विस्तार के साथ रति-क्रियाओं का वर्णन मिलता है। ऐसा साहित्य, चाहे वह मनोविश्लेषणवाद के नाम पर, किसी भी आधार पर श्लाघनीय नहीं हो सकता। ऐसे निरुद्देश्य और असामाजिक अश्लील-चित्रणयुक्त साहित्य के प्रति साहित्यकार, समाज और शासक-वर्ग का क्या रुख होना चाहिए, यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

विजयदेव नारायण साही

साहित्यिक 'अश्लीलता' का प्रश्न

जब बालज़ाक-जैसा उपन्यासकार 'ड्रोल स्टोरीज़' लिखने के लिए प्रस्तुत हो जाता है तो हम विवश हो जाते हैं कि साहित्य में श्लीलता-अश्लीलता का विवेक सोच-समझकर करें। सतही तौर से देखने पर, तसवीर का एक ही पहलू दीखेगा। किन्तु परिणाम यह होगा कि बहुत-से महान् लेखकों और उत्कृष्ट कला-कृतियों को ताले में बन्द कर देना होगा। यह निश्चित करना होगा कि नंगी मूर्तियाँ या नंगे चित्र क्यों अश्लीलता की कोटि में नहीं आते, या आते भी हैं तो उत्कृष्ट कला-कृति क्यों माने जाते हैं? क्या कोई कृति अश्लील और साथ-ही-साथ उत्कृष्ट कला-कृति हो सकती है? या कला की उत्कृष्टता अश्लील विषय को भी अश्लील नहीं रहने देती? या ऐसी कौन-सी मजबूरी है कि बालज़ाक 'ड्रोल' कहानियों की ओर प्रेरित होता है या बायरन-जैसा कवि अपनी पूरी शक्ति के साथ 'प्लेटो' और उसके 'प्लेटोनिक प्रेम' पर तीखे प्रहार करता हुआ उल्लासमय, जीवन्त, किन्तु वासनामय प्रेम का चित्र खींचता है और फिर गेटे-जैसा विचारक, सुधारक और कलाकार बजाय छिः-छिः करने के कहता है कि बायरन-जैसा मस्तिष्क शेक्सपीयर के अतिरिक्त इंगलैण्ड में हुआ ही नहीं।

अमूर्त सिद्धान्तों के सम्बन्ध में संसार में कभी भी विवाद नहीं हुआ है। कठिनाई तब होती है जब अमूर्त सिद्धान्त मूर्त और व्यावहारिक रूप धारण करने लगते हैं। तब विवाद उपजते हैं। अधिक-से-अधिक शुभाशंसा प्राप्त करने का तरीक़ा यह है कि अमूर्त सिद्धान्तों में, निराकार सूत्रों में बात कही जाय। सब सहमत, प्रसन्न और सुखी होंगे। सिर्फ एक ही बात नहीं होगी—अर्थ कुछ नहीं निकलेगा। विचारक नामधारियों में से प्रायः निरर्थक बात कहने से उतना संकोच नहीं करते जितना सार्थक वाक्य से। क्योंकि सार्थक वाक्य खतरनाक होता है। वह बचकर निकल भागने या समय रहते बदल जाने का रास्ता नहीं छोड़ता। उदाहरण के लिए साहित्य लोक-मंगल के लिए है, यह एक अमूर्त, अतः निर्विवाद, अतः निरर्थक सूत्र है। इससे पुराण और पुराण-विरोध दोनों ही सिद्ध किया जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र में ऐसा ही एक अमूर्त सिद्धान्त यह भी है कि अश्लीलता अवांछनीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश-काल से निस्संग इस वक्तव्य से असहमत होना असम्भव है। क्योंकि इस वक्तव्य का कोई अर्थ नहीं है। वक्ता या विचारक हमेशा 'किन्तु कालिदास की बात दूसरी है' अथवा 'कृष्ण और गोपियों का रास-वर्णन अश्लीलता में नहीं आता' कहकर छूट सकता है। एकाध तुलाधार ऐसे भी हैं, जिन्हें सूरदास या कालिदास या व्यास की चर्चा करते समय केवल ऊँचे सिद्धान्त, वेदान्त और वेदितव्य, ही दिखते हैं और समकालीन नये लेखकों की ओर मुड़ते हैं तो सिवाय अश्लीलता के उन्हें कोई आलोच्य ही नहीं जान पड़ता। स्पष्ट है कि पुरानों के लिए आँख बचा जाना और नयों के लिए गला फाड़कर चिल्लाना हमारी श्रद्धा-वृत्ति चाहे व्यक्त करे, बौद्धिक सन्तुलन का प्रमाण तो प्रस्तुत ही नहीं करता।

विवेचन के लिए मूल प्रश्न यह है कि साहित्य में अश्लीलता क्या है, इसका निरूपण कैसे किया जाय?

अश्लीलता के अन्तर्गत मूलतः यौन-आचार ही का विवेचन किया जाता है। यद्यपि इसको मात्र यौन-आचार तक सीमित रखने का कारण नहीं है। साहित्य में श्लीलता-अश्लीलता सुरुचि और संस्कृति का प्रश्न है, नैतिकता का नहीं। इस वास्तविकता का हृदयंगम करना आवश्यक है। चूँकि साहित्य में यौन-आचार का विषय मुख्यतः उठता है, अतः मैं भी इसी दृष्टि से विचार करूँगा।

श्लीलता-अश्लीलता का जो हमारा विवेक या संस्कार है, उसका आधार क्या है? जब हम यह निश्चित करते हैं, या अनुभव करते हैं कि अमुक शब्द अथवा कृति अश्लील है, तो हमारे लिए निर्णायक संकेत क्या होते हैं? इसे समझने के लिए संस्कृति के मौलिक तत्त्व को समझना आवश्यक होगा। मानवीय संस्कृति का सतत प्रयास पाशविक स्थिति से दूर हटने की ओर रहा है। हमारी प्राथमिक शारीरिक क्रियाएँ हममें और पशुओं में साम्य प्रस्तुत करती हैं। संस्कृति बुद्धि, इच्छा और अन्तरात्मा की कोटियों को हमारी शारीरिक प्रक्रियाओं में प्रविष्ट करती है। जितना ही ये मानसिक आवरण हमारी क्रियाओं को ढकते जाते हैं, हमारा संस्कार होता जाता है। अनुभूतियाँ सूक्ष्मतर होती हैं। और हम पशुत्व से ऊँचे उठते हैं। यौन-प्रक्रिया अथवा स्त्री-पुरुष का समागम जीवन की अनिवार्य और अत्यन्त सशक्त प्रेरणाओं में से एक है। शारीरिक, अर्थात् पाशविक परिणति तो इसमें मानकर ही चलना होगा। किन्तु हमारा जो दृष्टिकोण इस यौन-आकर्षण के प्रति रहा है, उसमें हमें अपनी सांस्कृतिक अन्तरात्मा की प्रतिच्छाया मिलेगी। जितना ही अधिक हम इस आकर्षण में शारीरिक (अर्थात् पाशविक) वासना का अभाव दिखला सके हैं उतना ही यह आकर्षण उदात्त, मंगलमय, नैसर्गिक माना गया है। यहाँ तक कि इसके सर्वोच्च स्वरूप की कल्पना वह है जहाँ शारीरिक सायुज्य का प्रश्न ही नहीं रह जाता, प्रेम मात्र आध्यात्मिक हो जाता है, आत्मा ही आत्मा में रमण करती है। ऐसे प्रेम का चित्रण न केवल कि अश्लील नहीं माना जाता, बल्कि परम पावन और पुनीत सम्बन्धों को व्यक्त करने के लिए बार-बार प्रयुक्त होता है। दूसरी ओर की सीमा निन्तात पाशविकता की है जहाँ आकर्षण और शारीरिक प्रक्रिया एक ही वस्तु है, बीच में मानसिक मध्यन्तर का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सर्वाधिक अश्लील चित्रण होगा।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि समस्त मानवीय प्रक्रिया मूलतः अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्ततः शारीरिक है किन्तु संस्कृति के विकास की दिशा यह रही है कि शारीरिक प्रेरणा और प्रतिक्रिया के बीच मानसिक आरोहण-अवरोहण के अधिक-से-अधिक सोपान प्रस्तुत करें। इन सोपानों के कारण हमारी क्रियाशीलता में परिष्कार आता है और जीवन के हर क्षण की अनुभूति प्रखर होती जाती है। इस निरन्तर विकासशील सांस्कृतिक स्थिति में निश्चय ही अश्लीलता (अर्थात् पाशविक क्रिया से निकटता) वही होगी, जो हमें सीधे शरीर की अनुभूतिहीन प्रक्रिया की ओर खींचेगी। अब कितना वर्णन, कितना संकेत, हमें केवल अनुभूति के सोपानों पर छोड़ जायगा और कहाँ से फिसलन इतनी तीव्र होगी कि हम बिना रुके पाशविक शारीरिक प्रक्रिया तक पहुँच जायँगे, यह हमारे सांस्कृतिक स्तर और कलाकार की अनुभूति-प्रवणता पर निर्भर करता है। सांस्कृतिक स्तर से मेरा तात्पर्य परम्परा से संग्रहीत उस मानसिक अनुभूति-कोष से है जिसके द्वारा हम जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं को गहराई, विविधता, और सूक्ष्मता प्रदान कर पाते हैं। इसको एक उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। हमारे कवियों, विचारकों, कलाकारों ने नारी-पुरुष के परस्पर चुम्बन को विभिन्न अनुभूतिगम्य गहराइयों, विविधताओं, सूक्ष्मताओं से सम्बद्ध कर दिया है। अतः जब हम कविता या उपन्यास में साधारणतः चुम्बन का शब्द देखते हैं तो हमारे मन में मात्र-शारीरिक तरंगें नहीं उठतीं। बल्कि वे तो शायद बहुत ही गौण होती हैं। चुम्बन शब्द सर्वप्रथम हमारे मस्तिष्क में अनुभूति—मानसिक प्रक्रिया—स्नेह, विह्वलता, शान्ति, कातरता आदि की कल्पना प्रस्तुत करता है। जो अनुभव हम प्राप्त करते हैं वह शारीरिक न होकर भावनात्मक (emotive) अथवा सौन्दर्यात्मक (Aesthetic) अनुभव हो जाता है। इसके विपरीत चुम्बन का ही वर्णन यों भी हो सकता है कि अनुभूतिहीनता और अश्लीलता उत्पन्न हो जाय। इसके विपरीत रति-क्रिया का वर्णन (यद्यपि उसके भी कारण वही हो सकते हैं जो चुम्बन को जन्म देते हैं) अधिकतर अश्लील हो जायगा, इसकी सम्भावना अधिक है।[1] क्योंकि प्रायः यह प्रक्रिया अविकसित रही है और हमने इसे चुम्बन या आलिंगन की भाँति विविध और सूक्ष्म मानसिक अनुभूतियों से सम्बद्ध करना नहीं सीखा है। जैसे-जैसे संस्कृति अथवा सभ्यता का विकास होता जाता है हमारी अनुभूतियाँ समृद्ध, सूक्ष्म, गहन और विविध होती जाती हैं। हम एक ऐसे स्तर की कल्पना कर सकते हैं जब रति-क्रिया का सुस्पष्ट वर्णन हमें उसी प्रकार भाव-प्रवण छोड़ जाय जिस तरह छायावादी कविता में अनन्त से आने वाले अज्ञातप्रिय का आध्यात्मिक दर्शन-मात्र! 'गीत गोविन्द' ही नहीं, संसार की अन्य कृतियों में भी इस वर्णन को पुराने आचार्यों ने लिया है, वे कभी सफल रहे हैं, कभी विफल। अन्यान्य कारणों से आधुनिक युग के लेखकों में इसकी खोज अधिक दीखती है। जब हम पूछते हैं कि कहाँ पर ऐसा प्रयास अश्लील हो जाता है और कहाँ नहीं, तो हमारा मूल प्रश्न यही होता है कि क्या यह शारीरिक वर्णन हमारे अनुभव में कोई नया आयाम जोड़ जाता है? क्या इसने जीवन की हमारी सामान्य अनुभूति में गहराई, सूक्ष्मता, विविधता जोड़ी है? क्या हम जिस तरह एक फूल की सुगन्ध को दूसरे फूल की सुगन्ध से अलग कर सकते हैं, उसी तरह कलाकार हमें ऐसे अनुभवों की ओर ले गया है जो हमारे नितान्त शारीरिक अनुभव को सौन्दर्यात्मक अथवा भावनात्मक अनुभूति बनाकर मूल्यवान बना सकें?

1. इस सम्बध में जयदेव के 'गीत गोविन्द' का विश्लेषण कि कौन-से तत्व हैं जिनसे अश्लीलता उत्पन्न होती है या नहीं होती है, मूल्यवान होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि इन प्रश्नों का उत्तर हाँ है, तो निश्चय ही कृति, कला-कृति है और अश्लील नहीं है, यदि हम अश्लीलता के विवेचन को मूलतः सुरुचि का प्रश्न मानते हैं तो हमारे लिए मानना अनिवार्य होगा कि कला-कृति अश्लील हो ही नहीं सकती। यदि वह अश्लील है तो कला-कृति नहीं होगी। क्योंकि सुरुचि, स्वयं ही कलात्मक परिष्कार है, जो हमें मानसिक गहराई की ओर ले जाती है।

दो-एक प्रचलित धारणाओं पर विचार करना आवश्यक है। प्रायः कहा जाता है कि हमारा सामयिक सामाजिक वातावरण विशेष करके अश्लील हो गया है, जब कि प्राचीन काल में इतनी अश्लीलता अथवा सामाजिक उच्छृङ्खलता नहीं थी। मुझे यह धारणा अनैतिहासिक लगती है। उच्छृङ्खलता को सही प्रमाणित करने के लिए मनुष्य ने हर युग में बहाने बनाए हैं। यहाँ तक कि वामाचार की तान्त्रिक साधना तक चला डालीं। अतः यह न तो आज के भारत की नई बात है, न यूरोप के भौतिकवाद, न फ्रायड के मनोविज्ञान की विशेष देना है। इसके विपरीत आधुनिक युग संगठित विलास के अर्थ में उच्छृंखल सामाजिक व्यवहार का अधिक विरोधी है।

एक प्रकार का मस्तिष्क मोटे ढंग से हर कृति को इस कसौटी पर कसना चाहता है: क्या इस पुस्तक को 'बहू-बेटियों' के हाथ में दिया जा सकता है? क्या इसे आचार्यगण शिशुवत् शिष्यों को पढ़ा सकते हैं? ऐसे प्रश्नों के पीछे एक अप्रमाणित स्वीकारोक्ति यह होती है कि सारा साहित्य बहू-बेटियों, या शिशुवत् शिष्यों के लिए लिखा जाता है या लिखा जाना चाहिए। वस्तुतः साहित्य इस कसौटी पर न तो खरा उतरा है, न उतरेगा। बहू-बेटियों की लाठी से हाँकने पर तो व्यास और वाल्मीकि भी भागते नज़र आयँगे, कालिदास और शेक्सपीयर का तो कुछ कहना ही नहीं। इस प्रकार का शुद्धतावादी नैतिक हठयोग साहित्य को उसके मर्म से वंचित कर देता है। जो मस्तिष्क अश्लीलता का विरोध-मात्र इस आधार पर करता है कि इसका प्रभाव लोगों के चरित्र पर क्या पड़ेगा, वह अपरिपक्व, पण्डिताऊ और अर्धसभ्य है। कुन्द उस्तरे से शल्यक्रिया करने वाला स्वस्थ अंग को भी काटकर निकाल फेंकेगा इसीकी सम्भावना अधिक है। क्योंकि जैसा हमने ऊपर विचार किया है बहुत-सी कृतियाँ, या बहुत-से विषय सतही तौर से अश्लील लगते हुए भी विशिष्ट कलात्मक सन्दर्भ में अश्लील नहीं होते।

पूछा जा सकता है कि श्लीलता के नाम पर यदि हम नैतिक शुद्धता अथवा पूर्ण सात्विक वातावरण की माँग साहित्यकार से करें भी, तो हर्ज क्या है? माना कि वामनात्मक दलदल का एक भाग सख्त है और उस पर चलने में डूबने का ख़तरा नहीं है, तो भी क्या आवश्यक है कि हम पक्की जमीन छोड़कर उधर जायँ ही? आखिरकार कहने के लिए 'संसार में एक-से-एक अच्छी बातें पड़ी हुई हैं, लोगों के चरित्र को ऊँचा उठाना भी तो एक काम है, ऐसी कौन-सी बाधा आ पड़ी है कि साहित्यकार ख्वाह-मख़ाह अश्लीलता का आभास देने वाला चित्रण करे ही और बाद में बाल की खाल निकालकर कहे कि मैं काजल की कोठरी से अछूता निकल आया हूँ? क्या यह मात्र-मानसिक विकृति नहीं है? मान भी लिया जाय कि कलात्मक सौष्ठव से शायद एकाध ऐसे वर्णन अश्लीलता की सीमा से बाहर आ जाते हों, फिर भी यह चमत्कार दिखलाने की आवश्यकता क्या है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि शायद ही कोई भाषा हो जिसमें चोटी के साहित्यकारों ने अश्लीलता की दलदल पर पैर न रखा हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अच्छा हो कि हम बहस में पुरानी महान् कृतियों को ध्यान में रखें। हम इतना मानकर आरम्भ कर सकते हैं कि शरत् बाबू के शब्दों में 'नितान्त बाध्य' न होने पर इन महान् कृतिकारों ने जीवन-व्यापार के वे चित्र न प्रस्तुत किये होंगे, जो अश्लीलता का आभास दे जाते हैं। क्या है वह जो 'नितान्त बाध्य करता है?' कीचड़ से ऐसा कौन-सा दुर्निवार आकर्षण है?

उत्तर इस पर निर्भर करता है कि हम साहित्यकार को क्या समझते हैं, क्या वह स्वयम्भू है, ऋषि है, ब्रह्म है अथवा साधारण मानव है, जिसमें ऊपर से असम्पृक्त लगने वाली अनुभूतियों को एक साथ जोड़कर समर्थक बनाने की, अतः जीवन-अनुभव को प्रखर बनाने की शक्ति विद्यमान है। जो लोग साहित्य को उदात्त और मंगलकारी आर्ष-वाणी-मात्रा मानते हैं उनसे बहस नहीं की जा सकती। अच्छे और सुन्दर उपदेशों की प्रचुरता को अवांछनीय ठहराने का साहस कौन कर सकता है? हितोपदेशक शुद्धतावादी विवश इसलिए हो जाते हैं कि सबका उपदेश पंगु और प्रभावहीन हो जाता है ताकि वह रसमय, और प्रभावशाली हो सके एक आदर्शेतर तत्त्व—यथार्थ—की आवश्यकता पड़ती है। यह ऋषि के ऋषित्व से नीचे की वस्तु है। मनीषी का तत्त्व-दर्शन नहीं, ब्रह्म की चिन्मयता नहीं, आचार्य का उद्घोष नहीं—सीधे-सादे मनुष्य की वाणी है जो सीमाओं में बँधी है, लालसा है, गोचर है, यथार्थ है, जीवन-पंक में लिपटी है और इसीलिए हमारी अपनी है, प्यारी है, आत्मीय है। यथार्थ का यह एक दुर्निवार आकर्षण है।

सात्विक उपदेश में एक और कमी है। वह नीचे बहने वाली विकृतियों को छिपाने के लिए पर्दे का काम करता है। कालान्तर से हर शुद्धतावादी आचार, कपट, दुहरी नैतिकता, सामाजिक प्रतिक्रियावाद और छिछले वाह्याडम्बर का पर्याय बन जाता है। दो स्तरों का अ-ऋजु जीवन मानव को विचलित करता है। साहित्यकार को प्रखर अनुभूति दे जाता है। अतः यथार्थ की 'नितान्त बाध्यता' साहित्यकार को विवश करती है कि उस वास्तविक स्तर को ऊपर लाये। कलाकार का मानस इसलिए नहीं विचलित होता कि मानव-स्वभाव में दुर्बलता क्यों है। विक्षोभ इस बात पर होता है कि दुर्बलता को स्वीकार क्यों नहीं किया जाता, आडम्बर की क्या आवश्यकता है? चारित्रिक दुर्बलता को हम क्षमा कर सकते हैं, किन्तु बेईमानी को नहीं। यदि कलाकार विद्रोही हुआ तो यथार्थ का नग्न चित्रण करेगा और यदि विद्रोह उसके युग का मुख्य स्वर नहीं तो नैतिक आडम्बर की उपेक्षा करके जीवन के गोचर आनन्द का वर्णन करेगा और जब एक बार यथार्थ का आकर्षण स्वीकार कर लिया गया तो उन स्तरों पर यदा-कदा पहुँच जाना, जो साधारणतः गोपनीय होते हैं, असम्भव नहीं है। बात सिर्फ अनुभूति की गहनता की है।

बड़े-बड़े कृतिकारों में यह प्रवृत्ति—यथार्थ की प्रवृत्ति—दिखती है, इससे इन्कार करना सम्भव नहीं। सतही आलोचक-दृष्टि यह कहकर सन्तोष कर लेती है कि ठीक है, साहित्यकार नग्न यथार्थ का वर्णन करे, किन्तु इस प्रकार वासना—ऐन्द्रिकता—से अरुचि हो जाय। मैं इस भ्रामक तर्क को समझने में असमर्थ हूँ। क्या यह कहना अभीष्ट है कि अब तक के कलाकारों ने जो-कुछ इस सम्बन्ध में कहा है वह अरुचि उत्पन्न करने के लिए कहा है? इसके विपरीत अधिकतर नग्न यथार्थ आकर्षक; मानवोचित रूप में—मेरे शब्दों में अनूभूति की समृद्धि एवं विविधता के साथ—अभिव्यक्त हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक के प्रथम अंश में हमने जो विश्लेषण किया है, उसकी शब्दावली में हम यदि विचार करें तो प्रश्न यों उठेगा कि जब हम मान लेते हैं कि मात्र ऐन्द्रिक प्रक्रिया पाशविक और असंस्कृत है तो क्या कलाकार के लिए यह सम्भव और उचित नहीं है कि वह ऐन्द्रिक प्रक्रिया का नितान्त वहिष्कार करें और मात्र भावना, अनुभूति में ही विचरण करे ? यह तो विकास और संस्कृति का चरम लक्ष्य होगा। इस दृष्टि से देखने पर आदर्श की पराकाष्ठा स्पृहणीय ही नहीं, अनिवार्य भी हो जाती है। 'कीचड़ के आकर्षण' का प्रश्न ही नहीं उठता। 'प्लैटानिक प्रेम' सर्वोच्च ही नहीं, पर्याप्त भी होना चाहिए।

यह तर्क अकाट्य होता यदि इसमें एक मौलिक त्रुटि न हो तो। पर तर्क भूल जाता है कि संस्कृति में हम जिसका परिष्कार करते हैं वह अन्ततोगत्वा हमारी भौतिक जैविक क्रियाएँ ही हैं। भौतिक जैविक-जीवन से विच्छिन्न कोई क्रिया सम्भव नहीं है। इसलिए मात्र-आदर्श पर आधारित मानव-चेतना की कल्पना तो एक सिरे से क्रियाशीलता की सम्भावना को ही अस्वीकार कर देगी, और साहित्य सम्भव नहीं रह जायगा। यदि हम सर्वत्र, ब्रह्म ही देखेंगे तो प्रक्रिया-मात्र माया होगी। हम केवल अनादि अनन्त कर्म-हीनता में स्थित रह जायँगे। आध्यात्मिक दृष्टि से यह स्थिति कितनी ही सुरक्षित क्यों न हो साहित्य के लिए उर्वर भूमि नहीं है। इसलिए बुद्धि, इच्छा, अन्तरात्मा—संस्कृति के जो भी तत्त्व हम मानें—उनकी क्रियाशीलता का आधार इन्द्रियाँ ही हैं। इसीलिए हमें बार-बार लौटकर इन पर आना पड़ता है। ऐन्द्रिक क्रियाओं को फिर से आत्मसात् करना पड़ता है। उनकी व्यप्ति को विस्तृत करना और उनकी आवृत्ति को विविधता देनी पड़ती है। हम इन्द्रियों से अलग नहीं हो सकते—केवल उनका परिष्कार कर सकते हैं। कालान्तर से नई स्थापित आनुभूति-प्रक्रियाएँ पुरानी पड़ जाती हैं। उनमें ठहराव नहीं रह जाता, जो हमारी कल्पना को छिछली, निरर्थक पाशविक्ता की ओर जाने से रोके। अतः फिर नये अनुभूति-आयामों की तलाश होती है। साहित्य एक करवट लेता है। नया युग आता है। उदाहरण के लिए रीतिकालीन कवियों तक नारी-पुरुष की अनन्त शारीरिक चेष्टाओं को परिष्कृत बनाने के लिए राधा-कृष्ण का नाम काफी था। इस नाम-मात्र में संस्कृति के इतने तत्त्व थे, जो उस समस्त वर्णन को तत्कालीन समाज में अश्लील समझे जाने से रोकते थे।[1] किन्तु वहाँ तक आने पर हम देखते हैं कि राधा-कृष्ण के नाम का वह जादू, जो जयदेव की रक्षा करता है, समाप्त हो चुका है। परदा झीना पड़ता जा रहा है। अनुभूतिहीनता बढ़ती जा रही है और वर्णन अधिकाधिक अश्लील होता जा रहा है। इसके बाद नये विचार, नई कल्पनाएँ, नया युग, आता है। राधा-कृष्ण और भगवन्नाम की सर्वपापनाशिनी शक्ति में सन्देह हो जाता है। लगता है कि कृष्ण का नाम लेकर बहुत-सा ढोंग, मिथ्याचार घुस आया है और तब रीति-काल की अश्लीलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगती है। भगवान् के नाम के स्थान पर भगवान् के चरित् की आदर्शवादी स्थापना होती है।

---

१. मैंने अक्सर मौलवियों को देखा है कि शिष्यों को उर्दू गज़लें पढ़ाते समय जहाँ तसव्वुफ नहीं भी है, वहाँ भी खामखाह 'इश्क हकीकी' की व्याख्या करते हैं। उनके विचार में केवल जीव और परमात्मा का नाम ले लेने से समस्त यौन-आकर्षणों का वर्णन अश्लीलता के चंगुल से छूट जाता है और विद्यार्थियों को बे-खटके पढ़ाया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक काल में, साहित्य के अन्तर्गत हर बात को बहुत-कुछ खोलकर कहने की प्रणाली चली है। बहुत कुछ यह यथार्थवाद की ही विकसित निष्पत्ति है, इसके अतिरिक्त पुराने नैतिक शुद्धतावाद को जीवन के लिए अपर्याप्त पाने पर उपजा विद्रोह भी है। यह एक प्रयास है कि जीवन का अनुभव एकांगी और अगोचर न रह जाय। सामाजिक सन्दर्भ में अश्लीलता का प्रश्न मानसिक-सामाजिक वर्जनाओं (inhibitions) से सम्बद्ध है। प्रारम्भिक स्थितियों में मनुष्य शायद अपने शारीरिक अंगों एवं प्रक्रियाओं की गोपनीयता के प्रति उतना जागरूक नहीं था। बीच का सभ्य-युग वर्जनाओं का पुञ्ज जान पड़ता है। आज शायद हम फिर वर्जनाओं को तोड़ने की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह आदिम मानव की ओर लौटना नहीं है। क्योंकि वर्जनाओं के प्रति हमारा आधुनिक दृष्टिकोण अज्ञान के कारण नहीं, कुतूहल की समाप्ति के कारण है। निसन्देह इस युग में इन वर्जनाओं को काटकर गिराने में फ्रायड और उसके मनोविश्लेषण का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हम फ्रायड के अन्यान्य परिणामों से सहमत न हों, यह दूसरी बात है। परन्तु उसने यौन-आकर्षण को कलंक और अपराध की श्रेणी से निकालकर मानवोचित और स्वाभाविक स्थान दिया इस तथ्य को अवीस्कार नहीं किया जा सकता।

फिर भी स्मरण रखने की बात है कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड ने जिसे प्रतिष्ठा दी, समाज एवं नैतिकता के क्षेत्र में वह क्रान्ति यूरोप में पहले हो चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप में नैतिक सापेक्षतावाद के उत्कर्ष का युग है। अध्यात्म से नैतिक व्यवहार विच्छिन्न हो गया। यह माना जाने लगा कि 'अपने में' कोई क्रिया नैतिक या अनैतिक नहीं होती। यह गहरे उतरकर समझने और देश-काल के सन्दर्भ में परखने की वस्तु है। ऐसे बौद्धिक वातावरण में नैतिक अपराध दण्ड की नहीं बल्कि सामाजिक विश्लेषण की वस्तु बन गया। फ्रायड की क्रान्ति ने उसे सामाजिक विश्लेषण की वस्तु भी न रहने दिया। अब तो वह मात्र रोग बनकर रह गया। ज्वर होने पर हम रोगी को दण्ड नहीं देते, इलाज करते हैं। उसी प्रकार सिद्धान्ततः नैतिक अपराध के लिए पुलिसमैन या जेलर की उतनी आवश्यकता नहीं रह गई, जितनी डाक्टर की। जैविक दृष्टि से देखने पर यौन-आकर्षण हमारे रक्त-मांस-मज्जा में व्याप्त है। प्रश्न उसे वर्जित करने का नहीं है, उन्हें सही दिशा देने का है। यह गोपनीय, अवांछनीय अथवा अमंगलकारी वस्तु नहीं है। यह एक शक्ति है, स्फुरण है, जीवन-ईप्सा है, जिसे हम स्वीकार करते हैं आदिस्रोत के रूप में।

इन समस्त नई धारणाओं ने यौन-चर्चा की गोपनीयता और नैतिकता दोनों ही के सम्बन्ध में सामयिक विचारों में भारी उलटफेर किया है। श्लील और अश्लील का भेद उतना अनुल्लंघनीय नहीं रह जाता जितना पहले था। वर्जनाएँ टूटती हैं। हम देखते हैं कि मनुष्य के कोई भी अनुभव प्रत्यक्ष मांसल अनुभव भी—जीवन की गहरी अनुभूति के लिए बहिष्कृत या अप्रासंगिक नहीं माने जा सकते। समूचा मनुष्य—अपने सुकृतों और कलंकों समेत—मूल्यवान है। आलोचकों ने प्रायः प्रेमचन्द की आलोचना करते हुए कहा है कि उनमें मानवता को सफेद और सियाह में बाँट देने की प्रवृत्ति है। कहा गया है कि ऐसा करना अस्वाभाविक और अयथार्थ है। इससे एक ही कदम और आगे हम यह भी कह सकते हैं कि ऐसा करना अपरिपक्व और खतरनाक भी है। जब हम यथार्थ के नाम पर मनुष्य को धूपछाँह का सम्मिश्रण मानकर कला का विषय बनाते हैं तो मानव-अस्तित्व में गुणात्मक अन्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकट करने करने के लिए व्यक्तित्व की पूर्णता प्रेरक लक्ष्य बन जाती है। 'समूचे मनुष्य की उपलब्धि' यह एक जोरदार आकर्षण यथार्थवाद के बाद के लेखकों का रहा है। किसी हद तक ऐसी बहुत-सी स्थितियाँ, जिन्हें सतही तौर पर आधुनिक अश्लीलता कहकर ठुकराया जा सकता, इस बौद्धिक खोज का परिणाम है। बहस इससे नहीं है कि यह खोज हमें सम्पूर्ण सत्य के दर्शन कराती है या नहीं, क्योंकि संसार के साहित्यकार ने 'सम्पूर्ण सत्य' की स्थापना का ढोंग छोड़कर 'कम-से-कम एकांगी' होने का प्रयास उसी दिन अपना लिया जिस दिन वह अपने को स्वयम्भु ऋषि के स्थान पर साधारण मनुष्य मानने लगा। हिन्दी का साहित्यिक और समीक्षात्मक वातावरण ऋषित्व के इस बचपने से मुक्त नहीं हुआ है। किन्तु तेजी से एक क्रान्ति हो रही है इतना तो हमारी आँखों के सामने स्पष्ट है। जब तक नई पीढ़ी पुरानी पड़ेगी, बहुत-कुछ बदल जायगा, यदि इसी बीच देश में धवल केशों की तानाशाही न स्थापित हो गई तो।

अनिवार्यतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सुरुचि के नाम पर वर्जनाओं की सूची बना देना आज न केवल असम्भव है, बल्कि एक प्रकार से कुत्सित (Vulgar) भी है। इससे हम मानव-अनुभव के एक बहुत बड़े खण्ड को अछूता और अपरिष्कृत छोड़ देते हैं। अब यह कहना कि ऐन्द्रिक वासना छिछोरपन का ही द्योतक है उतना निर्विवाद नहीं रह गया है जितना गोस्वामी तुलसीदास के काल में था। आज यह सम्भव है कि शरीर की भूख के आधार पर हम पूरा एक जीवन-दर्शन खड़ा कर डालें। वह ग़लत हो या सही इससे बहस नहीं है: जीवन्त, प्राणवान अवश्य होगा और उसमें मानसिक और सामाजिक सन्तुलन एवं स्वास्थ्य की ऐसी कोटियाँ होंगी जो पुराने आध्यात्मिक दर्शन में छूट जाती हैं। जब तक कोई दृष्टि जीवन्त है अनुभूति को प्रखर करती है और यदि अनुभूति की प्रखरता है, अप्रासंगिक अनुभवों को जोड़कर सार्थकता देने की सम्भावना विद्यमान है तो साहित्यकार हमेशा आस-पास मँडराता हुआ दिखाई पड़ेगा।

मैंने जान-बूझकर साहित्यिक अश्लीलता के अन्तर्गत उन घटिया, छिछली रचनाओं पर विचार नहीं किया जिन्हें अनुभूति नहीं बल्कि 'शारीरिक सिहरन' पर आधारित कहा जा सकता है। ऐसी मलिन और फूहड़ रचनाएँ समाज में हमेशा होती रही हैं और उन्हें पहचानना असम्भव नहीं है। गम्भीर आलोचना के लिए वे कोई प्रश्न इसलिए नहीं उपस्थित करतीं, क्योंकि कभी भी आलोचकों में इस पर मतभेद हुआ ही नहीं कि वे साहित्य की कोटि में नहीं आतीं और उनके लेखक भी कलाकारों की कोटि में नहीं आते। ऐसी कृतियाँ यदि बढ़ते-बढ़ते संक्रामक-रोग का रूप धारण कर लें तो राज्य उन्हें जब्त कर सकता है, अवैध घोषित कर सकता है, साहित्य को इससे रंच-मात्र भी क्षति नहीं पहुँचेगी और न किसी आलोचक को इससे सिर-दर्द होगा।

मैंने केवल एक अनुदृष्टि देने का प्रयास किया है जिससे हम श्लीलता-अश्लीलता के विवेक की ओर बढ़ सकते हैं। सावधानी बरतने की आवश्यकता वहाँ आती है जहाँ नग्न-वर्णन को जीवन की नई और प्रखर अनुभूति के साथ जोड़ने का बौद्धिक प्रयास भी शामिल रहता है। मैं यह नहीं कहता कि यह दृष्टि सिर्फ नग्नता की ही ओर ले जायगी, किन्तु इतना अवश्य है कि यदि कभी नग्नता दिखाई भी पड़ गई तो तपस्या भंग होने की सम्भावना हमें विचलित नहीं करेगी। हाल के लेखकों में, चाहे यशपाल हों, या जैनेन्द्र या अज्ञेय या इलाचन्द्र जोशी, यह कहना कि उनके नग्न चित्रण की बाध्यता-मात्र सस्ते और आकर्षक मनोविनोद प्रस्तुत करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकों के पन्द्रह-बीस संस्करण बेच लेने की रही है, हास्यास्पद होगा। यह भी कहना कि उनका उद्देश्य वासना में अरुचि पैदा करना है मूर्खतापूर्ण होगा। वस्तुतः वे जीवन को अपनाने, पूर्णतः अपनाने के सफल या विफल प्रयास हैं। आवश्यकता है कि उनकी सफलता या विफलता का मानदण्ड प्रस्तुत किया जाय, न कि उन्हें 'केवल एकान्त में पढ़ने योग्य' मानकर समाज में 'छिः छिः' करके ऋषित्व की रक्षा की जाय।

डॉ० हरदेव बाहरी

व्रीडाजुगुप्सामंगलव्यंजकत्वात्

अश्लीलता की बात उठाने में भी अश्लील हो जाने की सम्भावना है। इसलिए लेख में की अश्लीलता के लिए क्षमा चाहते हैं। हमने जो २०-२५ उदाहरण अपने कथन की पुष्टि में दिये हैं, उनका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी की अन्य कृतियों अथवा अन्य सभी लेखकों में अश्लीलता नहीं है, या कम है। ऐसे उदाहरण सैकड़ों की संख्या में उपस्थित किये जा सकते हैं। जिन साहित्यकारों की पंक्तियों को यहाँ उद्धृत किया गया है, उनसे हम क्षमा माँगते हैं कि संयोगवश उनकी रचनाओं पर हमारा ध्यान गया। उनके प्रति हमारी बड़ी श्रद्धा है।

कोशों में अश्लील का अर्थ है भद्दा, फूहड़, लज्जाजनक, अशोभन, गन्दा, अभद्र, गँवारू, नग्न। अश्लील वाणी सुनकर अथवा अश्लील कर्म देखकर लोग छिः छिः करने लगते हैं। कहा जाता है कि श्लील-अश्लील का प्रश्न देश, काल, समाज और संस्कृति पर निर्भर है। भारत में लोगों के देखते अपनी पत्नी का चुम्बन अश्लील है, पश्चिमी देशों में यही शिष्टाचार है; इसलिए पश्चिमी साहित्य में प्रेमी-प्रेमिका का चुम्बन-आलिंगन प्रेम का परिचायक होने के नाते आवश्यक रूप से आता है। पश्चिम में कोई लड़की अपने माता-पिता से इसका उल्लेख करने में लजाती नहीं। काल के अन्तर से भी श्लीलता की परिभाषा बदल जाती है। लोक-गीतों से विदित होता है कि किसी समय में लड़कियाँ अपने पिता, मामा और चाचा से कहती थीं कि मुझे वर चाहिए, वह वर काला न हो, छोटा न हो, बहुत लम्बा न हो, बुड्ढा न हो और बच्चा भी न हो कि जिसे गोदी में खिलाना पड़ जाय। आज कोई कन्या ऐसा कहने का साहस करे तो उसे निर्लज्ज और निगुरी कहा जायगा। बड़े-बूढ़े आपस में अनेक बातें कह लेते हैं जिनको युवकों और बच्चों के समाज में कहते उन्हें शर्म आती है। पुरुष कभी-कभी कोई बात कहने में झाँक लेते हैं कि कोई महिला तो नहीं सुन रही। सांस्कृतिक स्तर के भेद से भी श्लीलता का स्तर बदल जाता है। ग्रामीण और नागरिक, सभ्य और असभ्य, शिक्षित और अशिक्षित की वाणी में अन्तर होता है। गाँव के लोग जिन शब्दों को दिन में अनेक बार बोलते नहीं अघाते, सुसंकृत व्यक्ति उन्हें कभी मुँह पर नहीं लाते। व्यक्तिगत संस्कृति से भी श्लील-अश्लील का अन्तर बना रहता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृति में टट्टी, गर्भिणी, गोपनीय इन्द्रिय, बीमारी, मृत्यु आदि शब्दों को हेर-फेर से कहने की चिन्ता सदा रही है। टट्टी का अर्थ केवल आड़ ही तो है, लेकिन घृणित प्रयोग के कारण इसे हटाकर 'बाहर', 'जंगल', 'शौच' आदि शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। गर्भिणी की जगह 'पाँव से भारी है', 'उसे आस है', 'दिन पूरे हैं' इत्यादि कहते हैं। 'मृत्यु हो गई' को बदलकर 'प्राण-पखेरू उड़ गए', 'स्वर्गवास हो गया', 'देह त्याग दिया', 'देहान्त हो गया' आदि कहा जाता है।

ऐसे शब्द प्रत्येक भाषा में मिलते हैं। कुछ बातें ऐसी हैं जो सभी देशों, सभी कालों में अश्लील कही जायँगी। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी बात को अभद्र, अशोभन अथवा लज्जाजनक मानता है।

साहित्य साधारण कथन से अधिक भद्र, शोभन और सुन्दर होना चाहिए। अशिष्ट, असभ्य, गँवार और जंगली लोगों का कोई ललित साहित्य नहीं होता। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ ही साहित्य का विकास होता है। तब तो साहित्य में अश्लीलता अपेक्षाकृत अधिक खटकने वाली चीज होगी। कहने वाले कह सकते हैं कि कला तो सौन्दर्य है, कलाकार अंधड़ और बवण्डर में भी सुन्दर के दर्शन करता है, वह न तो धर्म का ठेकेदार है और न ही आचार-शास्त्री, जो श्लील-अश्लील की चिन्ता करे। परन्तु हमारा मत है कि कलाकार बेशरम, निर्लज्ज और जंगली हब्शी नहीं है। उसकी भावना अधिक सूक्ष्म होती है, उसके लिए अश्लील असुन्दर का ही पर्याय है, अशिव का पर्याय है। जो साहित्य 'स्वान्तः सुखाय' लिखता है, उसे अपनी रचना प्रकाशित कराने की आवश्यकता नहीं है। अकेले में नंगे होने का हक तो उसे है, पर जब वह समाज के सामने आता है तो उसे समाज-सम्मत आवरण डालना ही पड़ेगा, उसे अपनी नग्नता को ढककर रखना होगा। लोक-मंगल की इच्छा करने वाला साहित्यकार लज्जाजनक, घृण्य और अमंगल सृष्टि नहीं कर सकता।

साहित्यकार तो अपने को ऋषि और स्वयम्भू कहता है, वह गन्दी वाणी क्यों बोले? वह घृणाद्योतक अथवा अमंगल-सूचक बातें क्यों करे? वह साहित्य-मन्दिर में अशुचि वस्तु क्यों आने दे? वह अपने को साधक मानता है। चुम्बन-आलिंगन, कुच-कपोल, सम्भोग-रति-क्रिया आदि की बात वह योगी क्यों करे? शारीरिक क्रियाओं और कोकशास्त्रीय चर्चाओं की व्याख्या करने क्यों बैठता है?—

एक ही संग इहाँ रपटे सखि
वे भये ऊपर हौं भई नीचे। (पद्माकर)
मोहि तुम्हैं यह अन्तर पारत
हार उतारि उतै धरि राखौ। (ठाकुर)
लाल जगाई कौन घर कहो सखि तुम रैन
पियरो लगे है रूप सब और उनींदे नैन। (सम्राट् शाह आलम)

कहते हैं कि रीति-काल के कवि दरबारों में राजाओं-महाराजाओं के मनोविनोद के लिए इस प्रकार की कविता कहते थे जिसमें विलासिता, कामुकता, चुलबुलाहट और उकसाहट रहती थी। इसीसे इसमें अश्लीलता अधिक है। इसके अधिक उदाहरण जुटाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह हिन्दी के प्रत्येक पाठक को भली भाँति विदित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रीतिकाल के शृंगारी कवि तो बदनाम हैं ही, आज के प्रायः अधिकांश कवि अश्लीलता में उनसे कम नहीं हैं, पर वे व्यञ्जना का आश्रय लेते हैं। वे नग्नता का चित्रण करके, उस पर रहस्यवाद का झीना आवरण डालते हैं। वे वासना को 'एष धर्मः सनातनः' कहकर आनन्द-विभोर होते हैं। वे बातें कहते हैं बिहारी, पद्माकर, ठाकुर और आलम की-सी, लेकिन उन पर आवरण डालते हैं नानक, कबीर और दादू का।

हम उस साहित्य को साहित्य की संज्ञा देने को तैयार नहीं हैं जो असंस्कृत, अमंगल और वासनामय भावना को स्फूर्ति दे। जो चित्रण सौन्दर्य के आधार के प्रति कामातुर करे अथवा उस सौन्दर्य को वासनाजन्य प्रेरणा दे, वह चित्रण अश्लील है।

त्रिधा अश्लीलं, त्रिधेति व्रीडाजुगुप्सामंगलव्यञ्जकत्वात्। (काव्यप्रकाश, ७)
जिस बात से लज्जा, घृणा और अमंगल की भावना उत्पन्न हो, वह अश्लील है। चाहे कोई जंगली हो, अँग्रेज हो, रोमन हो, भारतीय हो अथवा इस्कीमो, उसके लिए जो बात व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगल की व्यञ्जक हो वह अश्लील है।

अश्लीलता अर्थग्रहण में भी हो सकती है। यदि कोई उक्ति (भले ही कहने वाले की भावना अच्छी रही हो) अर्थ-प्रेषण में अश्लील है, तो वह निश्चय ही निन्द्य है। जब लोग भाव-व्यञ्जक पंक्तियों का अर्थ भी क्या-का-क्या ले लेते हैं, तो सचमुच के वासनोत्तेजक साहित्य की शिष्टता कौन जानेगा ! ऐसी पंक्तियों के रचयिता लाख चिढ़ें, लाख बुरा मानें, वे अर्थग्राहक की मनोवृत्ति से सचेत हों। उन्हें लगेगा कि अश्लीलता भी कोई वस्तु है। वह उनकी अपनी इच्छा से नहीं, लोक की इच्छा से घोषित होगी। साहित्यकार को अपनी शब्द-योजना ऐसी रखनी चाहिए जिससे शुद्ध चिन्तन की प्रेरणा हो।

निम्नलिखित पंक्तियों की व्यञ्जना को अश्लील कहा जायगा। लेखकों से हमारा सीधा प्रश्न है—क्या ये पंक्तियाँ वे अपनी माँ, बहन, बेटी के सामने पढ़ने को तैयार हैं ? क्या कोई अध्यापक इनकी व्याख्या अपने शिष्य-शिष्याओं के आगे कर सकता है ?

१. तुम रति-रत मैं मनसिज सकाम, यह अन्धकार, है चाह प्रिये
(भगवतीचरण वर्मा)

२. लाज की सीमा प्रिये तुम तोड़ दो
आज मिल लो मान करना छोड़ दो
यह हृदय की भेंट है स्वीकार हो
आज यौवन का सुमुखि अभिसार हो। (भवानीचरण वर्मा)

३. आज अधर से अधर मिले हैं
आज बाँह से बाँह मिली
आज हृदय से हृदय मिले हैं
मन से मन की चाह मिली। (बच्चन)

४. जागो फिर एक बार
सहृदय समीर जैसे पोंछो प्रिय नयन-नीर
शयन-शिथिल बाहें भर स्वप्निल आवेश में
आतुर उर-वसन मुक्त कर दो, सब सुप्ति सुखोन्माद हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छूट-छूट अलस फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल ऋजु-कुटिल प्रसारगामी केश-गुच्छ ।

(निराला)

५. आज सोहाग हरूँ मैं किसका, लूटूँ किसका यौवन ?
किस परदेशी को बन्दी कर सफल करूँ यह वेदन ?

(अंचल)

६. आज न सोने दूँगी बालम !
आज विश्व से छीन तुम्हें प्रिय निज वक्षस्थल में भर लूँगी।
मृदुल गोल गोरी बाहों में कम्पित अंगों में कस लूँगी।

(नरेन्द्र)

पन्त की 'ग्राम्या' में बच्चन की 'मिलन-यामनी' और 'निशा-निमन्त्रण' में, अंचल की 'मधूलिका' और 'अपराजिता' में, नरेन्द्र की 'प्रभात-फेरी' में, आरसीप्रसादसिंह की 'कितना अच्छा होता वह दिन' तथा 'आओ मेरे आगे बैठो' शीर्षक कविताओं में, अज्ञेय की 'आह्वान', 'सावन-मेघ', 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' आदि कविताओं में प्रेम के जुगुप्साजनक चित्र मिलते हैं।

'नई कविता' में भी चुम्बन-आलिंगन के भेद गिनाये जा रहे हैं :

एक चुम्बन वह
कि जिसमें उष्ण श्वासों की उमस नस-नस कसे उन्माद
अधर-मधु के साथ मिश्रित दंशनों का स्वाद

(जगदीश गुप्त)

निम्नलिखित वाणी किस पन्थ के साधक की कही जायगी ?

तब तक समझूँ कैसे प्यार,
अधरों से जब तक न कराये
प्यारी उस मधुरस का पान ?
... ... आदि आदि ।

जिस कृति में इस प्रकार की नग्नता हो (चाहे वह रोमांस के नाम पर हो, चाहे यथार्थ और जीवन की व्याख्या के बहाने), उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता ।

विश्रान्तिर्यस्याः सम्भोगे सा कला न कला मता ।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ।।

शारीरिक आनन्द की प्राप्ति की कामना काम है, पशु-वृत्ति है; आत्मिक आनन्द के उद्देश्य की पूर्ति से प्रेम होता है । नारी के सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाले कवि आज बहुत पैदा हो गए हैं । इन्हें नारी में कोई आन्तरिक सौन्दर्य ही दृष्टिगोचर नहीं होता ! ये लोग नख-शिख-वर्णन करने में किसी देव या दास से कम नहीं हैं—अन्तर यही है कि पुराने लोग स्पष्टवादी थे, आज के लोग व्यंजकता से काम लेते हैं । नायिकाओं के भेद तो इस युग में इतने वर्णित हुए हैं कि एक थीसिस लिखा जा सकता है ।

गद्य में भी अश्लीलता भरपूर है । ऐसा समझा जाता है कि उपन्यास तो है ही इसके साहित्यिक प्रदर्शन के लिए । इधर प्यारेलाल आवारा, कुशवाहा कान्त, गोविन्दसिंह आदि ने तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमाल कर दिया है। आज से २०-२५ वर्ष पूर्व उपन्यास पढ़ना लुच्चों का काम समझा जाता था। बड़े-बूढ़े ध्यान रखते थे कि लड़के उपन्यास तो नहीं पढ़ते। इसलिए हमने बहुत उपन्यास तो नहीं पढ़े, लेकिन इधर सुना कि प्रेमचन्द के बाद साहित्यिक कोटि के सुन्दर उपन्यास लिखे गए हैं तो जिज्ञासा बढ़ी। इस पर भी पुराने संस्कारों के कारण हिम्मत नहीं हुई—बहुत-कुछ नहीं पढ़ा। भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि मित्रों के कुछ उपन्यास पढ़े। धारणा वही है जो मेरे बाप-दादा की थी। बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है। एक ही उदाहरण—अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में नायिक-नायिका के प्रेम का विस्तृत वर्णन—इसका साक्षी है और लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'मुक्ति का रहस्य' नाटक में भी डाक्टर के साथ आशादेवी का ऐसा ही वर्णन है।

कहानियों में कमल जोशी की हाल की एक कहानी 'चार के चार', जो इस नाम के संग्रह में प्रकाशित हुई है, उदाहरण के रूप ली जा सकती है :

"लंगड़े ने कपासी से कहा, 'तुम नहीं चलोगी?'

'हूँ' कपासी के स्वर में शिथिलता थी। फिर वे चुपचाप बैठे रहे।........

आधी रात के बाद किसी के धक्के से लंगड़े की नींद खुल गई। कपासी बहुत धीरे से बोली—'चुप, ज़रा भी आवाज़ न करना, नहीं तो ये लोग जग जायँगे।'

...मनुष्य के शरीर की गन्दी बू, आकाश में चाँद, लेक के उस ओर अन्धकार, (रेलवे) सिगनल की लाल रोशनी।

...चोर की तरह चुपचाप आकर वे सो जाते हैं। आकाश के चाँद और पृथ्वी के गूँगे घोड़े के अलावा उनके निशीथ अभियान का कोई साक्षी नहीं रहता।"

ऐसे दृश्य-चित्रण से समाज का क्या मंगल होगा, हम नहीं जानते। हमें तो 'निशा-निमन्त्रण' के इन वर्णनों में भी अमंगल की सूचना मिलती है :

घाट से कुछ फासले पर
सित कफन की ओढ़ चादर
एक मुर्दा जल रहा था बैठकर अपनी चिता पर।

कितना वीभत्स दृश्य है! गिरिधर गोपाल को अमंगल में ही मजा आता है। उसका शव भी बोलता है :

लौटे मुझे सब छोड़कर
देखा नहीं मुख मोड़कर
कुछ दूर होती जा रही
हर साँस बन्धन तोड़कर,
मैंने नहीं काटी निशा अब तक किसी पीपल तले
मुझसे न एकाकी चला जाता मरण की राह में।

और

किसकी अर्थी, कैसी चिता, अरे कैसे अंगारे
टूट रहे मेरी पलकों पर सूरज-चाँद-सितारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोता कौन ? अरे बिल्ली, क्या सचमुच बिल्ली रोई ?
आज अचानक चील लगी क्यों इस घर पर मँडराने ?

(अग्निमा)

किसी एक पाठक के मन में भी इसे पढ़कर यदि अमंगल की भावना जग जाय, तो यह साहित्य अश्लील हो गया ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशीलन

डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव

रामानन्द-सम्प्रदाय में योग

कबीरदास तथा अन्य सन्त-कवियों के साहित्य में नाथपंथी प्रभावों को देखकर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि स्वयं रामानन्द स्वामी ने ही योग और भक्ति का समन्वय अपने मत में किया था और कबीरदास आदि शिष्यों ने अपने गुरु से इसी समन्वित योग की दीक्षा पाई थी। रामानन्द के नाम पर योग-सम्बन्धी कुछ ग्रन्थ भी प्रचलित हो गए हैं और लोगों ने प्रायः उन्हींको आधार मानकर अपना उपर्युक्त मत निश्चित किया है। यही नहीं रामानन्द-सम्प्रदाय की एक प्रमुख शाखा का भी नाम 'तपसी शाखा' है, और राजस्थान, पंजाब, सौराष्ट्र आदि में उसके बड़े-बड़े केन्द्र आज तक वर्तमान हैं। सम्प्रदाय के 'भक्तमाल' आदि प्रामाणिक एवं प्राचीन ग्रन्थों से यह भी ज्ञात होता है कि कृष्णदास पयोहारी जी ने रामानन्द-सम्प्रदाय की पहली गद्दी राजस्थान में योगियों को अपने चमत्कारों द्वारा पराजित करके ही स्थापित की थी। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के अनुसार पयोहारी जी ने आग की धूनी को अपनी अंगोछी में उठा लिया था, योगियों के महन्त का गधा बना दिया था और उनके प्रभाव से योगियों की मुद्राएँ अपने-आप निकलकर पयोहारी जी के समक्ष एकत्र हो गई थीं। प्रश्न यह उठता है कि पयोहारी जी को यह योग मिला कहाँ से ? क्या अनन्तानन्द ने भी योग-साधना की थी और वही पयोहारी जी को गुरु-दीक्षा के रूप में प्रदान की थी अथवा पयोहारी जी ने स्वयं ही नाथपन्थियों के सम्पर्क में आकर उन्हें परास्त करने के लिए योग में भी सिद्धि प्राप्त कर ली थी ? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर मिलने पर ही रामानन्द और कबीर के वास्तविक सम्बन्ध की परीक्षा की जा सकती है।

डॉ० बड़थ्वाल ने 'सिद्धान्तपंचमाभा' ग्रन्थ के आधार पर सिद्ध किया है कि रामानन्द जी के गुरु स्वामी राघवानन्द जी ने भक्ति और योग दोनों का ही समन्वय अपने मत में किया था और एक किंवदन्ती के अनुसार उन्होंने रामानन्द को योगस्थ करके ही उनकी जीवन-रक्षा की थी, अतः यह यह सम्भव है कि स्वामी रामानन्द जी ने अपने गुरु से ही वैष्णवी दीक्षा प्राप्त करने के साथ ही योग की भी दीक्षा पाई हो। किन्तु, जहाँ तक रामानन्द जी की प्रामाणिक रचनाओं—'श्री वैष्णव मताब्जभास्कर' तथा 'श्रीरामार्चन पद्धतिः'—का प्रश्न है, वे विशुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैष्णवाचार्य सिद्ध होते हैं। सम्प्रदाय के अधिकांश विद्वानों ने भी उन्हें वैष्णव भक्त एवं आचार्य माना है और 'अगस्त्यसंहिता', 'भक्तमाल' आदि प्राचीन एवं प्रामाणिक रचनाओं के आधार पर उनका विशुद्ध वैष्णव होना ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार अनन्तानन्द जी भी वैष्णव भक्ति-मार्ग के ही पथिक थे। उनका 'हरिभक्ति सिन्धुवेला' ग्रन्थ विशुद्ध वैष्णवी भक्ति से ओत-प्रोत है। अतः यह बहुत सम्भव है कि अनन्तानन्द जी से पयोहारी जी को योग न मिला होगा और अधिक सत्य यही प्रतीत होता है कि स्वयं पयोहारी जी ने ही रामानन्द-सम्प्रदाय में योग का समावेश किया है।

नाभादास जी के अनुसार कृष्णदास जी राजपूताने के दातिमा (दाधीच्य) ब्राह्मण थे। राजपूताना में विक्रम की १५वीं-१६वीं शताब्दी तक कनफटे योगियों का पर्याप्त प्रभाव था। अतः वहाँ की जनता का उनसे प्रभावित हो जाना असम्भव नहीं। पयोहारी जी पर भी बाल्यावस्था में इन योगियों की साधनाओं के स्पष्ट संस्कार पड़े ही होंगे। अनन्तानन्द से उन्होंने वैष्णव-धर्म में दीक्षा प्राप्त की थी अवश्य, पर संस्कारगत योग से वे मुक्त न हो सके होंगे। नाथपन्थियों को हटाकर जब सम्प्रदाय की गद्दी स्थापित करने का प्रश्न उठा होगा तो उनका यह संस्कार और भी प्रबल हो उठा होगा। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की एक बात और है। पयोहारी जी ने अपने दो प्रमुख शिष्यों—कील्ह और अग्र में कील्ह को ही गलता की गद्दी का अधिकारी बनाया, अग्र को नहीं। कील्ह की प्रवृत्ति योग की ओर अधिक थी। नाभाजी के अनुसार उन्होंने भीष्म पितामह की भाँति ही मृत्यु को स्ववश में कर लिया था सांख्य और योग दोनों ही शास्त्रों के सिद्धान्तों का उन्हें सुदृढ़ अनुभव हो गया था। प्रियादास जी ने इनके अनेक यौगिक चमत्कारों का वर्णन किया है। स्पष्ट है कि पयोहारी जी ने कील्ह की इन्हीं सिद्धियों से प्रभावित होकर अपनी गद्दी का अधिकारी उन्हें बनाया होगा। नाथपन्थियों की दृष्टि गलता की ओर लगी ही रही होगी, वे उसे हस्तगत भी कर लेना चाहते रहे होंगे। कील्ह ने वहाँ रहकर पयोहारी जी के उद्देश्य को पूरा भी किया। स्वयं योग-निष्णात तो वे थे ही, अपने शिष्यों को भी उन्होंने योग का भरपूर ज्ञान कराया। नरवर गढ़ के कछवाहा राजा आसकरन उनके शिष्य थे। मथुरा के राजा मानसिंह के यहाँ उन्हें सम्मानपूर्वक बुलाया ही जाता था। इससे स्पष्ट है कि राजस्थान के राजन्य वर्ग पर इनका बहुत ही प्रखर प्रभाव था, नाथपन्थी योगी इनके विरोध में सिर नहीं उठा सकते थे।

कील्ह के उपरान्त उनके शिष्य द्वारकादास ने योग की परम्परा को और भी आगे बढ़ाया। ये भी अष्टांग योग में पूर्ण निष्णात थे। कूकस ग्राम में बहुत समय तक ये नदी के जल में डूबकर ध्यानावस्थित रहे। घर-द्वार से इन्हें पूर्ण विराग था। कील्ह के ये बड़े कृपा-पात्र थे, अतः उन्हींकी कृपा से इन्होंने माया का भी विनाश कर दिया। नाभा जी ने कहा है,

'अष्टांग योग तन त्यागिये द्वारकादास जानै दुनी।'

इस प्रकार पयोहारी जी की शिष्य-परम्परा में भक्ति के साथ-साथ योगाभ्यास भी होने लगा। धीरे-धीरे रामानन्दी वैष्णवों की एक शाखा में योग-साधना का पूरा समावेश हो गया। यह शाखा 'तपसी-शाखा' के नाम से विख्यात हुई और इस शाखा के साधु, तपस्वी महात्माओं के नाम से पुकारे जाने लगे। आज भी राजस्थान, पंजाब आदि में तपस्वी महात्माओं का बाहुल्य है। अखाड़ों के नागा प्रायः इसी शाखा के अन्तर्गत आते हैं। इन्हें कभी-कभी 'अवधूत'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

भी कहा जाता है और इस शाखा को 'अवधूत-मार्गी शाखा'।

तपसी-शाखा के मुख्य ग्रंथ हैं—'सिद्धान्तपटल', 'रामरक्षास्तोत्र' और 'योग चिन्तामणि'। ये तीनों ही ग्रन्थ रामानन्द जी द्वारा विरचित कहे जाते हैं, किन्तु अनेक पुष्कल प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि ये स्वामीजी-कृत नहीं हैं। फिर भी तपसी-शाखा के मूल-सिद्धान्त इनमें निहित हैं, अतः इनके विवेच्य विषय पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

'सिद्धान्त पटल' अवधूत-मार्ग का एक प्रमुख ग्रन्थ है और इसमें अवधूत-मार्ग की विचार-धारा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसमें एक ओर उन सभी सामग्रियों का वर्णन किया गया है जो वस्त्राभूषणादि के रूप में नाथपन्थी योगियों द्वारा धारण की जाती थीं—जैसे सेली, सिगी, कुब्जी, कड़ा आदि और दूसरी ओर नाथपन्थी पारिभाषिक शब्दावली—हन्सा, शब्द, अगम, सोहम्, पिंड, अजपा, सतगुरु, निर्गुण, निरंजन, विभूति, अलख, गगन, अष्टकमल, त्रिवेणी-सेज, चन्द्र, सूर्य,-नवनाथ चौरासी सिद्ध आदि का भी समावेश किया गया है। इसके साथ ही माला, सुमिरनी, तिलक, गायत्री, हनुमान की पूजा, सालिग्राम, यज्ञोपवीत, रामलक्ष्मण, जानकी माता, ब्रह्मा विष्णु महेश्वरादि देवता, प्रसादी, कंठी, शंख, सम्प्रदाय मन्त्र आदि का भी इसमें पर्याप्त प्रयोग मिलता है। इस ग्रन्थ का आदेश है कि 'वैष्णवों को गुरुबीज मन्त्र का जप करना चाहिए, इससे मन का बन्धन कटता है और भक्त को वैकुण्ठ मिलता है।' ग्रन्थ के अंत में ठाकुर जी के टहल-माहात्म्य का भी वर्णन है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्वामी रामानन्द की कृति न होने पर भी इस ग्रन्थ का एक अद्भुत एवं अद्वितीय महत्त्व है। इसमें निश्चित रूप से नाथपन्थी योग और वैष्णव-भक्ति का समन्वय स्थापित किया गया है। इस प्रयास की अवहेलना नहीं की जा सकती।

'योगचिन्तामणि' में भी काया, कटक, नाद-बिन्दु, सतगुर, अष्टदलकमल, हंसा, सरोवर, शब्द, सुरत, सबल आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह योग-प्रणाली पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ है, किन्तु प्रचार की दृष्टि से इसका कुछ भी महत्त्व नहीं है।

'श्री रामरक्षास्तोत्र' में भी सन्ध्या, निरंजन, नाद, सुषुम्ना, पंचमुद्रा, खेचरी, भूचरी, अगोचरी, उन्मनी, चाचरी, पिण्ड (पिन्ड) त्रिकुटी, अलख, अष्टदलकमल, विन्दु आदि के साथ ही लक्ष्मण, जानकी, हनुमान और राम का भी बीच-बीच में नाम आ गया है।

उपर्युक्त तीनों ही ग्रन्थों में 'सिद्धान्त पटल' अवधूत-मार्ग का सर्वप्रिय ग्रन्थ है इसका पर्याप्त प्रचार भी है। अतः तपसी-शाखा के विचारों का इसमें पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है। योग और प्रेम का बहुत ही सुन्दर समन्वय यहाँ मिलता है। रामानन्द का सिद्धान्त विशुद्ध प्रेम पर बल देता था और इस प्रेम को लेकर संसार-क्षेत्र में आने वाले यात्रियों ने वातावरण के अनुकूल उसे ढाल दिया। रामानन्द की प्रेम-भावना और नाथ-पन्थ के योग को समेटकर आगे बढ़ने वाली 'तपसी-शाखा' का प्रयास बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। बहुत सम्भव है ऐसा ही उदार दृष्टिकोण लेकर कबीरदास ने ही तपसी-शाखा के महात्माओं का मार्ग-प्रदर्शन किया हो। स्वयं रामानन्द में ये प्रवृत्तियाँ समवेत हो गई हों, इसके पुष्कल प्रमाण नहीं मिलते। जो-कुछ भी सामग्री अब तक प्रामाणिक सिद्ध हुई है उससे स्पष्ट ही वे विशिष्टाद्वैत मतानुयायी वैष्णव भक्त प्रतीत होते हैं।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

बच्चन सिंह

नया साहित्य : नये प्रश्न

आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विभिन्न रूपों को समझने-समझाने का जितना तलस्पर्शी प्रयास आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने किया है उतना अन्य कोई व्यक्ति अब तक अकेले नहीं कर सका है। आधुनिक साहित्य के अतिरिक्त सूर और तुलसी-साहित्य के अन्तरंग का भी उनका गहन अध्ययन है। सूर-साहित्य के अन्तरंग पक्ष का गहन अध्ययन उनके 'महाकवि सूरदास' के कतिपय अन्तिम अध्यायों में मिलेगा।[1] नये-पुराने साहित्य के सम्बन्ध में उन्होंने जो-कुछ लिखा है उसमें दृष्टिकोण की नवीनता, अन्तरंग का गहन विश्लेषण और पकड़ की अद्भुत क्षमता दिखाई पड़ती है। यह सच है कि मुख्यतः नये साहित्य और उसकी समस्याओं के चिन्तन और मनन ने उनके दृष्टिकोण को नूतन अलोचनात्मक चेतना दी है, यह भी सच है कि यूरोपीय साहित्य के गम्भीर अध्ययन ने उनकी चिन्ता को नवीन उन्मेष और स्फूर्ति दी है; लेकिन इससे उनकी भारतीय समीक्षा-दृष्टि को सम्पन्नता, परिष्कृति और संतुलन प्राप्त हुआ है। इस नवीन दृष्टिकोण के फलस्वरूप ही वे भारतीय साहित्य-शास्त्र तथा रस-निष्पत्ति का पुनराख्यान कर सके हैं।

वाजपेयी जी की नवीनतम समीक्षा-पुस्तक 'नया सहित्य : नये प्रश्न' में दो दार्शनिक निबन्धों का भी संग्रह है फिर भी समग्रतः इसमें नये साहित्य से सम्बद्ध नये प्रश्नों के विश्लेषण तथा विविध समस्याओं के सन्तुलनात्मक हल प्रस्तुत करने के प्रयास किये गए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक पाँच भागों में विभक्त है—'निकष', 'विवेचन और निरूपण', 'वार्ताएँ और वक्तव्य', 'दो दार्शनिक निबन्ध' और 'परिशिष्ट'। इस पुस्तक में समय-समय पर लिखे गए निबन्धों, वार्ताओं आदि को संग्रहीत किया गया है। इसलिए स्वाभाविक है कि कुछ बातों को पुनः-पुनः ले आना पड़ा है। अतः इसकी प्रमुख विवेचनाओं और मान्यताओं को समीक्षा की परिधि में ले आने के लिए मुझे अलग क्रम बनाना पड़ रहा है। 'निकष' वाजपेयी जी की गम्भीर और रोचक आत्म-समीक्षा है। शेष खण्डों में नवीन यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर आधुनिक-काव्य, नये उपन्यास, समस्या-नाटक, नई समीक्षा तथा पश्चिमी और भारतीय समीक्षा-शास्त्र को कई कोणों से देखा गया है।

---

१. वस्तुतः ये ही अंश उनके द्वारा लिखे भी गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'निकष' में वाजपेयी जी ने अपने कृतित्व की उपलब्धियों और अभावों का विवेचन किया है और नये साहित्य की दिशा निर्देशित करके उसके लिए एक 'निकष' भी तैयार किया है। समीक्षा के क्षेत्र में वाजपेयी जी का आगमन प्रसाद, निराला और पन्त के विवेचक रूप में हुआ था। ये ही इनकी समीक्षा के केन्द्र-बिन्दु थे। वे 'नये जीवन-दर्शन, नई भाव-धारा, नूतन कल्पना छवियों और अभिनव भाषा-रूपों को देखकर उनकी ओर आकृष्ट हुए। उनके अभाव 'साकेत', 'प्रिय प्रवास' और रत्नाकर की काव्य-कृतियाँ इन्हें अनाकर्षक लगीं। इसके फल-स्वरूप, जैसा वाजपेयी जी का कहना है, उनके विवेचन में गहरी एकांगिता आ गई। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में प्रेमचन्द-सम्बन्धी जो निबन्ध संग्रहीत है, उसमें उन्होंने अपनी रुचि की प्रमुखता को स्वीकार किया है। अपनी इस एकांगिता को उन्होंने अपनी अन्य समीक्षा-पुस्तकों में सन्तुलित करने का प्रयास किया है।

यद्यपि वाजपेयी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि वस्तुमुखी दृष्टि के अभाव में उनके साहित्यिक मूल्यांकन में कोई बड़ी कमी आ गई है, यह कहना अतिरंजना होगी; फिर भी वे अपनी एकांगिता के प्रति जारूगक जरूर हैं। लेकिन जिसे वाजपेयी जी ने एकांगिता कहा है वह अपने-आपमें पूर्ण है। 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के छायावादी कवियों से सम्बद्ध निबन्धों के अतिरिक्त महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'रत्नाकर', मैथिलीशरण गुप्त, 'साकेत' और 'रामचन्द्र शुक्ल' पर लिखे गए निबन्ध उनकी तलस्पर्शिनी दृष्टि, अन्तर्भेदिनी प्रतिभा और अचूक पकड़ के द्योतक हैं। इन सभी कवि-लेखकों पर पहली बार नये ढंग से विचार किया गया है जो आज भी अपनी ताजगी और पैनेपन के कारण विचारोत्तेजक बने हुए हैं। समीक्षा के क्षेत्र में भी कुछ हद तक वाजपेयी जी का भी अनुकरण हुआ—विशेष रूप से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को लेकर। कुछ तरुण आलोचक वाजपेयी जी की बात को ठीक ढंग से दुहरा भी न सके। इन्हींके सम्बन्ध में टी० एस० इलियट ने कहा है कि 'The majority of critics can be expected only to parrot the opinions of the last master of criticism'.

उनकी दूसरी पुस्तक 'जयशंकर प्रसाद' में प्रसाद के काव्य (कामायनी), नाटक, उपन्यास (कंकाल) पर भिन्न-भिन्न समयों पर लिखे गए निबन्ध संग्रहीत हैं। प्रसाद के काव्य-नाटकों पर लिखी गई अनेक पुस्तकों के बावजूद भी प्रसाद को समझने के लिए आज भी वह पुस्तक अपना विशेष महत्त्व रखती है। उनकी तीसरी पुस्तक 'प्रेमचन्द : साहित्यिक विवेचन' 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में प्रेमचन्द पर संगृहीत निबन्ध की एकांगिता दूर करने की दृष्टि से लिखी गई है, पर इसमें एक दूसरी एकांगिता आ गई है जिससे प्रेमचन्द की त्रुटियों का पक्ष काफी निर्बल पड़ गया है। यह पुस्तक उनके गौरव के बहुत अनुकूल नहीं हो सकी है। उनकी चौथी पुस्तक 'आधुनिक-साहित्य' '५० में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में 'प्रयोगवाद' सम्बन्धी लेख 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' के लेखों की तेजस्विता को पुनः ताजा कर देता है। इसके सम्बन्ध में उन्होंने 'निकष' में स्वयं लिखा है : ''प्रयोगवाद के लिए मेरी चौथी पुस्तक में एक भी संवर्धना का शब्द नहीं है, बल्कि ऐसी तीव्र समीक्षा है जिससे बहुत से प्रयोगवादी तिलमिला उठे हैं। कुछ ने सफ़ाई देने की कोशिश की है तथा एक महाशय ने उस निबन्ध को मेरा बचकाना प्रयास माना है। 'तार सप्तक' के सप्त महारथियों के लिए मेरी उस निबन्ध की दुर्द्धरता सचमुच अभिमन्यु का बचकाना प्रयास ही है। खैरियत यह हुई कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अहिंसात्मक युद्ध किसी के सिर नहीं बीता, पर हृदय परिवर्तन बहुतों का हुआ है। बहुत-से प्रयोगवादी नये सिरे से समझदार हो गए हैं और कई तो खेमा छोड़कर बाहर चले गए हैं।" जिस तरह शुक्ल जी सम्बन्धी वाजपेयी जी के लेखों ने समीक्षा-सम्बन्धी अनेक नवीन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया उसी प्रकार इस लेख द्वारा भी प्रयोगवाद-सम्बन्धी अनेक संकीर्णताओं का उद्घाटन हुआ। इस पुस्तक के कुछ अन्य निबन्धों की चर्चा उनकी नवीनतम पुस्तक की चर्चा के साथ की जायगी, क्योंकि क्रम-स्थापन की दृष्टि से इन्हें दोनों पुस्तकों में रख दिया गया है।

'नया साहित्य : नये प्रश्न' में साधारणतः पाठकों को जिज्ञासा हो सकती है कि ये नये प्रश्न क्या हैं और वे क्यों उत्पन्न हुए हैं। इन जिज्ञासाओं का समाधान 'विवेचन और निरूपण' खण्ड के पहले निबन्ध—नवीन यथार्थवाद—में मिलेगा। इस निबन्ध को अन्य निबन्धों की पृष्ठभूमि समझना चाहिए। यथार्थवाद के नाम पर दो विचार-पद्धत्तियाँ प्रचलित हैं—मार्क्सवादी विचार-पद्धति और अन्तश्चेतनावादी विचार-पद्धति। मार्क्सवादी विचार-पद्धति या समाजवादी यथार्थवाद 'वर्ग-संघर्ष की भूमि पर काव्य की ऐतिहासिक प्रगति का आकलन करता है।' अन्तश्चेतनावादी साहित्य को मन की दमित वृत्तियों के प्रकाशन का माध्यम मानते हैं, साहित्य की सामाजिक उपयोगिता पर उनका विश्वास नहीं है। वाजपेयी जी ने इन दोनों मतों को परस्पर-विरोधी और अतिवादी कहा है। लेकिन वे इनका सर्वथा तिरस्कार नहीं करते, कल्पित धारणाओं में वे इनकी सहायता अवश्य लेना चाहते हैं। उनका निश्चित मत है कि साहित्य का लक्ष्य और स्वरूप आज की इन यथार्थवादी सीमाओं को पार करने पर ही दिखाई देगा। आज जब हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन हो चुकी है तो उसे वर्गों, फिर्कों या सम्प्रदायों में विभक्त कर परखना अत्यधिक आत्मघाती नीति है। अपने इसी निबन्ध में वाजपेयी जी ने साहित्यकारों का ध्यान नवीन राष्ट्रीय जागृति की ओर आकृष्ट करके स्वस्थ और जीवन्त साहित्य के निर्माण का समर्थन किया है।

'आधुनिक काव्य का अन्तरंग' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने बतलाया है कि काव्य और जीवन की समस्या के नाम पर काव्य 'यथार्थवाद' द्वारा अनुशासित हो रहा है। इनके अतिरिक्त जीवन सम्बन्धी एक तीसरा दृष्टिकोण है—प्रयोगवाद, जिसे निहिलिस्ट दृष्टिकोण कहा गया है। लेकिन आज काव्य में मार्क्सवाद का शोर और अन्तश्चेतनावाद का आतंक बहुत-कुछ शान्त हो गया है। प्रयोगवाद, जिसे वाजपेयी जी ने निहलिस्ट दृष्टिकोण कहा है, अब नकारात्मक नहीं रह गया है। 'अज्ञेय' के 'बावरा अहेरी' की कुछ कविताओं को इसके प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है। हाँ, नकेनवादी आज भी प्रयोग या स्थापत्य को साध्य मानकर पूर्व की समस्त साहित्यिक मान्यता—साधारणीकरण, प्रेषणीयता, संवेगात्मक अनुकूलत्व आदि (Emotional Response)—को अस्वीकार करके सच्चे निहलिस्ट होने के दावे पर अड़े हुए हैं। इस सिलसिले में वाजपेयी जी ने एशिया के पुनर्जागरण, अणु-बम की छाया में शान्ति खोजने वाले मानव-सहयोग आदि के क्रियाशील तत्त्वों को पहचानने के लिए कलाकारों का आह्वान किया है, जो सचमुच में काव्य के अन्तरंग को पुष्ट और प्रशस्त करने में काफी दूर तक योग देगा।

इस संग्रह में उपन्यास-सम्बन्धी चार निबन्ध संग्रहीत हैं—'नये उपन्यास', 'व्यक्तिवादी उपन्यास', 'नवीन कथा-साहित्य—विचार-पक्ष' और 'उपन्यासकार जैनेन्द्र'। पहले निबन्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी-उपन्यास के उपलब्धि-अभाव को उसके ऐतिहासिक विवेचना-क्रम में उपस्थित किया गया है। प्रेमचन्द के बाद वाजपेयी जी ने उपन्यास-लेखकों की जो त्रयी मानी है उसमें—भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्र सम्मिलित हैं। इनके पश्चात् एक दूसरी त्रयी का उल्लेख किया गया है जिसमें यशपाल, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आते हैं। प्रथम त्रयी की उपलब्धि है उपन्यासों को विवरणात्मक पद्धति से हटाकर उन्हें मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करना, लेकिन मनोवैज्ञानिक ऊहापोह में संलग्न हो जाने से उनका सामाजिक पक्ष अत्यन्त अशक्त और कहीं-कहीं रुग्ण हो गया है। दूसरी त्रयी नये यथार्थवाद के किसी-न-किसी रूप से बुरी तरह आक्रान्त है। यशपाल मार्क्सवाद की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाते तो इलाचन्द्र अन्तश्चेतनावाद का, अज्ञेय इन दोनों के सन्धि-स्थल पर खड़े हैं। कदाचित् इसी-लिए अज्ञेय का चरित्रांकन अधिक सूक्ष्म और गहरा है। टेकनीक-सम्बन्धी अनेक उपलब्धियों के बावजूद प्रेमचन्द की मानवीय संवेदना की ओर हमारे उपन्यासकार अभी अच्छी तरह उन्मुख नहीं हो पाए हैं। यह उनका सबसे बड़ा अभाव है। उपन्यास कार जैनेन्द्र को उनकी समग्रता में इस तलस्पर्शिनी दृष्टि से देखा गया है कि उनकी केन्द्रीय स्थापना, परिदृश्य, दृष्टि-कोण, टेकनीक आदि के अनेक पहलुओं का मार्मिक उद्घाटन हुआ है। इसमें जैनेन्द्र का सन्तु-लित विवेचन हुआ है, जो वाजपेयी जी के गहरे चिन्तन का द्योतक है।

नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र सम्बन्धी निबन्ध में मुख्य रूप से समस्या-नाटकों पर विचार किया गया है, जो कई अर्थों में नवीन और विचारोत्तेजक है। समस्या-नाटक मूलतः रूढ़ि-विध्वंसक, बौद्धिक और विचारों को उद्बुद्ध करने वाले हैं। समस्या-नाटकों के आविर्भावक इब्सन के विचार-पक्ष का उल्लेख करते हुए शॉ ने लिखा है कि उसके विचार हमारे ऊपर निर्दय आघात करते हैं और आदर्शों के आतंकों से बच निकलने की उत्तेजनात्मक प्रेरणा देते हैं। उनसे भावी जीवन की वास्तविकताओं के प्रति हमें दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं।[1] मिश्र जी की समस्याओं का बहिरंग तर्कपूर्ण है, लेकिन समाधान भावात्मक और आदर्शवादी। उनकी समस्याएँ न अद्य-तन समस्याओं का स्पर्श करती हैं और न ही हमारी रूढ़ियों पर निर्दय प्रहार। वाजपेयी जी ने उन्हें मूलतः पुनरुत्थानवादी और उग्र हिन्दुत्ववादी कहा है जो नाटकों की विषय-वस्तु और परिसमाप्ति को देखते हुए बहुत-कुछ संगत प्रतीत होता है।

इस पुस्तक में समीक्षा-सम्बन्धी चार निबन्ध हैं—'हिन्दी समीक्षा का विकास', 'द्विवेदी-युग की समीक्षा-देन', 'नव्यतम समीक्षा-शैलियाँ', 'समीक्षा सम्बन्धी मेरी मान्यता'। प्रथम तीन निबन्धों में हिन्दी-समीक्षा के क्रमिक-विकास तथा उसकी प्रमुख भूमियों का उल्लेख करते हुए अपनी साहित्यिक परम्परा को आत्मसात् करने पर बल दिया गया है। इनमें से प्रथम और तृतीय निबन्धों में मार्क्सवादी तथा मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की अतियों पर जमकर प्रहार किया गया है। वैसे इनकी आंशिक आवश्यकता स्वीकार की गई है। साहित्यिक मूल्यों से केन्द्र-च्युत होकर मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र के जंगलों में भटकने वाले आलोचकों से इलियट ने भी निवेदन किया है—And further more there is a philosophic border line, which you must not transgress too far or too oft en, if you wish to preserve your standing as a critic, and are not prepared to persent your-

1. Raymond William, Drama : From Ibsen To Eliot of pp 42.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

self as a philosopher metaphysician, socialogist or psychologist instead" 'समीक्षा सम्बन्धी मेरी मान्यता में' वाजपेयी जी ने बतलाया है कि यूरोप की सामाजिक स्थिति और भारत की सामाजिक स्थिति में पर्याप्त अन्तर है। पश्चिम कई अर्थों में पूर्व से आगे है, उसका साहित्य स्वस्थ होने के साथ प्रतिगामी भी है। हमारा समाज और साहित्य स्पष्टतः विकासोन्मुख स्थिति में है। अतः हमें समीक्षा-विधियों को पश्चिम से उधार नहीं लेना चाहिए। उनकी दृष्टि में भारतीय समीक्षा-पद्धति की दीर्घ और सुदृढ़ परम्परा को नज़र-अन्दाज करना कभी भी श्लाघ्य नहीं है। इसके साथ ही वे पश्चिम के अनेक नवीन विचारों को सन्निविष्ट करके अपनी समीक्षा-पद्धति को पुष्ट करना चाहते हैं। वे सच्चे अर्थ में प्रगतिशील हैं। उनका कहना है—"किसी भी देश का साहित्य केवल शैलियों की सुघरता या शब्दों के चमत्कार से बड़ा नहीं बनता। उनके लिए आवश्यकता होती है अदम्य साहस की, अव्यभिचारी चरित्र की और उदात्त जीवन-चेतना की।" आज के सर्जनात्मक और समीक्षात्मक साहित्य के स्रष्टाओं के लिए उन्होंने जिस महान् राष्ट्रीय चेतना और उसकी प्रगति पर अडिग आस्था की आवश्यकता बतलाई है वह उनके व्यापक, पूर्वग्रह-हीन और सन्तुलित दृष्टिकोण की द्योतक तथा भावी स्वस्थ साहित्य की मार्गदर्शिका है।

व्यावहारिक आलोचना के अतिरिक्त सैद्धान्तिक आलोचना-सम्बन्धी तीन स्पष्ट, सुविचारित और नवीन उद्भावनाओं से सम्वलित निबन्ध भी इस पुस्तक में संग्रहीत हैं। 'पाश्चात्य समीक्षाः सैद्धान्तिक विकास' निबन्ध में पाश्चात्य समीक्षा-शास्त्र के सैद्धान्तिक विकास को बहुत तर्कपूर्ण तथा सुलझे हुए ढंग से उपस्थित किया गया है। इसकी सुसम्बद्धता और एकतानता पर विशेष रूप से दृष्टि रखी गई है।

'भारतीय समीक्षा की रूपरेखा' में अनेक मौलिक प्रश्न उपस्थित किये गए हैं, जो वाजपेयी जी के दीर्घकालिक स्वतन्त्र चिन्तन के परिणाम हैं। भारतीय समीक्षा के पुनः परीक्षण और पुनर्व्यवस्था की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने जो नवीन उपपत्तियाँ उपस्थित की हैं वे गम्भीर चिन्तन की माँग करती हैं। उनका कहना है कि इसकी नवीन व्याख्या और पुनर्व्यवस्था के लिए व्याख्याता या व्यवस्थापक को पश्चिमी समीक्षा की एकतानता और परम्परा के नैरन्तर्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी होनी चाहिए। यद्यपि भारतीय समीक्षा-शास्त्र अतिशय समृद्ध है फिर भी पश्चिमी समीक्षा-शास्त्र की भाँति सुगठित नहीं है। इसलिए आज की पीढ़ी उसके मूल्यों का लाभ न उठाकर पश्चिमी समीक्षा के शब्दों को उधार लेती है।

वाजपेयी जी ने निकोल और बोसांके के 'काव्यशास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र' का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि उनमें भारतीय समीक्षा-शास्त्र के नगण्य विवरण का प्रमुख कारण है भारतीय समीक्षा-शास्त्र की स्पष्ट रूपरेखा का प्रस्तुत न किया जाना। उन्होंने भारतीय समीक्षा-शास्त्र की उन कतिपय त्रुटियों का भी उल्लेख किया है जिनके कारण वह आज के पाठकों के लिए अगम्य और विकर्षक भी हो गया है। उदाहरणार्थ भरतमुनि का 'नाट्य-शास्त्र' नाट्य-विज्ञान की अपेक्षा नाट्य-कला और रंगमञ्चीय कला का विधि-निर्देशक ग्रन्थ रह गया है। दूसरे स्थानों पर तत्त्व-चिन्तन मनोवैज्ञानिक और कलागत विवेचन के साथ इस प्रकार सम्पृक्त हो गया है कि उनकी विभाजक रेखा लुप्त हो गई है। इसी तरह काव्य-सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रन्थों में सिद्धान्त और रीति-व्याकरण पास-पास आ गए हैं। आज इन्हें वैज्ञानिक ढंग पर अलग-अलग करना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ बातों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है। जैसे, रस, रीति, अलंकार आदि के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वे मूल रूप में काव्य-सिद्धान्त के विभिन्न पक्ष थे, न कि सम्पूर्ण काव्य-दर्शन के स्थानापन्न। यह केवल अनुमानाश्रित है, इसके लिए समुचित प्रमाणों का अभाव है। फिर भी भारतीय समीक्षा-शास्त्र के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में जो सुझाव उन्होंने दिये हैं वे अत्यन्त मूल्यवान हैं। वे अलंकार के अन्तर्गत कवि के कल्पना-पक्ष, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के अन्तर्गत अभिव्यंजना की स्थिति और रीति को व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण काव्यात्मक अभिव्यंजना के रूप में स्वीकार करते हैं। इस नव-निर्माण का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उनका कहना है 'नवनिर्माण के इस कार्य में हमारा प्रयोजन कुछ आधारभूत तत्त्वों, सिद्धान्तों या काव्य-शास्त्र के सम्प्रदायों से नहीं, प्रत्युत इतिहास के समस्त विकास-क्रम से है जिससे विभिन्न स्थितियों में विभिन्न तत्त्वों, सिद्धान्तों और सम्प्रदायों का रूप-निर्णय, निर्माण और पुनर्निर्माण किया है, एवं उन्हें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वस्तु प्रदान की है।' इसके लिए उन्होंने इतिहास की गत्यात्मक पृष्ठभूमि का अध्ययन आवश्यक माना है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अध्येता को सारी परिस्थितियों पर विचार करने के लिए स्वतन्त्र और वस्तुमूलक दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा।

इस संग्रह में 'रस-निष्पत्ति'-सम्बन्धी निबन्ध कदाचित् सबसे अधिक विचारोत्तेजक और विवाद-ग्रस्त है। 'रस-निष्पत्ति' का विवेचन करते समय जो नई व्याख्या वाजपेयी जी ने प्रस्तुत की है वह मूलतः लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मतों तथा साधारणीकरण के प्रश्न से सम्बद्ध है। लोल्लट के मत का उल्लेख करते हुए उन्होंने बतलाया है कि 'इन्होंने रस की स्थिति नायक आदि पात्रों में मानी है।' लेकिन आगे चलकर जब वाजपेयी जी लोल्लट के प्रसंग में नायक आदि का अर्थ कवि-कल्पित नायक ग्रहण कर लेते हैं तब कई शंकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अभिनव गुप्त और मम्मट के मत से 'रामादावनुकार्ये' का सामान्य अर्थ ऐतिहासिक राम आदि से लिया गया है न कि कवि-कल्पित राम से। लेकिन वाजपेयी जी का मत शास्त्रीय उद्धरणों के आधार पर अन्यथा नहीं माना जा सकता। एक तो लोल्लट आदि की अपनी कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं दूसरे मम्मट और अभिनव ने स्पष्ट रूप से उसके मत का उल्लेख नहीं किया है। मम्मट के उद्धरण के आधार पर यदि राम को एक ओर ऐतिहासिक राम माना जा सकता है तो वहाँ कवि-कल्पित राम भी माना जा सकता है। सत्य तो यह है कि काव्य-नाटक के राम कवि-कल्पित ही होंगे।

'रस-निष्पत्ति' निबन्ध में साधारणीकरण के सम्बन्ध में भी वाजपेयी जी ने एक मौलिक स्थापना की है कि साधारणीकरण समस्त कवि-कल्पित व्यापार का होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन बातें कही हैं—

(१) 'साधारणीकरण का अभिप्राय यह कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति-विशेष या विशेष वस्तु आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

(२) रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य-ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है···किसी भाव की व्यञ्जना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला

१. दे० अभि० भा० प्र० खण्ड पृ० २७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलम्बन होता है।

(३) जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील द्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई-न-कोई भाव थोड़ा-बहुत अवश्य जगा रहता है, अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।

यदि शुक्ल जी की पहली बात अर्थात् आश्रय के साथ तादात्म्य होने पर साधारणीकरण की स्थिति स्वीकार कर ली जाय तो कई असंगतियाँ उठ खड़ी होंगी। जिनके प्रति हमारे मन में पूज्य-भावना है उनके रति-वर्णन को सुनकर क्या हम आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। ऐसा न तो शास्त्रीय दृष्टि से सम्भव है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही। शुक्ल जी की दूसरी और तीसरी बात में कोई पार्थक्य नहीं पड़ता। शील की दृष्टि से जब कोई पात्र श्रोता या पाठक के किसी भाव का आलम्बन होता है तब भी वह अप्रत्यक्ष रूप से कवि के भाव के साथ ही तादात्म्य स्थापित करता है, जिसका उल्लेख शुक्ल ने एक पृथक कोटि (दे० उ० ३) में किया है।

डॉ० नगेन्द्र ने 'रीति-काव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता' में साधारणीकरण की विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण चर्चा की है। उनकी पकड़ मुख्यतः मनोवैज्ञानिक है। उन्होंने भट्टनायक और अभिनवगुप्त का हवाला देते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।' आगे चलकर उन्होंने इसे और साफ करते हुए कहा है कि 'हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं।'

वाजपेयी जी अनुभूति शब्द का व्यवहार न करके 'समस्त काव्य-प्रक्रिया' शब्द का व्यवहार करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण कवि की 'समस्त काव्य-प्रक्रिया' का होता है। काव्य-प्रक्रिया अनुभूति की अपेक्षा व्यापक शब्द है। इसमें कवि की अनुभूति, विचार, दृष्टिकोण, अभिव्यक्ति आदि सभी बातों का समाहार हो जाता है।

संक्षेप में 'नया साहित्य : नये प्रश्न' में साहित्य की अनेक महत्त्वपूर्ण नई-पुरानी समस्याओं का सन्तुलित और विचारपूर्ण हल प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि सभी प्रश्नों के विवेचन में शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रमुखता दी गई है फिर भी साहित्येतर मूल्यों के यथोचित संनिवेश में उन्होंने कभी अनास्था नहीं प्रकट की है। यथार्थवादी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण तथा उसका साहित्यिक मूल्यानुचिन्तन, नवीन राष्ट्रीय दृष्टिकोण, भावी स्वस्थ साहित्य की रूपरेखा तथा उसके भवितव्य का निर्देशन, भारतीय समीक्षा-शास्त्र की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता आदि बहुत-से विषयों के समावेश तथा सन्तुलित विवेचन में वाजपेयी जी ने समन्वयात्मक और नवीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार-पद्धति अपनाई है। वह अपने-आपमें एक आदर्श समीक्षा-सरणि बन गई है।

इस पुस्तक से प्रतीत होता है कि आज भी वाजपेयी जी का व्यक्तित्व विकसनशील है, यह उनके साहित्यिक विकास की नई मंजिल है। प्रस्तुत पुस्तक में उनके विचारों में जो सन्तुलन और प्रौढ़ता तथा भाषा-शैली में जो स्पष्ट निखार दिखाई पड़ता है वह उनकी भावी प्रौढ़तर कृतियों का द्योतक है।[1]

बालकृष्ण राव

अतिमा : आधुनिक और पुरातन का सन्तुलन

: १ :

पन्त जी के नवीनतम कविता-संग्रह की पहली कविता की पहली पंक्तियाँ हैं :

तुम कहते उत्तर-वेला यह,
मैं सन्ध्या का दीप जलाऊँ !

निश्चय ही, इसके 'तुम' और 'मैं' किसी के भी प्रतीक क्यों न हों, भावकवर्ग की आँखों में यह रचना कवि का ही चित्रण करती जान पड़ेगी। स्वर वही चिर-परिचित स्वर है, कथन की शैली वही भलीभाँति जानी-पहचानी शैली है, भाषा वही पुरानी ग्रान्थिक भाषा है—और, एक प्रकार से देखा जाय तो, कथ्य भी वही पुराना आत्म-विश्वास का उद्घोष है। **"मैं प्रभात का रहा दूत नित, नव प्रकाश सन्देशवाह स्मित", "मैं मानस धर्मा, अक्षय वय"**—अपने सर्वथा सजीव और सक्रिय होने का दावा, भिन्न शब्दों में सही, वयःप्राप्त कवि बहुधा करते रहे हैं। बहुधा इस तरह का दावा करना ही खतरे की पहली घण्टी की तरह भावकवर्ग के कान खड़े करने का काम करता है। कवि जब यह पूछता है कि :

नव विकास पथ में मुड़ मैं अब,
क्यों न भोर बन फिर मुस्काऊँ ?

तो मानो प्रतिध्वनि उत्तर देती है : "इस कारण नहीं, क्योंकि अब तुम मुस्काना भूल गए हो"—और एक बार भूलकर फिर मुस्काना सीखा नहीं जा सकता, भले ही मुस्काने की प्रक्रिया को दुहराते क्यों न रहा जाय।

पन्त जी की यह कविता बड़े साहस की कविता है। यह स्वीकार करने में उन्हें कुछ भी संकोच नहीं हुआ कि **"मैंने कब जाना निशि का मुख ?"**—न इस अपरिचय और अनुभूति के कारण उन्हें इस आमन्त्रण (अथवा चुनौती) के देने में ही कोई संकोच हुआ कि :

आओ तम के कूल पार कर,
नव अरुणोदय तुम्हें दिखाऊँ !

---

1. **नया साहित्य : नये प्रश्न'; लेखक—नन्ददुलारे वाजपेयी; प्रकाशक—विद्या मन्दिर ब्रह्मनाल, बनारस—१।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम कवि का आमन्त्रण स्वीकार करके उसके साथ बढ़ते हैं। इसे हम आमन्त्रण ही मानेंगे, चुनौती नहीं। 'उत्तरा' की भूमिका के बाद कवि उस स्तर से बहुत ऊँचा उठ गया जिस स्तर पर लोग चुनौतियाँ देते और स्वीकार करते हैं। बाह्य और आन्तरिक का सामञ्जस्य ऊर्ध्व संचरण के द्वारा करने की क्षमता रखने वाला कवि हमें आमन्त्रण ही दे सकता है, चुनौती नहीं। वह हमें अपने साथ तम के कूल पार करके नव अरुणोदय दिखाने ले जायगा और इस तरह प्रमाणित कर देगा कि वह 'प्रभात का रहा दूत नित, नव प्रकाश सन्देशवाह स्मित'। 'अतिमा' की कविताओं में यही आमन्त्रण निहित है।

: २ :

संग्रह के छोटे-से विज्ञापन में पन्त जी ने संग्रहीत कविताओं का तीन श्रेणियों में विभाजन कर दिया है। एक श्रेणी प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं की है, जिनके अतिरिक्त 'अधिकतर' ऐसी रचनाएँ संग्रहीत हैं "जिनकी प्रेरणा युग-जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई सृजन-चेतना नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है।" अतः प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त एक श्रेणी इस प्रकार की कविताओं की हुई, जो 'अधिकतर' हैं, इसलिए तीसरी श्रेणी में वे होंगी जो इन अधिकतर कविताओं के अलावा हैं। यही अच्छा होगा कि हम संग्रहीत कविताओं का अनुशीलन इन्हीं तीन श्रेणियों में करें। कवि और उसकी कृति के साथ हम सम्भवतः इसी प्रकार तादात्म्य स्थापित करने में सबसे अधिक सफल हो सकेंगे।

प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में दो प्रमुख हैं: 'जन्म-दिवस' और 'कूर्माचल के प्रति' दोनों इस संग्रह की अन्य सभी कविताओं से आकार में बड़ी भी हैं। दोनों ही उस पार्वत्य प्रदेश से सम्बन्धित हैं जहाँ कवि अपने जीवन के उषःकाल में भावी काव्य-कृतियों के लिए प्रकृति से प्रेरणा पाता रहा। 'जन्म-दिवस' में पहले अपने घर-द्वार, स्नेही-सम्बन्धियों, पुरजनों और परिजनों के अत्यन्त सुन्दर शब्द-चित्र अंकित कर, उनका हमसे परिचय कराने के बाद कवि बड़ी ही भावप्रवणता और उत्कृष्ट शिल्प-कौशल का परिचय देता हुआ एक साधारण प्रादेशिक प्रेम-कथा का हृदयग्राही चित्रमय अंकन करता है। इसमें कवि को कितनी सफलता मिली है यह नीचे की दो पंक्तियाँ ही प्रमाणित कर देंगी:

गूँज रही होंगी गिरि वन अम्बर में दुहरी तानें,
और पास खिंच आये होंगे दो जन इसी बहाने।

इसके बाद, अधिक गम्भीर स्वर में, कवि अपने जन्म-स्थान और जन्म-काल को नव-युग के अरुणोदय का प्रतीक मानकर प्रस्तुत आलम्बनों के सहारे अपने विकसित जीवन-दर्शन को अभिव्यक्ति देने की चेष्टा करता है। कवि कहता है:

था निमित्त शिशु, नवयुग था अवतरित हो रहा निश्चय
बहिरन्तर का धूम चीर हँसता था नव अरुणोदय।
इसीलिए सम्भव हिमाद्रि का स्वर्गोन्मुख आरोहण
युग सनाभि शिशु के मन के हित रहा महत् आकर्षण।

कविता वहीं पूरी हो गई थी। उसके बाद प्रतीकों के नागदन्तों पर कवि अपने दर्शन-वसन टाँगने में लग गया। मात्र शिल्प के बल पर कविता का-सा प्रभाव इन प्रतीकों का भी हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है—पर वह प्रभाव ही है, भाव नहीं।

'कूर्मांचल के प्रति' कवि की नगाधिप के प्रति, उसके और अपने गौरव के अनुरूप, विपुल हेम-मुद्राओं से परिपूर्ण श्रद्धाञ्जलि है। इसमें भी अन्त में कवि ने प्रतीकों के सहारे दार्शनिक प्रवचनों को अटका देने की चेष्टा की है, पर यह कविता इनके बोझ को सह सकती है—यही नहीं, इसके सहारे अटकाया जाकर विदग्ध चिन्तन सहज ही कवित्वमय हो गया है। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे, एक इस बात का प्रमाण देने के लिए कि कवि की हेम-मुद्राएँ खरे सोने की हैं, दूसरा इसका कि कविता (यद्यपि उसकी अपेक्षा नहीं करती, फिर भी) दार्शनिक प्रवचनों को सहज सुन्दर क्षमता से न केवल सँभाल लेती है अपितु उन्हें और भी ऊँचा उठाने में समर्थ हो सकी है। पहला उदाहरण है :

राजहंस-सा तिरता शशि मुक्ताभ नीलिमा जल में
सीपी के पंखों की छहरा रत्न छटा जल थल में।
धुली वाष्प पंखड़ियों में रँग भरते कला सुघर कर,
सुरधनु खण्डों में किरणों की द्रवित कान्ति कर वितरित,
रंग गन्ध के लता-गुल्म से गिरि द्रोणी अतिरञ्जित
देवदारु रज पीत सुहाती ग्रामवधू-सी सुन्दर !

और दूसरा :

रुके मूक भू मानस गह्वर, रुके स्तब्ध गिरि कन्दर,
(शतियों के पुञ्जित तमिस्र से पीड़ित जिनका अन्तर !)
बिछ प्रतीक्षा में प्रसार होने को तुमसे दीपित !
धूमिल क्षितिज, गरजता अम्बर, उद्वेलित जन-सागर,
जड़ चेतन की दृष्टि निर्निमिष लगी ज्योति-शिखरों पर,—
मानवता का दिक् प्रशस्त उन्नयन तुम्हीं पर आश्रित !

यह कवि की परम सफलता है कि इस दर्शन के शांत-पट से ढका जाकर नगाधिप मिट्टी का ढेर नहीं हो जाता, प्रत्युत और भी ऊँचा उठ जाता है ! 'गिरि प्रान्तर' का कृत्रिम चित्र शिल्प के सहारे अपने-आपको प्रकाश में सुरक्षित नहीं रख पाता। शिल्प बहुत पुराना हो चुका, चित्र की कृत्रिमता प्रकट हो ही जाती है। पर 'पतझर' सफल और सुन्दर कृति है, जो बरबस कीट्स के 'ओड टु आटम' की याद दिलाती है। 'पतझर' कीट्स की प्रख्यात कविता से कम गम्भीर नहीं है, पर उत्कृष्ट शिल्प और ऊँचे दर्शन के बावजूद, कविता की दृष्टि से यह कीट्स के 'ओड' की समता नहीं करती। पन्त जी की अतिशय ग्रान्थिक भाषा एक ऐसा दुर्वह भार है जिसे पीठ पर लादकर कविता लड़खड़ाने लगती है, थककर बैठ जाती है और लाख कोशिश करने पर भी अपने मुख पर सहज मुसकान नहीं ला पाती। छायावादी युग की काव्य-भाषा का मोह पन्त जी की बहुत-सी कविताओं को उसी प्रकार निर्वीर्य बना देता है जैसे बहुधा उनका दार्शनिक, उपदेशात्मक स्वर उन्हें मुक्त विहग-सा उड़ाने न देकर पर काटकर पिंजड़े में बन्द कर देता है। पिंजरे में बन्द होकर भी विहग तो विहग ही कहलायगा, पर कहलाये जाने की वजह से ही उड़ तो नहीं पाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

संग्रह की विशिष्ट कविताएँ वे हैं जिनकी ओर पन्त जी ने यह कहकर संकेत किया है कि उनमें "सृजन-चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में, युग-जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई, काव्याभिव्यक्ति की प्रेरणा मूर्त हुई है।" 'अतिमा' की सबसे ऊँची कविताएँ ये न भी हों, सबसे अधिक आकर्षक अवश्य हैं। इनमें नवीनता है—ऐसी नवीनता, जो बलात् भावक को अपनी ओर आकृष्ट करती है। पर क्या यह नवीनता सचमुच प्राणगत आधुनिक है? उत्तर के लिए कविताओं पर दृष्टि-निक्षेप करें।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि संग्रह की दूसरी कविता 'गीतों का दर्पण', इस द्वितीय (नवीन रूपकों तथा प्रतीकों वाली) श्रेणी में रखी जानी चाहिए अथवा नहीं, पर यदि न भी रखी जा सके तो भी इसका पता लगाने के लिए इस कविता का महत्त्व और मूल्य संग्रह की किसी भी कविता से कम नहीं है, कि कवि स्वर आधुनिकता है अथवा मात्र नवीन, क्योंकि संग्रहीत कविताएँ एक वर्ष की अवधि में ही लिखी गई थीं। 'गीतों का दर्पण' भी 'नव अरुणोदय' की तरह कवि की ओर से एक सन्देश अथवा विज्ञापन है। 'नव अरुणोदय' में कवि ने हमें याद दिलाया था कि वह 'नव प्रभात का रहा दूत नित' अब 'गीतों के दर्पण' में हमें आमन्त्रित करता हुआ कहता है—

यदि मरणोन्मुख वर्तमान से
ऊब गया हो कटु मन
... ...
तो मेरे गीतों में देखो
नव भविष्य की झाँकी।

जयदेव ने इससे कहीं कम दावा किया था। **'यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलास-कलासु कुतूहलं, मधुर कोमलकान्त पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्'** : इसमें कवि इतना ही कहने का साहस करता है कि यदि उस दिशा की ओर जाना चाहते हो जिधर वह स्वयं जा रहा है, तो उसके साथ हो लो। पन्त जी इससे अधिक आशा दिलाते हैं; उनकी कविता इसकी अपेक्षा नहीं करती कि भावक उस प्रकार का पदार्थ चाहता हो जो वह दे सकते हैं, वह सन्देश सुनना चाहता हो जो उन्हें सुनाना है—इतना ही चाहिए कि उसका मन वर्तमान, मरणोन्मुख वर्तमान, से ऊब गया हो: नव भविष्य की झाँकी देखना ही उसके लिए वांछित संजीवनी है, और वह संजीवनी कवि के पास है। यह स्वर अन्वेषक का नहीं, सिद्ध का है, विज्ञान-प्रेरित आधुनिक जिज्ञासा का नहीं, प्रयोगशाला से बाहर आकर प्रयोग की सफलता की घोषणा करने वाले लब्धकाम आत्म-विश्वास का है, एवरेस्ट का दर्शन करके लौटते हुए तेनसिंह का है। पर यह कौन-सा 'वर्तमान' है जो मरणोन्मुख है, जिसकी मरणोन्मुखता के बीच रहते-रहते मन कटु हो गया है? कवि इस कटुता इस व्याधि की कुछ और व्याख्या-सी करता हुआ जन-मन के व्याधिग्रस्त होने के कुछ और लक्षण हमें बताता है :

उठते हों न निराश लौह पग
रुद्ध श्वास हो जीवन!

'लौह पग' मशीन सभ्यता के प्रति संकेत है—पर यह आज का स्वर है अथवा बीसवीं शती के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रारम्भिक दशक का ? कवि आगे कहता है :

रिक्त बालुका यन्त्र,—खिसक हो
चुके सुनहले सब क्षण,
तर्कों वादों में बन्दी हो
खिसक रहा उर-स्पन्दन !

बालुका यन्त्र की रिक्तता भी स्पष्ट संकेत है—वर्तमान के मरणोन्मुख होने की ओर। पर आज का उर-स्पन्दन क्या सचमुच तर्कों और वादों में बन्दी है ? क्या यह द्वितीय महा समर के पहले की युग-मनःस्थिति का चित्रण नहीं है ? आज का युग स्थावरता का नहीं संक्रान्ति का, अथवा पन्तजी की 'अतिमा' के अनुसार अतिक्रान्ति का, युग है : यह कविता पचीस वर्ष पूर्व निःशब्द, निराकार जन-मन के बन्द कक्ष में घुट रही थी, प्रकट होने में जो विलम्ब हुआ वह वर्ड्स्वर्थ के इस कथन की सत्यता प्रमाणित करता-सा जान पड़ता है कि 'कविता भावोद्वेग की शान्त-मन पुनरावृत्ति है।' कवि का मन विमल और सर्वथा शान्त है, उसका अतीन्द्रिय आमन्त्रण आनन्द की उपलब्धि के लिए है। कवि के शब्द हैं :

यदि यथार्थ की चकाचौंध से
मूढ़ दृष्टि अब निष्फल,—
डूबो गीतों में, जिनका
चेतना-द्रवित अन्तस्तल।

'अनबूड़े बूड़े, तरे जो बूड़े सब अंग ! बूड़ने वाले के लिए ही यह गीतों का दर्पण है जिसमें वह अपना 'श्री-नव आनन' देख सकता है।

उस 'ऊर्ध्व-संचरण' का आग्रह, जिसकी व्याख्या कवि ने 'उत्तरा' की भूमिका में की थी, हमें 'अतिमा' में सर्वत्र मिलता है। 'जन्म-दिवस' में हम 'हिमाद्रि का स्वर्गोन्मुख आरोहण' देखते हैं जो 'कूर्मांचल के प्रति' के 'शाश्वत शिखरों' में निखरा, शान्त और समुज्ज्वल हो जाता है। 'नव-जागरण' में हम देखते हैं कि :

रजत प्रसारों में उड़ नूतन
प्राण मुक्त करते आरोहण

और जहाँ संचरण नहीं है वहाँ ऊर्ध्वोन्मुखता ही संचरण का स्थान ले लेती है। 'बाहर भीतर' में :

भू को अन्धकार का है भय,—
शिखरों पर हँसता अरुणोदय :

यह 'हँसना' निस्सन्देह ऊर्ध्व-संचरण का ही निमन्त्रण है।

पर 'अतिमा' का स्वर केवल उर्ध्व-संचरण का ही हो, ऐसी बात नहीं है। 'जिज्ञासा' शीर्षक विशुद्ध रूमानी कविता में हमें कवि शिखरों की नहीं अतलताओं की पावनता की बात कहता मिलता है, समतल प्रदेश पर खड़ा गाता है :

कौन स्रोत ये ?
ये किन आकाशों में खोए
किन अवाक् शिखरों से झरते ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किस प्रशान्त समतल प्रदेश में
रजत फेन मुक्ता रव भरते !
ये किन स्वच्छ अतलताओं की
कांत नीलिमाओं में बहते ?
किस सुख के स्पर्शों से स्वर्णिम
हिलकोरों में कँपते रहते !

कविता इतनी सुन्दर और सरस है कि उसकी थोड़ी-सी पंक्तियाँ उद्धृत करके सन्तोष नहीं होता, पर एक छोटे-से लेख में थोड़ी-सी पंक्तियाँ ही उद्धृत की जा सकती हैं। कुछ पंक्तियाँ और देखिए :

कौन स्रोत ये !
श्रद्धा औ' विश्वास—रुपहले
राज मरालों के-से जोड़े
तिरते सात्विक उर सरसी में
शुभ्र सुनहली ग्रीवा मोड़े।
शोभा की स्वर्गिक उड़ान से
भर जाता सहसा अपलक मन,
बजते नव छन्दों के नूपुर
अलिखित गीतों के प्रिय पद बन !

निःसन्देह शैली में नवीनता का आग्रह नहीं है, स्वर कवि का चिर-परिचित छायावादी स्वर ही है, फिर भी यह कविता बासीपन के दोष से मुक्त है; क्योंकि सुन्दर ही नहीं, सरस भी है। मैंने सरस जान-बूझकर कहा है, क्योंकि इस कविता की सहायता से पन्त जी के काव्य पर सामान्यतया लगाए जाने वाले एक आरोप का आवश्यक खण्डन करना सुकर हो सकता है। रस की सर्जना निःसंशय काव्य का धर्म है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि शिल्प की दृष्टि से कितनी भी उत्कृष्ट क्यों न हो, कविता यदि भावक के मन को रसार्द्र नहीं कर पाती तो भावक के लिए वह कविता नहीं है। पर जिस मन को रसार्द्र करना कविता का स्वाभाविक कर्म और सर्वमान्य धर्म है वह मन केवल छलकते हुए उद्वेगों का पात्र नहीं है, वह विशद चेतना-भूमि है जिस पर भावना और विचार, हृदय और मस्तिष्क समान अधिकार के साथ निवास करते हैं और प्रभाव डालते हैं। रस केवल भावोद्वेग नहीं है, अनुभूति केवल इन्द्रियाश्रित नहीं है। 'जिज्ञासा' में (और अपनी अधिकांश सफल कविताओं में) पन्त जी जिस रस की सृष्टि करते हैं वह साधारणतया स्वीकृत परिभाषा से बँधा नहीं है, व्यापक अर्थ में, व्यक्ति-चेतना का सहज-ग्राह्य अतीन्द्रिय रस है। पन्तजी की कविता का उस भावकवर्ग के लिए कोई मूल्य नहीं है जो रस की संकीर्ण परिभाषा करता है—पर उस भावक वर्ग के लिए सम्भवतः साँस लेने की प्रक्रिया ही जीवन है। नये विचारों का आघात जिनके लिए ऐन्द्रिक अनुभूति की-सी प्रभावोत्पादिनी शक्ति नहीं रखता उनके लिए पन्त जी कह सकते हैं 'जानन्ति ते किमपि, तान्प्रति नैष यत्नः' है।

यह बात 'अतिमा' की बहुत-सी—यह कहना भी अनुचित न होगा कि अधिकतर रचनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए कही जा सकती है । इनमें कुछ असाधारण कृतियाँ हैं, जैसे 'स्फटिक वन', जो छायावादी सज्जा में आधुनिक भावोन्मेषण की काव्यमयता की सफल उपलब्धि है;—कुछ सुन्दर, शीतल पर निष्प्राण चित्राकृतियाँ हैं, कुछ सर्वथा अकवित्वमय पत्रकारिता हो जाने से मात्र शब्द-शिल्प के द्वारा बचा ली जाती हैं, जैसे 'नेहरू-युग'; और कुछ ऐसी हैं "जिनकी प्रेरणा युग-जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई सृजन-चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है।"

: ४ :

अब तक हम जिन कविताओं को देख रहे थे उनके विषय में यह कहना सम्भव नहीं है कि वे इस विशिष्ट श्रेणी में आयेँगी या नहीं—शायद नहीं। पर जिनके विषय में सन्देह हो ही नहीं सकता वे हैं—सोनजुही; आ : धरती कितना देती है; कौए, बत्तखें और मेढक; प्रकाश, पतिंगे और छिपकलियाँ; केंचुल; स्वर्णमृग आदि । इनमें सम्भवतः 'सोनजुही' सुन्दरतम है और 'केंचुल' अपेक्षाकृत सबसे कम सफल हो सकी है । 'सोनजुही' से कुछ थोड़ी-सी पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करना निरर्थक होगा, क्योंकि एक तो यह कविता समूची उद्धृत करने योग्य है, दूसरे इसे आधुनिक हिन्दी-कविता के प्रायः सभी पाठक जानते ही हैं । इसके अन्त में भी पन्त जी दार्शनिक प्रवचन चिपका देने का लोभ संवरण नहीं कर पाए—और यह प्रवचन कविता के साथ मिलकर एक नहीं हो पाया, चिपका ही रहा । इस तरह की कविता के साथ यह व्यवहार कुछ टाल्स्टाय के ढंग का लगता है, जो अपने कलाकार-व्यक्तित्व को उपदेशक और विचारक-व्यक्तित्व का जरखरीद गुलाम समझता था। भाग्यवश 'सोनजुही' का दार्शनिक विश्लेषण कविता से स्पष्टतः इतना असम्पृक्त जान पड़ता है कि भावक के लिए उसे अलग रखकर कविता का आस्वादन करना सुकर ही नहीं स्वाभाविक हो जाता है ।

इसमें ही पन्त जी की सफलता और असफलता का एक साथ परिचय मिल जाता है । यह उनकी सफलता है कि अपने जीवन-दर्शन की ऊँची बरफीली पहाड़ी चोटी पर भी उन्हें काव्य-कुसुम खिले मिलते हैं । उनकी असफलता यह है कि उनमें से बहुत-से कुसुम निर्गन्ध होते है। 'सोनजुही', 'आ : धरती कितना देती है !' आदि कविताएँ अपवाद-सी इतस्ततः विकर्ण जान पड़ती हैं।

इन कविताओं में यदि 'सृजन-चेतना के नवीन रूपकों' की खोज न भी की जाय तो भी उनके कवित्व में कोई कमी नहीं आती, हाँ, उनकी नवीनता अवश्य अदृश्य हो सकती है। तो क्या मात्र नवीनता लाने के लिए ही कवि ने उनमें 'नवीन रूपकों और प्रतीकों' की निर्माण-प्रक्रिया का समावेश किया है ? ऐसी भ्रान्ति 'सोनजुही' को देखकर हो सकती है, क्योंकि 'सोनजुही' इन नवीन प्रतीकों का भार आसानी से नहीं उठाती—कहना तो यों चाहिए कि उठाती ही नहीं। पर अन्य रचनाओं के विषय में यह कहना अन्याय होगा । 'कौए, बत्तखें और मेढक', 'स्वर्णमृग' आदि ऐसी कविताएँ भी 'अतिमा' में मिलेंगी जिनका सृजन ही इन प्रतीकों को काव्यात्मक प्रेषणीयता देने का नाम है । इस तरह की रचनाओं में सम्भवतः सबसे सफल और सबसे ऊँची कविता 'सन्देश' है, जो आरम्भ से ही अपनी शक्तिमत्ता का परिचय देती हुई प्रतीकों में प्राण-वायु का संचार करती चलती है और अन्त होते-होते सच्ची कविता की वह सम्पन्नता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त कर लेती है जो अद्वय और अपरिहार्य होती है और जिसका आशय उसके अर्थ से कहीं व्यापक और सबल होता है। 'सन्देश' के आरम्भ की पंक्तियाँ हैं :

मैं खोया-खोया-सा, उचाट मन, जाने कब
सो गया तखत पर लुढ़क, अलस दोपहरी में,
दुःस्वप्नों की छाया से पीड़ित, देर तलक
उपचेतन की गहरी निद्रा, में रहा मग्न।

जब सहसा आँख खुली तो मेरी छाती पर
था असन्तोष का भारी, रीता बोझ जमा,
....
इतने में मेरी दृष्टि फर्श पर जा अटकी,
जिस पर जाड़े की चिट्टी, ढलती, नरम धूप
खिड़की की चौखट को कुछ लम्बी, तिरछी कर
थी चमक रही टूटे दर्पण के टुकड़े सी—

इस प्रकार कवि हमारा परिचय उस धूप से कराता है जो सन्देश-वाहिका बनकर आई थी। किसे सन्देह हो सकता है कि यह सचमुच धूप नहीं है, मात्र प्रतीक है। अपराह्न में उदास-मन लेटकर सो रहने के बाद उठने पर जिस रिक्तता का अनुभव हम सबको होता, हो सकता है उससे यह, 'असन्तोष का भारी, रीता, बोझ' क्या भिन्न है? पर इस साधारणीकरण में वैशिष्ट्य का लोप नहीं हुआ है। असाधारण, किन्तु सहज, सिद्धहस्तता का परिचय देता हुआ कवि 'जाड़े की चिट्टी, ढलती, नरम धूप' को ऐसी विलक्षणता दे देता है कि उसके लिए सन्देशवाहक का कार्य अद्भुत य असाधारण नहीं रह जाता। यह कविता छायावाद और आधुनिक युग की भाव-भूमियों के बीच सेतु-सी, दोनों से कुछ भिन्न पर दोनों की सम्पत्ति है और पन्त जी के काव्य की अद्यतन परिणति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'अतिमा' न आधुनिक है, न पुरातन : उसकी सार्थकता और सीमा इसीमें है कि वह दोनों को एक-दूसरे से मिलाती और एक को दूसरे का पूरक बनाने की चेष्टा करती है।[1]

डॉ० रामरतन भटनागर

वर्तमान कविता में नये गीति-स्वर

'दिवा लोक' में शम्भूनाथ सिंह की ४३ कविताएँ संग्रहीत हैं। इन कविताओं में से अधिकांश प्रगीतात्मक हैं, यद्यपि लय और छन्द के अनेक प्रयोग इन प्रयोगात्मक कविताओं में मिलेंगे। ग़ज़ल, सॉनेट और लोक-गीतों की धुन से समन्वित कुछ रचनाएँ भी हैं, परन्तु वे अधिक नहीं

१. 'अतिमा'; लेखक—सुमित्रानन्दन पन्त; प्रकाशक—भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। यह स्पष्ट है कि 'दिवालोक' के कवि की प्रमुख प्रवृत्ति गीतात्मक है और इसी सन्दर्भ में हमें उनकी इस कृति को परखना होगा।

संग्रह में सबसे अधिक रचनाएँ कवि के वैयक्तिक सुख-दुःख से अनुप्राणित हैं और मिलन-वियोग, हर्ष-विषाद के स्वरों को मुखरित करती हैं। इस कोटि की रचनाओं में छायावादी प्रगीति-काव्य के सन्दर्भों, मूर्ति-विधानों और प्रतीकों का प्रचुर रूप से प्रयोग है और एक तरह से हम उन्हें उस गीत-धारा से सम्बन्धित कर सकते हैं जो छायावादी गीति-काव्य के विकास के रूप में परवर्ती युग में चल रही है। यह गीत-धारा उस नव्य स्वच्छन्दतावादी (या प्रतीक-वादी) धारा से अलग अस्तित्व रखती है जो नये काव्य का एक प्रमुख अंग है, परन्तु उसका विकास उसके समानान्तर ही हुआ है। कवि ने छायावादी प्रगीतों से ही बहुत-कुछ नहीं सीखा है, उस पर ग़ज़ल के छन्दों, लोक-गीतों की धुनों और संगीतात्मक प्रेरणाओं का भी ऋण है। यह स्पष्ट है कि शम्भूनाथ सिंह की ये रचनाएँ इस गीत-धारा के ही अन्तर्गत आती हैं।

इन गीतों में से कुछ में कवि ने अपने भीतर के विषाद का बड़ा मार्मिक अंकन किया है। "मैं सभी का हूँ न कोई किन्तु मेरा।", "दिन हैं खोए-खोए, भूली-भूली रातें।", "तुम्हें याद मेरी न आती कभी क्या?", "है वही चाँद, पर दूसरी चाँदनी।", "जी सकूँ चुपचाप" और "आषाढ़स्य प्रथम दिवसे" रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इस विषाद की गहन छाया का चरमोत्कर्ष हमें उन पंक्तियों में मिलता है जहाँ कवि जीवन को ही नहीं, मरण को भी चुपचाप स्वीकार कर लेना चहता है :

तुम पुकारो पार से जब,
स्वर सुनूँ स्वरकार के जब,
मैं तुम्हारा प्यार ले तब,
प्रिय तुम्हारे चरण पर मर
भी सकूँ चुपचाप।
प्रिय, मैं जी सकूँ चुपचाप।

मिलन और उल्लास के गीत थोड़े हैं, परन्तु उनमें कवि की आध्यात्मिक जाग्रति की भी व्यंजना बहुत सुन्दर ढंग से हो गई है। 'छवि-दर्शन', 'स्वयं से दूर' और 'तृप्ति'-जैसी रचनाओं में आत्मा की परिपूर्ण उपलब्धि की बड़ी सुन्दर और पुष्ट अभिव्यक्ति हुई है, जैसे :

भर दिए आज तुमने अमर गान से।
स्वप्न सच हो गए।
अश्रु-घन खो गए।
प्राण फिर चाँदनी-
अंक में सो गए,
दूर तुम से हुआ मैं अचल तम-प्रहर,
पूर्णिमा-क्षण बना एक मुसकान से। (तृप्ति)

कुछ गीतों में प्रकृति का भी सुन्दर चित्रण है, जैसे "चाँदनी', 'मधु ऋतु' और 'सागर की पूर्णिमा' शीर्षक रचनाओं में। अन्तिम कविता में सागर के हिल्लोलित जल पर प्रतिबिम्बित पूर्ण चन्द्र की छटा को कल्पना के सम्पूर्ण ऐश्वर्य से उभारा गया है। अन्तिम बन्ध है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल की तमपूर्ण गुफा ज्योतित,
कण-कण में एक रूप बिम्बित,
पारद-सी ज्योति-शिखा अनगिन,
बिखरी हैं लहरों में नर्तित,
चल जल के शीशमहल में, लो,
बिजली का दीपस्तम्भ हिला।

परन्तु इन स्वतन्त्र प्रकृति-गीतों को छोड़ दें, तब भी अन्य रचनाओं में प्रकृति-सम्बन्धी उपमानों और प्रतीकों का व्यापक रूप से और कभी-कभी एकदम नवीन सन्दर्भ में उपयोग हुआ है, जो कवि की रसात्मक प्रवृत्ति पर अच्छा प्रकाश डालता है।

दूसरी कोटि की रचनाएँ वे हैं जिनमें कवि ने युग-सत्य को प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा की है या जिनमें उसकी राजनीतिक अथवा विश्व-जीवन-सम्बन्धी चेतना स्पष्ट रूप से उभर आई है। संग्रह की पहली कविता 'स्वप्न और सत्य' में ही अपने काव्य के द्विविध रूप की ओर कवि ने संकेत किया है। वह कहता है :

तुम्हें सुलाता हारा
मन बेचारा।
जिसका कहीं न इति-अथ
यह अनन्त नीरव पथ
फिर भी जिस पर प्रति पल
करता है अतीत कोलाहल
मुखरित प्राणों का वन,
बजती रोम-रोम में मुरली निस्वन,
वर्तमान से कितना सुखद पलायन।
पर धिक् रे मन,
यदि चरणों में है गति
उर में कम्पन, तो अतीत क्या बन सकता है बन्धन।

'जीवन की आग', 'पथ में', 'बढ़ रहे चरण', 'मुक्ति-दीप' और 'विश्व मेरे' शीर्षक रचनाओं में प्रगतिशील जीवन और विकासमान मानवीय चेतना की ही पुकार दीप्तिमान है। बढ़ते हुए चरणों के आत्म-गौरव और मार्ग की कठिनता का वर्णन करता हुआ कवि उन्हें प्रगति का प्रतीक बनाकर उपस्थित करता है :

पथ पर बढ़ रहे चरण।
श्रम-सीकर से सिंचित,
धूसर रजकण-मण्डित,
फूलों से अपमानित,
शूलों से अभिनन्दित,
अंकित कर चिह्न विरल,
गिरि-पथ चढ़ रहे चरण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक अन्य रचना 'कर्म-पथ' में उसने युग की कर्मण्यता को ललकारते हुए तारुण्य के चिरजयी जीवन-दर्शन को इस प्रकार अभिमन्त्रित किया है :

हो ध्येय का ध्यान,
दिन-रात सम मान,
मन मत करो म्लान,
बढ़ते रहो, तट कि मझधार।
पथ को करो प्यार।

बच्चन के 'हार मत' गीत की तरह यह गीत भी कर्म की ऊर्जस्विता और नये जीवन की अदम्य गतिशीलता का अभिनन्दन करता है। 'जन-देवता' कविता में नये जागरण के सम्बन्ध में कवि की विचार-धारा का पूरा स्वरूप मिलता है। रात चली गई है, प्रभात हो गया है परन्तु जन-जीवन को मुक्ति नहीं मिली है। अर्गला नहीं खुली है। कवि एक 'नई दासता' का अनुभव कर रहा है। जन-जीवन के इस गत्यवरोध और आभ्यन्तरिक कुण्ठा का वर्णन कवि अत्यन्त सफल प्रतीकों में करता है :

गगन मिला पर न पंख मिल रहे,
किरन मिली पर न कमल खिल रहे,
पंथ मिला पर न चरण हिल रहे,
दीप-सजल नयनों से निज असीम वेदना,
कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन देवता ?

और अन्त में कवि प्रश्न करता है :

कब तक यह अनृत यह प्रवञ्चना ?
कब तक यह करुण अश्रु-अर्चना ?
कब तक यह मोह-मरण-साधना ?
क्रान्ति-शान्ति-समता-आनन्द हेतु क्या कहो,
प्रलयंकर रुद्र न होगे क्या जन-देवता ?

जन-जीवन की इस अन्तर्वर्ती व्यथा को कवि पहचानता है और नये विश्वास की स्वर्ण-शिखा से मण्डित आशा का प्रदीप लेकर प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता है। इसीलिए उसकी रचना नये प्राण से ओत-प्रोत है। उसका निराशावादी स्वर अन्त में अदम्य रूप से आशावादी हो उठा है, क्योंकि वह एक नये अनागत सवेरे की कल्पना का अभिनन्दन करता है जब मनुष्य ऊर्ध्वबाहु हो उद्घोषित कर उठेगा कि :

... ...हम अनश्वर
शक्ति के हैं केन्द्र जीवन के प्रणेता।
क्षुद्र तिनके काल-धारा के विजेता
अब बनेंगे, एक-एक नहीं सहस शत
एक हो कर। आत्म मुक्त समष्टि-चेता
व्यक्ति होगा, काल के रथ पर चढ़ेगा।
प्राणवन्त, नई दिशाओं में बढ़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संग्रह की जिस अन्तिम कविता 'विश्व मेरे' से ये पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, वह निश्चय ही बड़ी मार्मिक बन पड़ी है और उसमें नई आशा के स्वर बड़ी सुन्दरता से बँध सके हैं।

परन्तु स्वप्न और सत्य के इन दो छोरों के बीच जो भावुक क्षण कवि ने पकड़े हैं, वे इनसे कहीं अधिक मार्मिक हैं और उनमें हमें ऐसी चीजें मिलती हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। 'एक क्षण', 'आधी रात', आज' और 'हिमालय-सम्बन्धी पाँच सॉनेट' में हमें कवि की कला का सुन्दर निखार मिलता है। गीति-काव्य की तन्मयता, केन्द्रीयता, आत्मनिष्ठा और रसग्राही भावुकता इन रचनाओं में पूर्ण रूप से पल्लवित हुई है। उदाहरण के लिए 'आज' शीर्षक कविता में प्रेमिका की अप्रत्याशित उपलब्धि को कवि ने कितनी भावुकता से, कितने मोह से पकड़ा है और प्रत्येक बन्ध में नये उपमानों में, नई भाव-भंगिमा से उस उपलब्धि को विभूषित किया है। ये क्षणों के फूल सहज में बँध नहीं पाते। परन्तु इन्हीं के बाँधने में कला की सार्थकता है। शम्भूनाथ सिंह के काव्य में ये क्षण बड़ी सुन्दरता से बँध गए हैं।

हिमालय-सम्बन्धी सानेट-पंचक का इस संग्रह में अपना स्वतन्त्र स्थान है। इसमें कवि ने पुराण-गाथाओं, प्राकृतिक प्रतीकों, वस्तु-चित्रों और कल्पना-रेखाओं के माध्यम से हिमालय के अप्रतिम सौन्दर्य और अतलगर्भी रहस्य से स्नेह का व्यक्तिगत नाता जोड़ा है। यह चित्र कवि की पौराणिक मूर्त्तिमत्ता का नमूना है :

थी पार्वती धरती जलती तप से निर्जल,
था महाकाल ज्यों समाधिस्थ निर्द्वन्द्व अचल,
सहसा झंकृत अनंग-धनु से शर छूट पड़े,
बन पंचबाण के पुष्प बरसते थे बादल।

अंतिम सॉनेट में कवि ने सचमुच ही प्रस्तर के अन्तर के रसमय स्रोतों को ढूँढ़ निकाला है।

इन थोड़ी रचनाओं में ही हमें शम्भूनाथ की काव्य-शक्ति का सुन्दर परिचय मिल जाता है और उनके काव्य-विकास को देखकर मन आश्वस्त होता है। उनकी प्रतिभा गीतात्मक होते हुए भी क्लासिकल रचनाओं से अनेक सूत्र ग्रहण करती चलती है और उन्होंने भीतर-बाहर को दो अनिवार्यतः विभिन्न और विरोधी वस्तुएँ न मानकर स्वप्न-सत्य का काव्योचित गठबन्धन किया है। समर्थ भाषा और प्रतीकों एवं प्रयोगों की नई भूमि की जो झाँकी इस रचना में दिखलाई देती है वह आगे और भी निखार पाए तो समसामयिक काव्य की पुष्टि ही होगी। हिन्दी-कविता का भविष्य न वाद-ग्रस्त काव्य के हाथ में सुरक्षित है, न पश्चिम से उधार लिये अनगढ़ प्रयोगों में। नवीन काव्य-भूमि के उद्घाटन के लिए कल्पना और कला के क्षेत्र में नई साधना की अपेक्षा है। इस संकलन में इस साधना के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं।[1]

---

१. 'दिवालोक'; लेखक—शम्भूनाथ सिंह; प्रकाशक—साधना-मन्दिर, काशी की ओर से राजकमल, प्रकाशन दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयागनारायण त्रिपाठी

रीति, गीति और नई कविता

'नाव के पाँव' में जगदीश गुप्त की ५७ कविताएँ संग्रहीत हैं। इन्हें दो खण्डों में विभाजित किया गया है—'नाँव के पाँव' और 'टूटती लहरें'। संग्रह की भूमिका में जगदीश जी ने इस विभाजन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, "प्रथम खण्ड में मेरी सन् १९५१ के बाद की प्रायः सभी कविताएँ संग्रहीत हैं और द्वितीय खण्ड में इसके पूर्व की कुछ कविताएँ। नई और पुरानी रचनाओं को एक साथ मिलाकर रखना मुझे उचित नहीं लगा और पिछली कृतियों में सर्वथा छोड़ भी नहीं सका। कुछ पूर्वाभास देने की दृष्टि से और कुछ शायद मोह के कारण।" जगदीश जी के उक्त कथन से इस संग्रह की कविताओं पर विचार करना काफ़ी सरल हो जाता है। इस विभाजन के फलस्वरूप हम न केवल एक विशिष्ट कवि-व्यक्तित्व के विकास-क्रम को हृदयंगम करते हैं प्रत्युत हिन्दी-कविता के एक महत्त्वपूर्ण संक्रमण को भी देख सकते हैं और क्योंकि इस परिदर्शन में 'टूटती लहरें' के अन्तर्गत कविताएँ पहले आती हैं, अतएव पहले में इसी खण्ड की कविताओं पर विचार करूँगा।

इस खण्ड की दो दर्जन कविताओं के अन्तर्गत अधिकांश गीत हैं और प्रायः सभी सुन्दर गीत हैं। लगता है जैसे गीत-शैली ही जगदीश जी की अपनी शैली हो। प्रवाह, परि-मार्जन, शब्द-मैत्री, भाव-संवेग—प्रत्येक दृष्टि से ये गीत अपना विशिष्ट स्थान बनायेंगे, इसमें सन्देह नहीं। पर इन गीतों पर पूर्ववर्ती और तत्कालीन गीतकारों की छाया भी स्थान-स्थान पर सुस्पष्ट है। जब कवि लिखता है:

यह चाँद ज्योति का कमल फूल
तारक छितरे किंजल्क जाल
ज्योत्स्ना पराग की धवल धूल
यह चाँद ज्योति का कमल फूल
उर का कलंक काला भँवरा
कन-कन में अमृत मरंद भरा
रस की बूँदों में सनी पाँख
उन्मद मदमाती मुँदी आँख
मूर्च्छित चुम्बन-श्लथ विसुध गात
बेबस उड़ना तक गया भूल
यह चाँद ज्योति का कमल फूल

—तो हमें बरबस प्रसाद और महादेवी का स्मरण एक साथ हो आता है। चाँद कवि का विशेष प्रिय उपमान प्रतीत होता है। सम्पूर्ण संग्रह में—नई कविताओं में भी चाँद—और चाँदनी का उजलापन छाया हुआ है। 'यह चाँद ज्योति का कमल फूल', 'सुकुमार चाँदनी रही भूल', 'देख शशि को आ रही होगी तुम्हें भी याद मेरी', 'यह चंदन-सा चाँद महँ-कता, 'यह चाँद-सी रात', 'याद पिछली चाँदनी रातें करें आओ', 'तरुणाई-सी खिली जुन्हाई'—ये हैं विभिन्न कविताओं की कुछ पंक्तियाँ; जो कवि की चन्द्रासक्ति को व्यक्त करती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। जिन गीतों से ये ली गई हैं, वे अपने-आप में, संग्रह से बाहर, बहुत समीचीन प्रतीत होते। किन्तु संग्रह में एक जगह जुट जाने पर इन्होंने जगदीश गुप्त के इस कथन को ही सत्य सिद्ध कर दिखाया है कि "परम्परागत अनुर्वर तथा कुण्ठित माध्यम में नवीन अनुभूतियों को अधिक समय तक व्यक्त नहीं किया जा सकता।" यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ कि 'नयी कविता' के सम्पादक जगदीश गुप्त ने स्वयं अपने ही मोह के माध्यम से मोहाविष्ट कवि-समुदाय की दुर्बलताओं और असफलताओं पर स्पष्ट प्रकाश डाल दिया।

परन्तु पुराने माध्यमों में भी नई अनुभूति कितनी खिलकर सम्मुख आती है, इसे 'चाँदनी और चाँद' कविता में देखिए :

रच दिया पथ ज्योति के आवर्तनों से चाँद ने
रात की वेणी किरण की उँगलियों से खोलकर
बाँध अपने को लिया अनगिन घनों से चाँद ने।
याद है वह नींबुओं की साँवली छाया घनी ?
ओस की सुकुमार बूँदों से भरी पलकें उठा,
आसमानी चाँद से कहती कपूरी चाँदनी।

इस प्रकार 'दो मुक्तक' की यह पंक्तियाँ :

नीले अम्बर से ढकी
धरती एक समाधि है।

बहुत ही सशक्त और गहरी काव्यात्मक संवेदना से ओत-प्रोत हैं; जिनके सम्मुख 'सच हम नहीं, सच तुम नहीं'-जैसी पंक्तियाँ बहुत हल्की लगती हैं—फीकी और काव्य-गुण-विहीन।

परन्तु चाँद-सितारों और कल्पना-चित्रों की दुनिया का मोह त्यागकर आज के कवि को शीघ्र ही धरती पर उतर आना पड़ता है—आज की वस्तु-स्थिति की पुकार पर और व्यक्तित्व की चौहद्दियों के तकाजे पर। 'नाँव के पाँव' शीर्षक खण्ड के अन्तर्गत समाविष्ट कविताओं में इसी अवतरण की सशक्त और ईमानदार अभिव्यक्तियाँ हैं। इनमें सबसे सुन्दर मुझे 'बिखरा हुआ अहम्' लगी। यह जगदीश जी की सर्वोत्कृष्ट कविताओं में एक है, क्योंकि इसमें जहाँ उनका अपना व्यक्तित्व बोल रहा है, वहीं उनका कलाकार अपने अनुभूत को कलाकार की निर्वैयक्तिकता के साथ मुखर कर सका है :

मैं बिखर गया हूँ
अपने ही चारों ओर।
मेरा एक अंश—सामने के नीम की
नंगी टहनियों में लगी उदास पीली
पत्तियों के बीच उलझ गया है—
और उन्हींके साथ
पतझर के रूखे किन्तु खुमारी भरे
झोंकों की चोट से—एक-एक कर,
नाचता-गिरता-लहरता-थिरता
जटाओं-जैसी भूरी सूखी धूल भरी घास पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उतर रहा है—उतर रहा है।
मेरा दूसरा अंश-वर्षा के बाद के बचे उन
खोये-भटके हलके-दुधियारे बादलों के साथ
आकाश में डोल रहा है,
जिनमें न जल है न जलन, न ओले, न गलन,
कभी-कभी सियाह चीलें मँडराती हुई
इधर-से-उधर निकल जाती हैं
किन्तु वे ठहरते नहीं—रुकते नहीं।
मेरा एक तरल अंश—गंगा की लहरों पर दिन-रात तिरता है।
डाँडों के साथ-साथ उठता है, गिरता है।
उनकी कोरों से टपकती बूंदों-सा,
वृत्त बनाता हुआ—फैल जाता है—फैल जाता है।
इन सबसे अलग एक गहरा अंश—मेरा ही
चाँद के सीने के उन दाग़ों में जा छिपा है
जिन्हें चाँदनी रूप-जल से धो-धोकर हार गई।
पर जो अमिट थे—अमिट हैं,
मेरे इन सब बिखरे-बिखरे अंशों को
कौन सँजोये
मुझे कौन पूरा करे,
पीली पत्तियों को फैलते जल-वृत्तों में कौन बाँधे
बह जायँगी वे।
काले दाग़ों पर बहके सफ़ेद बादलों को कौन साधे,
ढक जायेगा चाँद, खो जायेंगी चीलें।

यह तथा 'पुरवा के झोंके', 'अँधेरा और पथरीला दर्द', 'नखत की परछाईं', 'गंगा-तट का एक खेत' ऐसी कविताएँ हैं जो जगदीश गुप्त की ओर से हमें आश्वस्त बनाती हैं। इनमें वह शक्ति है, वह बिम्ब ग्रहण करने की क्षमता है, वह संवेदनात्मक ताजगी है, आज के जीवन-यथार्थ के प्रति वह सजग चेतना है, जो नई कविता का प्राण है। इसके विपरीत 'आस्था' और 'अव्यक्त चुम्बन'-जैसी कविताओं में न तो कोई स्पष्ट जीवन-दृष्टि है, न संवेदना। एक उलझी अनुभूति का धुँधला-सा आभास-मात्र उनमें मिलता है। यह नई हिन्दी-कविता के लिए अभीष्ट नहीं है, छायावादी या रहस्यवादी कविता के लिए भले ही इसका कुछ महत्त्व रहा हो। इसी प्रकार 'अभिव्यक्ति का संकट', 'कहा सुना', 'क्या कहोगे'-जैसी कविताओं में कवि कलाकार की निर्वैयक्तिकता तक नहीं उठा सका है, फलतः अभिव्यक्ति हल्की हुई है।

कला की दृष्टि से मुझे ऐसा लगता है कि जगदीश गुप्त अपने-आपको परम्परागत काव्य-शैली से मुक्त नहीं कर पाए हैं। 'रव की भैरवता', 'न जल हो न जलन', 'निज भाल पर रूमाल', 'किसी कवि की कसी रस में बसी'—ऐसे मोहक शब्द-समूहों के जाल में वे प्रायः उलझ जाते हैं। यह बात नहीं कि आज का कवि रीतिकालीन शब्द-सौन्दर्य का सर्वथा तिरस्कार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके काव्य रचना करता है, पर उनको वह सहज-स्वाभाविक रूप में ही स्वीकार करना चाहता है, कृत्रिम रूप में नहीं। उन्हें क्या, ऐसे नये वाक्यांशों को भी जैसे 'कैनाइन टीथ' या 'स्लेटी तहें' हमें सर्वथा अकृत्रिम रूप में ही स्वीकार करना होगा। उन्हें बरबस खींच लाने से कविता का हित न हो पायगा। जगदीश जी ने एक-दो जगह व्याकरण की भूलें भी की हैं जैसे 'अधखुले द्वार' की यह पंक्ति :

"मैं ही अपने से कहा किया अपनी गाथा।"

या 'लो फिर सुनो'' की यह पंक्ति—

"कि जिनको हर क़दम पर हाकने वाला ज़रूरत हो" पर मैं मान लेता हूँ को इस प्रकार की भूलें, भूलें ही हैं, जान बूझकर तोड़ी गई व्याकरण की कड़ियाँ नहीं।

'नाँव के पाँव' नई कविता के एक यशस्वी कवि का संग्रह है। अतः इसकी ओर सभी प्रबुद्ध और संवेदनशील पाठकों का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक है। परन्तु मुझे आश्चर्य न होगा यदि 'नाँव के पाँव' के पाटक मेरी ही तरह, कुल मिलाकर, इस संग्रह से निराश हों—कम-से-कम पहले खण्ड की अधिकांश रचनाओं की ओर से। मैं समझता हूँ कि यदि जगदीश जी रचनाओं को काल-क्रम से न सँजोकर मिले-जुले रूप में रखते तो सभी के लिए अधिक अच्छा होता।

परम्परानुसार दो शब्द पुस्तक की छपाई-सफ़ाई पर भी कहना उचित मालूम होता है। इस दृष्टि से 'नाँव के पाँव' एक आदर्श प्रकाशन है। जगदीश जी स्वयं एक अच्छे चित्रकार हैं और उन्होंने सभी कविताओं का निचोड़ उनके नीचे दिये गए लघु-चित्रों में दे दिया है। सच पूछिए तो कई चित्रों को देखने के बाद कविताएँ उनके सम्मुख फीकी लगने लगती हैं। चित्रकार जगदीश को मेरी भूरि-भूरि बधाइयाँ।

यह जगदीश जी का पहला कविता-संग्रह है। जगदीश जी में अनुभूति है। वे अनुभूत को सचाई के साथ व्यक्त करने के लिए आकुल-व्याकुल रहते हैं। वे अपने और अपनों के दुःख-दर्दों में गहराई तक उतर सकते हैं। वे इन दुःख-दर्दों को सशक्त शब्दों और बिम्बों के माध्यम से हम तक पहुँचाने की ईमानदार चेष्टा करते हैं। ये सभी दुर्लभ गुण हैं, जो जगदीश से भविष्य में वे कृतियाँ लिखाकर रहेंगे जिनके स्वागत की तैयारी में मैं 'नाव के पाँव' का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।[1]

डा० कामिल बुल्के

मानस की 'रूसी' भूमिका

प्रस्तुत रचना के सम्बन्ध में यह सुनकर बड़ी उत्सुकता हुई थी कि यह तुलसी-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसे पढ़कर घोर निराशा हुई। प्रोफेसर बरान्निकोव

१. नाव के पाँव; लेखक—जगदीश गुप्त; प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सहृदयता तथा तुलसी पर उनकी श्रद्धा के स्पष्ट प्रमाण अवश्य मिलते हैं लेकिन इसमें कहीं भी ऐसी सामग्री नहीं है, जो तुलसी के अध्ययन के लिए अनिवार्य अथवा महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हो। अनुवादक का कहना है ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य लेखकों की अपेक्षा प्रो० वरान्निकोव का ऐतिहासिक दृष्टिकोण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[1] किन्तु आलोच्य पुस्तक के विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'वाल्मीकि रामायण' के बाद का राम-कथा-साहित्य लेखक के सामने नहीं आया, यहाँ तक कि 'अध्यात्म-रामायण' का भी उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त तुलसी की अन्य रचनाओं का भी निरीक्षण नहीं हुआ है। अतः तुलसी का प्रस्तुत अध्ययन अनिवार्य रूप से अधूरा तथा अपूर्ण ही होगा।

प्रथम अध्याय। 'तुलसी का युग' अत्यन्त संक्षिप्त है (पृ० १—८)। इसमें विशेष रूप से भारतीय संस्कृति पर मुसलमान विजेताओं का प्रभाव प्रस्तुत किया गया है। यह प्रभाव तुलसी की फारसी शब्दावली तथा विशेषकर नये धार्मिक पंथों के उद्भव में परिलक्षित है, "हिन्दू-समाज ने अपने को दो संकटों के बीच पाया। एक ओर तो असह्य अत्याचार, लूट-पाट और शारीरिक यन्त्रणा की आपदा थी.......और दूसरी ओर मुसलिम प्रभाव से महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रसूत धार्मिक विरोधी शाखाओं (Hereues) आदि से उत्पन्न हिन्दू-समाज की आन्तरिक छिन्न भिन्नता का संकट" (पृ० ८)। गोस्वामी तुलसीदास ने इन संकटों को देख लिया, उन्होंने "अपनी आवाज उठाई और घोषणा की कि छुटकारा मिलेगा; तथा यह भी कहा कि भयंकर बर्बर शासकों से देश तथा उसकी संस्कृति की (युद्ध के समय) रक्षा देशवासियों की एकता में ढूँढ़नी पड़ेगी...." (पृ० १०)। 'तुलसीकृत रामायण—ऐतिहासिक स्तम्भ के रूप में' नामक नवें अध्याय में (पृ० १३६-४०) लेखक फिर मुसलमान शासकों के प्रति तुलसी के भावों का उल्लेख करते हैं। अब तक अनुसन्धानकर्ता यह मानते चले आ रहे हैं कि "तुलसी वाल्मीकि के संस्कृत-काव्यों का अनुसरण करते हुए पौराणिक नायक तथा धूमिल अतीत की कल्पनात्मक घटनाओं का वर्णन करते हैं। हमारे समय तक, एक भी अनुसन्धानकर्ता ने, आवश्यक रूप में तुलसीदास के काव्य के अपने युग से सम्बन्ध के प्रश्न पर विचार नहीं किया है। इस तथ्य की निरीक्षण बहुत कठिन नहीं है कि कल्पनात्मक नायकों के वेग और क्रिया-कलाप में तुलसीदास तत्कालीन भारत का चित्रण अत्यन्त स्पष्ट कर रहे हैं।......विशेष स्पष्टता से तुलसीदास मुसलमान शासकों की ओर से हिन्दुओं पर किये गए अत्याचार और हिन्दू-समाज की विच्छिन्नता का वर्णन करते हैं।......दाननों के शासक राजा रावण में इस देश को सताते और नष्ट करते हुए, भारत के मुसलमान शासकों को पहचानना कठिन नहीं है।"[2] प्रमाणस्वरूप बालकाण्ड से रावण-चरित की कुछ पंक्तियाँ, अयोध्याकाण्ड से भरत की एक उक्ति ("बेचहिं बेद धरम दुहि लेहीं") तथा उत्तरकाण्ड से कलियुग का विस्तृत वर्णन उद्धृत किया गया है। कलियुग के वर्णन पर तुलसी के समय की परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट है; उसे प्रायः सब समालोचक मानते ही हैं। लेकिन रावण में मुसलमान शासकों को पहचानना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

'तुलसीदास और उनकी कारयित्री प्रतिभा' शीर्षक द्वितीय अध्याय में (पृ० ६-१६) लेखक ने तुलसी की जीवनी-विषयक सामग्री के अभाव की ओर निर्देश किया है तथा उनकी

१. देखिए भूमिका, पृ० ६६।
२. पृ० १३६-१३७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बारह रचनाओं का उल्लेख किया है। जीवनी के सम्बन्ध में प्रो० वरान्नीकोव तुलसी की रचनाओं का अध्ययन सबसे आवश्यक समझते हैं वे मानस का यह उद्धरण देकर—

> सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँति। अजु सुराजु कि गांडर तांती॥
> कबिहि अरथ आखर बलु साँचा। अनहरि ताल मतिहिं नर नाचा॥

कहते हैं कि "अपने विषय में इससे अधिक दृढ़ (Concrete) उद्गार हमें तुलसीदास में नहीं मिलते (पृ० १४)। इस उक्ति से स्पष्ट है कि लेखक ने 'विनयपत्रिका' अथवा 'कवितावली' का अध्ययन नहीं किया है।

तृतीय अध्याय में 'तुलसीदास की रामायण की कथावस्तु' का संक्षिप्त वर्णन किया गया है (पृ० १७-४२)। इसमें भी कई अशुद्धियाँ हैं। उदाहरणार्थ—चित्रकूट पर राम का निवास जानकर "आकाशवासी देवता जंगली जातियों, कोल और किरात का रूप धारण करके जंगल के किनारों पर बस गए" (पृ० २५)।

'तुलसीदास की रामायण की प्रबन्धात्मकता' नामक चौथा अध्याय सबसे विस्तृत है (पृ० ४३-६२)। इसमें प्रोफेसर वरान्नीकोव ने पाँच कारणों का विश्लेषण किया है, जिनका प्रभाव मानस की प्रबन्ध-योजना पर पड़ा है, अर्थात् (१) पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा; (२) कवि के साम्प्रदायिक और दार्शनिक सिद्धान्त; (३) भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा; (४) विभिन्न छन्दों का तथा (५) तीन साहित्यिक भाषाओं का प्रयोग। पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा का विश्लेषण 'मानस' तथा 'वाल्मीकि रामायण'-मात्र की तुलना पर निर्भर है। कहीं भी 'अध्यात्म-रामायण' अथवा मानस के अन्य आधार-ग्रन्थों का अध्ययन तो दूर, उल्लेख भी नहीं मिलता। उदाहरण-स्वरूप अहल्या की कथा दी गई है, जिसकी ओर तुलसीदास संकेत-मात्र करते हैं, लेकिन जिसे वाल्मीकि ने विस्तार से वर्णित किया है। लेखक की धारणा है कि वाल्मीकि के अनुसार अहल्या गौतम के शाप के कारण १०,००० वर्ष तक पत्थर बन गई थी, सच बात यह है कि 'वाल्मीकि रामायण' में अहल्या के पत्थर बन जाने का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। कवि के साम्प्रदायिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में लेखक का इतनाही कहना है कि वाल्मीकि के नायक सूर्य-वंश के राजकुमार राम अब परब्रह्म के अवतार माने जाते हैं। बालकाण्ड का प्रायः आधा भाग रामचरित (जन्म, बालक्रीड़ा, विवाह) से सम्बन्ध रखता है, फिर कहा जाता है—"पहले काण्ड का केवल थोड़ा ही अंश राम से सम्बद्ध है और तीन चौथाई में राम के दार्शनिक स्वरूप, नैतिक समस्याएँ और राम के अवतार के तत्त्व की विशिष्टता का निदर्शन हैं" (दे० पृ० ५७)। भारतीय काव्यशास्त्र के (विशेषकर महाकाव्य के लक्षण-सम्बन्धी) नियमों के पालन ने भी मानस की प्रबन्धात्मकता को प्रभावित किया है इसके सम्बन्ध में प्रो० बरान्नीकोव मानस के वर्णनों का, जिनमें राम का नखशिख प्रधान है, तथा उनके सुभाषितों का उल्लेख करते हैं। इसके अनन्तर लेखक तुलसी द्वारा प्रयुक्त विभिन्न छन्दों का विश्लेषण कहते हैं! वे क्रमशः चौपाई, दोहे, सोरठे और 'छन्द' का निरूपण करते हैं; 'छन्द' से इनका अभिप्राय हरि-गीतिका से है (चवपैया और त्रिभंगी का उल्लेख नहीं मिलता)। दो दोहों के बीच में चौपाइयों की बदलती हुई संख्या के विषय में इनका विचार यह है—"चूँकि तुलसीदास की कविता के वर्तमान रूप में, महत्त्वपूर्ण परिणाम में वृद्धि की गई है, यह सम्भव है कि कतिपय स्थिति में यह बढ़ी हुई चौपाइयाँ बाद में प्रक्षिप्त प्रमाणित हो सकें" (पृ० ६८) दोहे (सोरठे), और चौपाई के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में इनकी धारणा यह है कि दोहे (सोरठे) के द्वारा "सामान्यतया कहानी आरम्भ की जाती है या चार या अधिक चौपाइयों से निसृत निष्कर्ष व्यक्त किया जाता है। यह निष्कर्ष कहानी को और आगे प्रेरित करता है, जो चौपाइयों के रूप में चलती है" (पृ० ६६)। 'छन्द' (अर्थात् हरिगीतिका) के विषय में लेखक का विचार इस प्रकार है—"छन्द में कथा का प्रयोग कभी नहीं हुआ। यह काव्य के कथांशों के बीच भावातिरेक से पूर्ण निदर्शन के लिए पुनरावृत्ति करता हुआ प्रविष्ट होता है और पूर्ववर्ती चौपाइयों में जो-कुछ कहा गया है उसे विशेष प्रकार से साथ लेकर चलता है।...इसका प्रयोग अन्य छन्दों के साथ नियमित रूप से नहीं हुआ है" (पृ० ७०)। मानस के पाठक जानते ही होंगे कि अयोध्याकाण्ड में हरिगीतिका का प्रयोग नियमित रूप से ही हुआ है और कि बालकाण्ड-उत्तरार्द्ध के हरिगीतिका छन्दों में पुनरावृत्ति-मात्र नहीं हुई है, इनमें कथानक को भी आगे बढ़ाया गया है। लेखक यति-भंग की निम्नलिखित परिभाषा देते हैं—"पंक्ति के भाव के कुछ अंश का दूसरी पंक्ति में मौलिक रचनान्तरण करना" (पृ०७२)। उदाहरणार्थ :

तब रघुनाथ लंकेस के सीस भुजा सर चाप।
कारे भये बहुत बढ़े जिमि तीरथ कर पाप॥

इस प्रकार के स्थलों के विषय में लेखक समझते हैं कि प्रक्षेप की सम्भावना अधिक है। मानस की प्रबन्ध-योजना पर प्रभाव डालने वाला अन्तिम कारण यह है कि मानस में तीन साहित्यिक भाषाओं का प्रयोग हुआ है; अर्थात् अवधी, व्रज और संस्कृत। अन्तिम के विषय में लिखा है, "स्पष्टतया संस्कृत के प्रयोग का प्रधान उद्देश्य कविता को पूर्ववर्ती परम्परा से सम्बद्ध करना है" (पृ० ७४)। व्रज का प्रयोग, लेखक के अनुसार, हरिगीतिका छन्दों में हुआ है। अवधी तथा व्रज का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार समझाया गया है—"कवि अवधी में लिखे गए वस्तु विषय की पुनरावृत्ति और उसे विकसित करता हुआ शैली की उच्च भव्यता की अभिव्यक्ति के लिए व्रज का प्रयोग करता है" (पृ० ७६) और "व्रज भव्यतापूर्ण पुनरावृत्ति का प्रयोग करती है और उच्च शैली की विशिष्टता को प्रदर्शित करती है" (पृ० ८०)। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मानस की भाषा साहित्यिक अवधी है, वह बहुत-से स्थलों पर संस्कृत-गर्भित तथा व्रज-रंजित अवश्य है, किन्तु हरिगीतिका छन्दों में व्रज के स्वतन्त्र प्रयोग के विषय में प्रो० वरान्नीकोव का निष्कर्ष भ्रामक है। प्रस्तुत अध्याय के अन्त में मानस के प्रक्षेपों का पता लगाने के तीन उपाय बताए जाते हैं—(१) चूँकि तुलसीदास स्पष्टतया इंगित करते हैं और कई बार दोहराते हैं कि उनकी कविता राम की विख्यात कथा से भिन्न है, वह सोचा जा सकता है कि तुलसीदास की कविता की वाल्मीकि की कविता से समानता या नैकट्य का संकेत बाद की चीज है, जो कि उद्देश्य की निकटता से प्रवर्तित हुआ", (२) दो दोहों के बीच चौपाइयों की अधिक संख्या; (३) सुभाषित का प्रयोग : "बहुत-सी चौपाइयों के बाद इसके प्रयोग का तथ्य किसी त्रुटि की ओर संकेत देता है और पाठ के कलुषित होने का संकेत दे सकता है, जो कि बाद की प्रक्षिप्तता के फलस्वरूप घटित हुआ।" अन्तिम उपाय का कोई उदाहरण नहीं दिया गया है; प्रथम उपाय निराधार है तथा दूसरे उपाय के विषय में मेरा निवेदन यह है कि मानस में अर्द्धाली-समूह इतना अनिश्चित है कि इसके आधार पर प्रक्षेपों का पता लगाना वैज्ञानिक नहीं होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस अध्याय में एक ओर बहुत-सी भ्रामक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारणाओं का प्रतिपादन है और दूसरी ओर कथानक तथा प्रबन्धात्मकता का इतना विस्तृत विश्लेषण होने पर कहीं भी विभिन्न संवादों अथवा रचना-क्रम की समस्याओं की ओर संकेत नहीं किया गया है।

'तुलसी की कविता का विशिष्ट स्वरूप' शीर्षक अध्याय में (पृ० ८३-१०३) लेखक ने रूसी पाठकों को भारतीय काव्य के प्रसिद्ध उपमानों का परिचय दिया है। अगले अध्याय में 'तुलसीदास के दार्शनिक विचार' प्रस्तुत किये गए हैं (पृ० १०४-१२०)। इसमें विशेषकर उन बातों का उल्लेख होता है, जो पाश्चात्य पाठकों के लिए नवीन हों—ब्रह्म, जीव और संसार का सम्बन्ध; अवतारवाद; जन्मान्तरवाद; कर्मवाद; भक्ति-मार्ग। 'तुलसीदास के धार्मिक विचार' नामक अध्याय में (पृ० १२०-१३०) लेखक ने मानस में उल्लिखित देवताओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—(१) वैदिक देव-मण्डल के देवता—इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, सरस्वती (२) ब्राह्मणत्व के युग के देवता—ब्रह्मा, विष्णु और शिव। इस सिलसिले में तुलसीदास के समन्वयवाद का उल्लेख हुआ है, अर्थात् इनका शैवों तथा वैष्णवों की उपासना में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास। (३) परब्रह्म, जो राम के रूप में अवतार लेते हैं। 'तुलसीदास के सामाजिक एवं नैतिक कथन' (पृ० १३१-१३५) शीर्षक आठवाँ अध्याय अत्यन्त संक्षिप्त है। इसमें तुलसी के समाज-सम्बन्धी विचारों में विरोध दिखलाने की चेष्टा की गई है। एक भक्ति-मार्ग में प्रेम का ही सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है और जाति-भेद को मान्यता नहीं मिलती और दूसरी ओर बहुत-से स्थलों पर वर्णाश्रम-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। लेखक का अनुमान है—"सम्भवतः उनकी कट्टर परम्परागत उक्तियाँ, उन ब्राह्मणों द्वारा बाद को जोड़ी हुई प्रतीत होती हैं, जो निस्सन्देह तुलसीदास की प्रभुता और लोकप्रियता के सहारे अपने को ऊँचा उठाने की चेष्टा कर रहे थे" (पृ० १३३)। वास्तव में तुलसीदास के सामाजिक विचारों में कोई विरोध नहीं है। सब भक्ति के अधिकारी अवश्य हैं, लेकिन सब को अपने वर्ण का धर्माचरण करना चाहिए। वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन मानस में इतना व्यापक है कि उसे ब्राह्मणों द्वारा प्रक्षिप्त मानना कष्ट-कल्पना ही है। अन्तिम अध्याय, 'अनुवादक के स्वरूप के विषय में' (पृ० १४१-१४४), रूसी पाठकों के लिए ही है; इसमें अनुवाद-सम्बन्धी कठिनाइयों और विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

प्रो० वरान्नीकोव की रचना की उपर्युक्त त्रुटियों से विद्वान् अनुवादक अनभिज्ञ नहीं हैं। उन्होंने इनकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना अनुचित समझकर यह अप्रिय कार्य समालोचकों के लिए छोड़ दिया है। अप्रिय होते हुए भी यह कार्य अत्यन्त आवश्यक ही है, क्योंकि उत्तर भारत के महत्तम कवि के विषय में भ्रामक धारणाओं को यथासम्भव रोकना ही चाहिए। अनुवादक ने अपनी विस्तृत भूमिका में कुछ अंश तक मूल लेखक की त्रुटियों की पूर्ति की है तथा तुलसी-सम्बन्धी अपने विचार भी प्रकट किये हैं। 'प्रेम रामायण' तथा 'गौतम चंद्रिका' नामक पुस्तकों के विषय में, जिनकी हस्तलिपियाँ काशी में सुरक्षित हैं, अब कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रामाणिक सिद्ध होने पर इन दोनों रचनाओं के सहारे तुलसी के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत ही बढ़ेगी (दे० भूमिका पृ० २६-३३)। प्रस्तुत अनुवाद का परिशिष्ट 'गोस्वामी तुलसीदास और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में प्रमुख विदेशी विद्वानों के विचारों का सारांश', अत्यन्त उपयोगी है। इसमें गार्सा द तासी, ग्रियर्सन, ग्रीव्स आदि विद्वानों के तुलसी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धी विचारों का हिन्दी में अनुवाद और संकलन किया गया है। इसके लिए अनुवादक विशेष रूप से बधाई के पात्र हैं। इस परिशिष्ट में मैकफाई का अभाव खटकता है; आपने मानस पर २५४ पृष्ठ का ग्रन्थ लिखकर अंग्रेजी में तुलसीदास की लोकप्रिय रचना का सबसे विस्तृत विश्लेषण किया है। (दे० The Ramayan of Tulsidas, J. M. Macfie, Edinburgh, 1930) '

लक्ष्मीकान्त वर्मा

संत्रस्त पात्रों की घटनाहीन कथा

: १ :

परम्परागत उपन्यास-शैली को लेकर बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि आधुनिक मानव-जीवन की कथा को व्यक्त करने में वह उतना सफल माध्यम नहीं सिद्ध हो रही है जितना कि उसे होना चाहिए। काफी सीमा तक इस कथन में एक सूक्ष्म सत्य भी निहित है, क्योंकि उपन्यास के तथाकथित माध्यम और उसकी रूढ़िग्रस्त शैली आज के जीवन की अनेक मानसिक स्थितियों और विभिन्न परिस्थितियों को सम्पूर्ण समग्रता के साथ ग्रहण करने में असमर्थ ही नहीं, अनुभव-शून्य भी है। इसके कई कारण हैं—(१) सर्वप्रथम तो यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आज उपन्यास न तो केवल मनोरंजन की वस्तु रह गया है और न ही वह केवल कथा-प्रवाह का माध्यम-मात्र रहकर जीवित रह सकता है। (२) दूसरा कारण, जिसे स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए, आज के मानव-जीवन की कथा यथार्थ से पृथक् केवल कल्पना के आधार पर नहीं व्यक्त की जा सकती। (३) आज मानव-जीवन की निर्लेप तटस्थता का भी कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि आज के सापेक्ष मूल्यों की जड़ में व्यक्ति आचरण का आग्रह है और इन आग्रहों के बीच ही जीवन का नया दृष्टिकोण नित्य-प्रति विकसित होता जा रहा है। (४) यह मानना होगा कि आज की जीवन-परिधि अपेक्षाकृत पूर्व जीवन-वृत्त से बहुत बड़ी होने के साथ अधिक व्यक्तिवादी भी हो गई है। किसी भी कथा के तत्त्व में व्यक्ति-मर्यादा और समाज-सत्य के परिप्रेक्षण सर्वथा नये आयामों और संदर्भों की माँग कर रहे हैं। (५) मानव-मनोविज्ञान की जटिलता भी आज की कथा-शैली की संवेदना को प्रभावित करती है। परम्परागत शैली की सीमाएँ हैं और इन सीमाओं के भीतर आज की मानव-गाथा का विस्तार होना कठिन है।

अस्तु, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नवीन उपन्यास आधुनिकतम जीवन की जटिलताओं को

१. मूल लेखक—स्व० श्री० ए० पी० वरान्नीकोव। अनुवादक—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल। प्रकाशक—विद्या मन्दिर लखनऊ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज से २० साल की पृष्ठभूमि में रखकर परम्परागत उपन्यास-शैली के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास है। यही कारण है कि आधुनिक जीवन की समस्त समस्याएँ, मनोग्रन्थियाँ और अनुभूतियाँ केवल विकृति के रूप में ही व्यक्त होकर उभरी हैं, उनमें वह औचित्य नहीं आ सका है जो किसी भी सफल उपन्यास के लिए अपेक्षित है। इससे भी अधिक विचित्र बात इस उपन्यास में यह है कि अनेक भाव-स्थल इस सम्पूर्ण कृति में ऐसे हैं जो केवल शिल्पगत दुरूहता के कारण पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाए हैं। पात्रों के विश्लेषण में भी स्वयं लेखक का वक्तव्य प्रधान है। पात्रों का कार्य-व्यवहार और उनकी स्वाभाविकता की अपेक्षा लेखक का नोट अधिक श्रेयस्कर समझा गया है। ऐसा लगता है जैसे अश्कजी अपने पात्रों को इतना अधिक नियन्त्रित और अनुशासित रखना चाहते हैं कि उनका प्रत्येक आचरण स्वाभाविक भले ही न हो, उनके मनोनुकूल होना स्वाभाविकता से भी अधिक श्रेयस्कर है। आधुनिक उपन्यास-शैली को देखते हुए उनकी यह रचना-प्रक्रिया खरी नहीं उतरती और तब ऐसी परिस्थिति में केवल ऐसे 'हिप्नाटिक' पात्र बनकर रह जाते हैं जिनमें रीढ़ की हड्डी तक उधार ली हुई मालूम पड़ती है, जैसे उनका स्वयं का अस्तित्व कुछ है ही नहीं।

: २ :

एन्थानी ट्रालोपो ने इन्हीं परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर लिखा है:

"The novelist's characters must be with him as he lies down to sleep and as he wakes from his dreams. He must learn to hate and to love them. He must argue with them and even submit with them."

किन्तु अश्कजी ने इसके विपरीत पात्रों के साथ जीवन-चेतना का संसर्ग स्थापित करने की अपेक्षा 'हिप्नाटिज्म' की शैली का प्रयोग किया है। जहाँ एक अच्छे उपन्यास में लेखक और पात्रों का अनुभूत्यात्मक सम्पर्क इसमें नई स्फूर्ति पैदा कर देता है वहाँ अश्कजी का उपन्यास इस अनुभूत्यात्मक सम्पर्क के अभाव में मात्र चेतनाशून्य स्थिति पैदा करके पात्रों को काठ के पुतले-सा नचाता हुआ प्रतीत होता है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' का प्रत्येक पात्र अपनी स्वाभाविक मनःस्थिति में नहीं रह पाता। उसके ऊपर एक ओर 'देवा जी' का आतंक है और दूसरी ओर लेखक का अनावश्यक हस्तक्षेप। कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि ये पात्र अपनी अनुभूत स्थिति से विस्थापित तो हैं ही, साथ ही लेखक की पैनी दृष्टि से इतने अधिक बँधे हैं कि उनकी निष्कृति ही नहीं हो पाती। उपन्यास के सभी पात्र स्वयं अपनी प्रकृति से तटस्थता निभाने में निपुण हैं। न तो उनसे घुल-मिलकर घटना विकसित करने का प्रयास है, न उन पात्रों को इसकी स्वतंत्रता ही प्राप्त है।

अस्तु 'बड़ी-बड़ी आँखें' केवल संत्रस्त पात्रों की घटनाहीन कथा बनकर रह जाता है। समूह-का-समूह दबी हुई इच्छाओं (repressed wishes) का एक विक्रान्त दल है, जो देवाजी-जैसे आदर्शवादी नेता के खोखलेपन को चित्रित करने के लिए मोम के पुतले-सा कोमल और कठोर काठ की मोहरों-सा निर्जीव है। यदि देवाजी का खोखला आदर्शवाद इस आन्तरिक मानसिक अस्वस्थता के कारण यथार्थ स्वीकार करने में असफल रहा है तो दूसरी ओर वह यथार्थ भी उतने सशक्त स्वरों में नहीं उभर सका है जितना कि उपन्यास के विस्तार को देखते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए आवश्यक है। ऐसा नहीं है कि उपन्यास में तीव्रतम अनुभूतियों की अवहेलना की गई हो, किन्तु यह सत्य है कि केवल लेखक के अनावश्यक हस्तक्षेप के कारण वे नहीं उभर सकीं। शैलीगत रूढ़ियाँ और उनकी दुरूहता के कारण माध्यम यथार्थ को नहीं वहन कर पाया है।[१]

इस उपन्यास की मनःस्थिति यह है कि सारी कथा परोक्ष की घटना बनकर सामने प्रस्तुत होती है। यह परोक्ष ही आतंकित वातावरण को पैदा करता है। प्रायः सभी पात्र एक-दूसरे को शंकित दृष्टि से देखते हैं। देवाजी अपनी धर्मपत्नी से आतंकित हैं; मथावट साहब देवाजी की सौम्यता से आतंकित हैं; ज्ञानीजी स्वयं अपनी आदर्शवादिता के मिथ्या बोझ से संत्रस्त हैं; तीरथराम अपनी मूर्खता से पीड़ित है; संगीत अपने वैचित्रिक अहम् से आक्रान्त है; वाणी अपने मानसिक दबावों के कारण रुग्ण है; नंबी अपने संस्कारों से प्रताड़ित है; नन्दलाल एक पछतावे के साथ समझौता करता घूम रहा है। सारा आश्रम विकल मनःस्थिति वाले व्यक्तियों का ऐसा विचित्र संग्रहालय है कि स्वाभाविकता और औचित्य दोनों को ठेस पहुँचती है।

यद्यपि यह सही है कि आज के सामाजिक गठन में व्यक्ति का स्वातंत्र्य एक बहुत बड़ी समस्या बनकर उपस्थित हो गया है, फिर भी इस उपन्यास का एक भी पात्र न तो आदर्शवादी जीवन के प्रति श्रद्धा रखता हुआ दिखलाई पड़ता है और न इस सामाजिक बाह्यारोपण के प्रति विद्रोह ही कर पाता है। कोई भी निजी प्रतिज्ञा (Self-commitment) जीवन के सम्पूर्ण अस्तित्व से बड़ी नहीं हो सकती, किन्तु इस उपन्यास में जिन संभावनाओं का आभास मिलता है, वे विचित्र हैं।

(१) क्या कोई भी सामाजिक व्यवस्था समूची मानव-आस्था को इस प्रकार विकीर्ण कर सकती है कि उस वातावरण में कोई भी ऐसा पात्र न विकसित हो जो समस्त दुराग्रहों के प्रति विद्रोह कर सके या उनके विरोध में नये उभरते हुए जीवन-सत्यों को सबलता या सफलता के साथ प्रस्तुत कर सके? (२) यदि यह मान भी लिया जाय कि अश्कजी का विश्वास 'कम्यून' या आश्रम के जीवन के प्रति नहीं है तो क्या संगीत-जैसे नायक का चुपचाप समस्त कम्यून-आदर्श को त्यागकर चोरी से भाग जाना उचित है? यदि है तो इससे 'कम्यून' की रूढ़ियों में कमी कहाँ आती है। (३) कम्यून का रेजीमेण्टेड जीवन क्या इतना कठोर सत्य है कि उसके विरोध में कुछ भी कहना असंभव है? संगीत का जो नायक है, जो शिक्षित और जागरूक सदस्य है उसका इन थोथे विचारों के विरुद्ध आत्म-समर्पण यह सिद्ध करता है कि कोई भी व्यवस्था—चाहे वह आश्रम के रूप में हो या कम्यून के—व्यक्ति-स्वातंत्र्य की हत्या करती है। (४) एक सत्य, जो समस्त उपन्यास के कथा-तत्त्व से स्वतः विकसित होता है वह यह है कि इस प्रकार के 'कम्यून' अथवा आश्रम में फासिस्टवादी अधिनायकत्व का प्रधान स्थान होता है, जो मनुष्य से उसकी समस्त विवेक-शक्ति और चिन्तन-शक्ति को छीन लेता है, साथ ही उसे आत्मा के विरुद्ध समझौता करने के लिए बाध्य भी करता है। (५) फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि इस प्रकार का जीवन उन घृणित परिणामों में उपजता है तो फिर संगीत और वाणी

---

१. "The desire for worthiness in the artists' mind depends upon the conception of ideal forms which if not attainable are at least conceivable. The belief in a conceivable perfection of expression is at the very root of all artistic effort. No true artist is ever long satisfied with his own attainments." —H. Caudwell.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे पात्रों के सामने तीरथराम-जैसे निम्न वर्ग के व्यक्ति का पराजित होना आवश्यक हो जाता है और यदि वह इस पराजय को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर उस व्यवस्था को खण्डित करने की शक्ति किसमें आयेगी ?

बात जो भी हो, समस्त उपन्यास को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि लेखक व्यक्ति-स्वातंत्र्य के पक्ष में है। आश्रम और देवाजी सामूहिक जीवन के खोखले आदर्शवाद के प्रतीक हैं। व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता इस प्रकार के रेजीमेण्टेड जीवन से पृथक् होकर ही रक्षित रख सकता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि लेखक की समस्त सहानुभूति बाह्यारोपित सामाजिक सत्य पर नहीं है, जिसमें कुण्ठाओं और कुत्सित मनोग्रन्थियों का बाहुल्य है। अश्कजी के उपन्यास के ये निष्कर्ष व्यापक मानव-जीवन की व्यक्ति-निष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हैं। आज के मनुष्य को किसी भी आदर्शवाद के माध्यम से (चाहे वह गांधीवाद हो या कम्यूनिज्म, चाहे वह देवाजी का आश्रम हो या कोई राजनीतिक पार्टी का कम्यून) रेजीमेण्टेड जीवन-प्रणाली की घुटन में कैद करके नहीं रखा जा सकता। हो सकता है कि अश्कजी का नायक संगीत चुपके से उस व्यवस्था से फरार होकर मुक्त हो जाने में ही सफलता मान सके, किन्तु अन्य व्यापक जीवन का प्रतिनिधि व्यक्ति उस रेजिमेण्टेड जीवन के प्रति चोट करने में नहीं चूकेगा और उसका चोट करना शायद अधिक यथार्थ भी होगा।

: ३ :

साधारण मनोवैज्ञानिक आधार पर 'बड़ी बड़ी आँखें' दबी, कुण्ठाग्रस्त मनःस्थितियों वाले पात्रों का एक समूह है जो पुंस्त्वहीन उमस में घुट-घुटकर विकसित होता है और वह उमस और घुटन ऐसी है कि उसके शिकंजे में प्रायः सभी पात्र अर्द्धविक्षिप्त मनःस्थिति में ऐंठ-ऐंठकर रह गए हैं। चाहे वह उपन्यास का नायक संगीत हो, चाहे वह वाणी हो, चाहे रामतीर्थ हो या देवा जी की धर्मपत्नी हो, सभी विक्षिप्त हैं। देवाजी की पत्नी का व्यक्तित्व तो "कामरू कमच्छा" के देश की उस जादूगरनी-सा है जो प्रत्येक पात्र को भेड़ या बकरी बनाकर रखने में ही रस लेती है और शेष पात्रों की कृत्रिम हलचल ठीक उसी प्रकार लगती है जैसे सब-के-सब एक ठहराव में उपजे हुए कीटाणु हैं, जो केवल अपना जीवन-परिचय मात्र पानी की सतह पर कृत्रिम संकेतों द्वारा देते हैं। जो इनसे पृथक् हैं वे केवल विक्रान्त दासों की भाँति केवल परोक्ष में दबी-दबी असन्तुष्टता प्रकट करते हैं। वे न तो जीवन की मूल प्रकृति को अपना पाते हैं न उसकी विकृतियों में रस ही ले पाते हैं। सारा उपन्यास जिस विरोधाभास में पनपता है उसमें वे पेट के बल सरकने वाले जीव लगते हैं—लगते हैं इसलिए कि यदि वे सफलता के साथ ऐसे चित्रित किये गए होते तो भी कला की दृष्टि से उसमें कोई आपत्ति नहीं होती, किन्तु खेद तो इस बात का है कि वे वैसे भी नहीं हो पाए हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अभाव माध्यम को शिथिल और प्रेषणीयता की दृष्टि से कमजोर बना देता है।

संगीत और वाणी का मौन प्रेम भी इसी प्रकार का है जिसमें स्वास्थ्य की अपेक्षा रुग्ण मानसिक काई अधिक है। विरोधाभास यह है कि संगीत प्रौढ़ नायक है, जिसकी पत्नी मर चुकी

१. You try to replace quality by quantity and forget that all quantities raised to an infinite power are the same. By pounding on the keys with a hammer you merely break the string."

—Middleton Murry.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और वाणी का अक्षत कुँआरापन—जिसे संगीत नन्हीं बालिका के रूप में सर्वप्रथम स्वीकार करता है—उपन्यास के स्तर को स्वाभाविकता नहीं दे पाते। संगीत भी उपन्यास के अन्त तक पूरा तीर्थराम का प्रतिरूप बन जाता है। यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य होता यदि संगीत के व्यक्तित्व को लेखक के पूर्वाग्रहों से मुक्ति मिल पाती। लेकिन ऐसा न होकर वह एक असन्तुलित यौन-जिज्ञासा से प्रताड़ित प्रेतात्मा बनकर ही रह गया है। ठीक इसी प्रकार का व्यवहार वाणी का चरित्र है। वाणी का समूचा व्यक्तित्व उस रेजिमेण्टेड कम्यून टाइप जीवन के शिकंजे में इतना कसा हुआ है कि उसकी निष्प्राण बड़ी-बड़ी आँखें ही उपन्यास में आ पाई हैं उसका व्यक्तित्व नहीं। कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि वाणी संगीत के जीवन में स्वतः अपनी इच्छा-शक्ति से प्रवेश करती है किन्तु उसका समूचा व्यक्तित्व अनावश्यक सीमाओं में केवल समझौता बनकर रह गया है। उपन्यास का हल्का रोमान्स आश्रम के किचेन से आगे नहीं बढ़ पाता। यदि यह उस रेजिमेण्टेड जीवन का परिणाम होता तो भी उचित होता। किन्तु ऐसा न होकर वह समूचे उपन्यास के ढाँचे के दोष के कारण हुआ है इसलिए यह मनोवैज्ञानिक कृत्रिमता भी विचित्र लगती है।

देवा जी-जैसे पात्र आज हमारे समाज में बहुत मिल जायँगे किन्तु उपन्यास में देवा जी का व्यक्तित्व भी उन समस्त सम्भावनाओं के साथ नहीं प्रस्तुत हो सका है। जैसा कि स्पष्ट है उसका एक-मात्र कारण यह है कि क्या देवा जी और क्या उपन्यास का कोई और पात्र सब किसी जादूगर की झोली में बन्द खिलौने के समान हैं जिनका स्वयं का कुछ अस्तित्व ही नहीं है, वे केवल प्रदर्शित किये जाते हैं स्वयं प्रदर्शन नहीं करते। सबसे बड़ी बात है कि लगभग दो-ढाई सौ[1] पृष्ठों के इस उपन्यास में केवल एक छोटी-सी घटना गुलाम नबी को लेकर घटती है बाकी सारी कथा वर्णनात्मक मानसिक उपज है। वक्तव्य में भी कोई रस नहीं रह जाता, क्योंकि परिस्थितियों का संघर्ष और उत्कर्ष, उसकी उलझन और उलझनों में व्यक्तित्व को अपना पार्ट निभाने का कोई अवसर ही नहीं आता। कुछ पात्र तो ऐसे हैं कि बिना उनके कथा की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता जैसे मधवार साहब, नन्दलाल या कुलवीरसिंह इत्यादि!

कुछ पात्र तो अर्द्धविकसित-से केवल मूक छाया की भाँति उपन्यास में आते हैं। जिनका न तो कोई महत्त्व है और न कोई आकार-प्रकार। उपन्यास या नाटक में ऐसे पात्रों का क्षणिक प्रवेश निषिद्ध नहीं है किन्तु जब कभी ऐसे पात्र लाए जाते हैं तो जिस क्षण की पूर्ति के लिए वे प्रस्तुत होते हैं उस क्षण के वे जीवन्त तत्त्व होते हैं और अपने उस क्षणिक जीवन-काल में अपना एक अद्भुत प्रभाव भी छोड़ जाते हैं। 'बड़ी बड़ी आँखों' के पात्र इस प्रौढ़ता के साथ नहीं आते। परिणामस्वरूप वे महत्त्वहीन पैराशाईट के रूप में केवल फेन की तरह उपजते हैं और मिट जाते हैं।

वाणी और संगीत को जिस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भाव-स्तर पर 'अश्क' जी विकसित करना चाहते थे उसमें भी सफलता नहीं मिली है। दूसरा एक-मात्र कारण यह है कि सहानुभूति और प्रेम के भाव-स्तरों में जो मूल अन्तर है उसको जाने बिना ही इन पात्रों का चित्रण किया गया है। वास्तव में सहानुभूतिपरक रागात्मकता (Sympathetic feeling) और प्रेम-भावना

१. "What is making his works seem old-fashioned is precisely his alure of truth to detail." —Delocroix.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Love feeling) में बड़ा बारीक अन्तर है। वाणी का तथाकथित प्रेम केवल सहानुभूतिपरक रागात्मकता की सीमा तक विकसित हो पाता है। इन दोनों भाव-स्तरों को लेकर भी अच्छी ट्रेजेडी लिखी जा सकती है, किन्तु इन दोनों भाव-स्तरों को एक-दूसरे में मिला देने से और विवेक स्थापित न कर पाने से उपन्यास सर्वथा कमजोर हो गया है।

यहाँ पर एक बात कह देना और भी आवश्यक है कि निराशा और दुःखान्त में वही अन्तर है जो Frustration और Tragedy में है। तीरथराम निराश और पराजित पात्र है। संगीत केवल अपनी दुःखद मनःस्थिति के नाते विषादमय है किन्तु उपन्यास के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते इन दोनों पात्रों का आचार एक प्रकार-सा हो जाता है। तीरथराम की तरह संगीत भी वाणी को देखकर घबरा जाता है। वाणी की सारी सक्रियता और सम्भावना को संगीत केवल आदर्श की आड़ में उपेक्षित और तिरस्कृत करके वास्तविक वस्तुस्थिति में वही कर बैठता है जो तीरथराम करता है। एक दूसरी दृष्टि से संगीत पुंस्त्वहीन नायक की भाँति भाग जाता है। वह परिस्थितियों का सामना करने के बजाय उनसे कतराकर निकल जाना ही श्रेयस्कर समझता है। ऐसा इसलिए हो सका है कि संगीत और तीरथराम के संस्कारों का आत्मदर्शन स्वयं लेखक को नहीं हो पाया है। यही कारण है कि उपन्यास भावस्तर पर रूढ़िग्रस्त परम्परा के विरुद्ध विद्रोहात्मक भावना प्रस्तुत करने के बजाय निराशा (Frustration) ही स्थापित कर पाता है।

टैबूज़ और पूर्वाग्रहों का मखौल उड़ाने के बजाय, या उनको तोड़कर नये स्वच्छ और सुन्दर विधान को विकसित करने के बजाय, उपन्यास में उनका समर्थन और उनकी अपूर्व शक्ति के सामने पराजय स्वीकार करने की भावना अधिक सबल रूप से व्यक्त हुई है। सारा उपन्यास इन्हीं टैबूज़ के वातावरण में लिपटा हुआ है। वाणी किचेन और डाइनिंग हाल के माध्यम से अपना प्रणय विकसित करना चाहती है, पिछले प्रेमियों के समान किचेन से लगे हुए टब में जूठे बरतनों को रखते समय केवल मौन आँखों के संकेत से उभरा हुआ अनुराग इतनी बड़ी कथा का सूत्रपात करता है। इन्हीं टैबूज़ का काम्प्लेक्स तीरथराम को भी है जो अर्द्ध-विक्षिप्त उद्दण्डता का प्रतीक बना फिरता है। ज्ञानी जी और स्वयं देवाजी का टैबूज़ से संत्रस्त व्यवहार करना तो उपयुक्त है ही। ऐसी स्थिति में हुआ यह है कि उपन्यास का कथानक भी घुटकर रह गया है। इसके बदले होना यह चाहिए था कि इन टैबूज़ और पूर्वाग्रहों की असमर्थता साधारण जीवन के स्वस्थ व्यवहार के समक्ष उभरकर व्यक्त होती। इस दृष्टिकोण से एक बार फिर यह कहना पड़ता है कि माध्यम के शिल्प का चुनाव (Choice of medium) यदि व्यंग्य या सीधा-सादा वर्णन होता तो शायद अधिक सफल होता।

यह तो हुई उपन्यास की मनोवैज्ञानिक असमर्थता। परिप्रेक्षण एवं दृष्टिकोण की दृष्टि से भी इस उपन्यास को देखना आवश्यक है, क्योंकि शिल्पगत एवं कथा के मनोवैज्ञानिक विकास के अभाव में यदि मात्र दृष्टिकोण या परिप्रेक्षण (Perspective) की नवीनता उसकी बृहत् व्यापकता भी किसी उदात्त मानव-मूल्य से सम्बन्धित हो तो भी रचना का महत्त्व बढ़ जाता है। इस दिशा में भी हमें उपन्यास में विशेष नवीनता नहीं दिखलाई पड़ती। एक ओर तो इसका कैन्वेस इतना छोटा है कि उसमें सीमित परिस्थितियों के वातावरण में और कथानक के चयन में इस बात की कम सम्भावना हो सकी है। इसके साथ यह सम्भावना नष्ट भी हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु परोक्ष रूप से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और समूह-निर्देश का संघर्ष इसमें अधिक उभर-कर आया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह उपन्यास किसी भी प्रकार के रेजीमेण्टेड जीवन की असफलता सिद्ध करने का प्रयास है। 'अश्क' जी आज के इस युग के इस ज्वलन्त प्रश्न से अपने को नहीं बचा पाए हैं। निश्चय ही कथानक के लिए चुना गया स्थल कोई राजनीतिक कम्यून नहीं है फिर भी देवा जी का आश्रम मूल रूप में कम्यून के आधार पर ही विकसित हुआ है और वह कई ऐसे प्रश्न उठाता है कि जिनका सम्बन्ध कम्यून के बाह्यारोपित मतवाद और व्यक्ति के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य से है। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास का उद्देश्य इस बाह्यारोपित समूह-चेतना की अपेक्षा व्यक्ति-विवेक को अधिक मूल्यवान मानता है और इस बात की प्रेरणा देता है कि इन थोथे आदर्शों के माध्यम से जीवन का सत्य नहीं देखा जा सकता, व्यक्ति की आत्मनिष्ठा और उसके स्वत्व को मिटाकर कोई भी आदर्शवाद स्वस्थ रूप से नहीं विकसित हो सकता। केवल इस तथ्य का समर्थन जिस रूप से उपन्यास में विकसित हुआ है वह आधुनिक-तम मूल्यों को उभारकर रखता है। यद्यपि सक्रिय रूप से लेखक उस व्यक्ति-मर्यादा का साथ नहीं दे पाया है फिर भी जिस अंश में और जिस मात्रा में यह सत्य उद्घाटित हुआ है वह प्रशंसनीय है।

एक समस्या और भी बहुत तीव्र ढंग से व्यक्त हुई है और वह यह कि क्या अभियोगी संस्कार से वर्ग विशेष मुक्त हो सकता है? गुलाम नबी का व्यक्तित्व यह प्रश्न प्रस्तुत करता है। संगीत इस प्रश्न को ग़लत सिद्ध करने का प्रयास करता है किन्तु कड़े रेजिमेण्टेड अनुशासन में इस सामाजिक प्रश्न पर प्रयोग करने का अवसर नहीं मिल पाता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस प्रकार के आश्रम या कम्यून द्वारा मूलभूत समस्याओं का निराकरण करना लेखक सदैव असम्भव समझता है, क्योंकि इस प्रकार के जीवन में बनावट अधिक होती है, यथार्थ कम। दूसरे यह कि इस प्रकार के प्रत्येक जीवन में व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा अंश सामूहिक अनुशासन के नाम पर किसी व्यक्ति-विशेष को समर्पित कर देना पड़ता है जिसका परिणाम यह होता है कि छोटे-से-छोटे मानवीय प्रश्न पर भी व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आज्ञा पाना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो जाता है।

उपन्यास में गुलाम नबी का प्रवेश बहुत ही सफलता से उपन्यास को उभार दे सकता था। अन्त में चाहे संगीत को उस समस्या पर सफलता मिलती या न मिलती—ये प्रश्न दूसरे थे—किन्तु यह समस्या उपन्यास को एक गहराई प्रदान कर सकती थी किन्तु शिल्पगत कमजोरी के कारण यह सफलतापूर्वक उभारा नहीं जा सका है और असाधारण घुटन के वातावरण में इस पात्र की अकाल मृत्यु भी हो जाती है। काश कि उपर्युक्त मनोग्रन्थियों से यह उपन्यास मुक्त होता और तब इस पृष्ठभूमि में कथा का स्रोत स्वाभाविक रूप में विकसित होता।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि 'अश्क' जी का यह प्रयास सराहनीय है, क्योंकि इससे उनके विचार-दर्शन पर काफी प्रकाश पड़ता है। वह व्यक्ति-मर्यादा के समर्थक हैं, साथ ही वह उस रेजीमेण्टेड जीवन के विरोधी भी हैं जिसमें झूठे आदर्शवाद के नाम पर वास्तविक स्वतन्त्रता नष्ट होती है। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि अश्कजी संस्कार-च्युत गुलाम नबी-जैसे मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों वाले दयनीय वर्ग के प्रतिनिधि के प्रति उस प्रकार नहीं सोचते जिस प्रकार कि रेजिमेण्टेड जीवन-विधान में सोचा जाता है। जहाँ तक इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक विकृतियों का प्रश्न है, लगता है अश्कजी क्रिश्चियन उदारता के समर्थक हैं।

हम आशा कर सकते हैं कि अश्कजी इस प्रकार की अन्य समस्याओं पर इतनी ही स्वतन्त्रता के साथ किन्तु अधिक प्रौढ़ शिल्प का परिचय देते हुए अधिक मर्मस्पर्शी कृति देंगे। उपन्यास की छपाई और गेट-अप सुरुचिपूर्ण है। हिन्दी-उपन्यासों की प्रकाशन-विधि को देखते हुए यह पुस्तक सुन्दर ढंग से छापी गई है। इसके लिए 'नीलाभ प्रकाशन' की प्रशंसा की जानी चाहिए।[1]

मोहन राकेश

एण्टन चेख़व : एक इंटरव्यू

अक्तूबर १८८६ में एलेक्सी प्लेश्च्येव के नाम लिखे एक पत्र में चेख़व ने लिखा था : "मेरे लिए संसार की सबसे पावन वस्तु है मनुष्य का शरीर, उसका स्वास्थ्य, उसकी प्रतिभा और बौद्धिक शक्ति, उसकी प्रेरणा, स्नेहशीलता और आज़ादी···किसी भी रूप में व्यक्त होने वाले अत्याचार और और फ़रेब से पूरी आज़ादी।" राजेन्द्र यादव ने चेख़व के इसी मानववादी व्यक्तित्व को उन्हींके शब्दों के आश्रय से 'एण्टन चेख़व : एक इंटरव्यू' में प्रस्तुत किया है।

इस पुस्तक के सम्बन्ध में पहली उल्लेखनीय बात इसका शिल्प है। प्रसिद्ध लेखकों और कलाकारों के साथ काल्पनिक इंटरव्यू लिखने की बात नई नहीं है, परन्तु उस इंटरव्यू में उस लेखक की सभी उक्तियाँ प्रामाणिक रूप से उसीकी हों, यह प्रयत्न नया अवश्य है और राजेन्द्र यादव ने जिस सफलता के साथ उसका सम्पादन किया है उससे सचमुच कई जगह विस्मित होना पड़ता है। पुस्तक को वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने से पूर्व लेखक को चेख़व के कितने पत्र और संस्मरण पढ़ने पड़े हैं, इसका अनुमान हर पृष्ठ के नीचे दिये गए पुस्तक-संकेतों को देखकर हो सकता है। कई जगह एक ही रौ में चेख़व के मुँह से जो वाक्य कहलाये गए हैं, उन्हें तीन-तीन, चार-चार अलग स्रोतों से लेकर इकट्ठा किया गया है। इससे पुस्तक के वातावरण में कहीं अयथार्थता या बनावटीपन नहीं आया, यह इसकी बहुत बड़ी सफलता है। इसके अतिरिक्त मास्को के ठिठुरा देने वाले जाड़े में रुग्ण-शय्या पर पड़े हुए उस महान् कथाकार से इंटरव्यू लेने जाने का दिन और समय भी लेखक ने वही रखा है जब डाक्टरों ने कुछ लोगों को उनसे मिलने की अनुमति दे दी थी। "आइये" कहकर उनके स्वागत के लिए चेख़व के अपना निर्जीव हाथ बढ़ाने से लेकर, चेख़व के घर से निकलकर निरंजन के यह कहने तक कि "बुड्ढा है ज़िंदा दिल" कहीं यह आभास भी नहीं

१. 'बड़ी बड़ी आँखें'; लेखक—उपेन्द्रनाथ 'अश्क'; प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता कि यह इंटरव्यू काल्पनिक है, सिवा उस स्थिति के जहाँ लेखक ने समसामयिक हिन्दी-साहित्य की कुछ समस्याओं की ओर संकेत किया है। परन्तु पुस्तक का वह अंश और दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुतः लेखक ने पुस्तक की रचना ही इस उद्देश्य को लेकर की है कि हिन्दी-साहित्य के आज के गतिरोध के प्रश्न और नये लेखक की वैयक्तिक समस्याओं को चेखव के जीवन के परिपार्श्व में रखकर यह दिखाया जा सके कि हमारी आज की परिस्थितियाँ हमारे लिए नई हों परन्तु इतिहास में उनकी पुनरावृत्ति होती रहती है···कि हर काल के आलोचक को समकालीन साहित्य में गतिरोध का आभास होता है, क्योंकि आलोचक को गतिरोध का नारा ही अपनी स्थिति के लिए सबसे सुविधाजनक प्रतीत होता है। चेखव के काल में भी गोलत्सेव और उनके साथियों का मत था कि नये लेखक कोई बड़ी चीज लिख ही नहीं सकते, क्योंकि उनमें विचारों की गहराई का अभाव है। और आज हिन्दी के कुछ आलोचकों की लेखनी से प्रायः पढ़ने को मिल जाता है कि आज के लेखकों को समाज के गहन अन्धकार में हाथ मारे नहीं सूझता और कि नई कहानी में उत्तरोत्तर कथा-तत्त्व का ह्रास हो रहा है। ये उद्घोषणाएँ, उन जंगल की आवाजों की तरह हैं जिन्हें जो सुनता है वही मारा जाता है। चेखव ने जिस जिंदादिली के साथ आलोचकों की स्थिति का वर्णन किया है, उसे पढ़कर सचमुच कुहरा छँट जाता है और जोर से क़हक़हा लगाने को मन होता है।

'एण्टन चेखव : एक इंटरव्यू' की रचना का एक और भी उद्देश्य है जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं। चेखव को उनके बाद के अधिकांश आलोचकों ने संसार का सबसे सफल कथा-शिल्पी माना है, हालाँकि स्वयं चेखव का अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक यही कहना रहा कि उन्होंने जो-कुछ लिखा है सब कूड़ा है और वे अपने मन की एक भी चीज नहीं लिख पाए। रुचि के साथ चेखव की रचनाओं को पढ़ने वाले व्यक्ति की उनके जीवन और व्यक्तित्व में दिलचस्पी होनी स्वाभाविक है। चेखव के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने वाली अधिकांश सामग्री, जिसमें चेखव के पत्र, संस्मरण और चेखव के सम्बन्ध में दूसरों के लेख और संस्मरण सम्मिलित हैं, या तो अप्राप्य हैं और या साधारण पाठक की खरीदने की सामर्थ्य से बाहर की चीज है। उस सारी सामग्री का निचोड़ इस पुस्तक में देकर राजेन्द्र यादव ने सामयिक और उपयोगी कार्य किया है।

पुस्तक के अन्त में इंटरव्यू-कला के सम्बन्ध में निरंजन के विचारों की छीछालेदर करते हुए लेखक ने हिन्दी के ब्लैकबोर्ड-इंटरव्यू-साहित्य पर अच्छा व्यंग्य किया है।

यदि इंटरव्यू की समाप्ति एक सपना देखकर जागने के रूप में न की जाती तो अधिक अच्छा होता। इस तरह की काल्पनिक कृति का तर्कसंगत अवसान आवश्यक नहीं होता···बल्कि उससे अयथार्थ का झटका लगने से अपेक्षित प्रभाव में कमी आ जाती है। लेखक को अपने पाठकों की सूझ-बूझ में अधिक विश्वास होना चाहिए।[1]

१. 'एण्टन चेखव : एक इण्टरव्यू'; लेखक—राजेन्द्र यादव; प्रकाशक—जयपुरिया प्रकाशन, कलकत्ता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामस्वरूप चतुर्वेदी

संस्कृति-संघर्ष और वैयक्तिक सम्बन्ध

संस्कृति-संघर्ष की मूल संवेदना पर आधारित कई प्रकार के कथानक हिन्दी-कथा-साहित्य में हमें मिलते हैं। जब से हिन्दी का अपना उपन्यास-साहित्य विकसित हुआ है, लगभग तभी से या उसके कुछ पूर्व से हमें इस संस्कृति-संघर्ष के संकेत मिलने लगते हैं। जैसा प्रायः सभी वर्ग के आलोचकों ने स्वीकार किया है, अपने आधुनिक रूप में उपन्यास का 'फॉर्म' हमें पश्चिम से मिला है। अंग्रेजी से इस साहित्यिक विधा ने बंगला-साहित्य में प्रवेश पाया, और अनुवादों के माध्यम से यह रूप फिर बंगला से हिन्दी में आया। प्रायः उसी समय से और बहुत-कुछ उसी प्रवेश-द्वार से, आंग्ल तथा भारतीय संस्कृतियों का संघर्ष हिन्दी-भाषी प्रदेश में भी अवतरित होता दिखाई देता है। हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में इस संस्कृति-संघर्ष के लक्षण विद्यमान हैं। सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों के इस तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य में अपने जन्म के साथ-साथ उपन्यास अपने लिए सामाजिक क्षेत्र में उपलब्ध सामग्री भी लेता आया। इसी बात को दूसरे ढंग से यों भी कहा जा सकता है कि अपने प्रारम्भिक काल में उपन्यास-लेखन की एक प्रमुख प्रेरणा संस्कृति-संघर्ष की यह सामाजिक शक्ति थी और सम्भवतः यह कहना तो कुछ-न-कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण अवश्य ही हो जायगा कि हिन्दी-साहित्य में इस संस्कृति-संघर्ष ने ही उपन्यास के माध्यम को जन्म दिया। जो भी हो, हिन्दी-उपन्यास के इतिहास में इतना तो स्पष्ट ही दिखाई देता है कि अपने विकास के प्रथम युग में साहित्य की इस विधा ने अपने अधिकांश कथानक संस्कृति-संघर्ष के परिवेश से लिए, यद्यपि आगे चलकर अन्यान्य प्रेरणाएँ भी पर्याप्त संख्या में मिलने लगीं और हिन्दी-उपन्यास की यह प्रथम तथा मौलिक प्रेरणा कुछ क्षीण पड़ गई।

डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल का नवीनतम उपन्यास 'काले फूल का पौदा' इस संस्कृति-संघर्ष की भावना से ही प्रेरित है। उनके पूर्व के उपन्यासकारों के समय तक सम्भवतः इस संघर्ष की प्रकृति बहुत स्पष्ट न हो सकी थी, परन्तु आधुनिकतम सन्दर्भ में डॉ० लाल ने सामाजिक इतिहास की इस विशेष परिस्थिति का गहरा तथा संवेदनशील विश्लेषण किया है और उसके सम्बन्ध में रचनात्मक सुझावों की ओर अपनी उत्कृष्ट कला के माध्यम से संकेत भी दिये हैं। लक्ष्मीनारायणलालजी का यह तीसरा उपन्यास है। इसके पूर्व के दो उपन्यास 'धरती की आँखें' तथा 'बया का घोंसला और साँप' हमारे ग्रामीण जीवन के चित्र थे, परन्तु इस तीसरी कथा-कृति में उपन्यासकार ने हमारे नागरिक जीवन को उसकी सारी जटिलताओं के साथ अंकित किया है। कहा जा सकता है कि कला के इस परिवर्तित कार्य-क्षेत्र ने उनके दृष्टिकोण को विशद किया है तथा उनकी संवेदनशीलता को और भी अधिक उभारा है। इस दृष्टि से उनके क्षेत्र का यह विकास अत्यन्त शुभ है।

आलोच्य उपन्यास को पढ़ते समय उसकी कई विशेषताएँ पाठक के समक्ष बहुत उभर कर आती हैं। 'काले फूल का पौदा' के कथानक के निर्वहन में सबसे बड़ा खतरा था 'प्रेजुडिस' का। जिस समस्या को लेकर उपन्यासकार चलता है उसके परस्पर कई विरोधी पक्ष हैं और प्रायः इन्हीं विरोधी पक्षों में से कोई-न-कोई पक्ष-विशेष उपन्यासकार की सहानुभूति बड़े तीव्र ढंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से अर्जित करने में समर्थ हो सकता था। इसके परिणामस्वरूप अन्य पक्षों के प्रति 'प्रेजुडिस' का दृष्टिकोण स्वतः ही बन जाता! परन्तु पाठक के लिए यह सन्तोष तथा प्रसन्नता का विषय है कि उसके उपन्यासकार ने संस्कृति-संघर्ष के इस कथानक में अपनी 'प्रेजुडिस' को कहीं उभरने नहीं दिया है। समस्या का विश्लेषण उसने बड़े हो मौलिक तथा निष्पक्ष परन्तु सहानुभूतिपूर्ण ढंग से किया है। दो संस्कृतियों के विरोध के फलस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन में जो गतिरोध उत्पन्न हो गया है, उसकी तह तक जाने का यत्न उपन्यासकार ने किया है, और इस यत्न में वह निस्सन्देह बहुत-कुछ सफल भी हुआ है।

'काले फूल का पौदा' एक पति-पत्नी की कथा है। पति है देवन—परम्परागत भारतीय परिवार का एक सदस्य, परन्तु पश्चिमी संस्कृति का प्रशंसक तथा अनुगामी। आधुनिक शिक्षा-दीक्षा के ढंग ने उसके चरित्र को इतना दुर्बल बना दिया है कि चाहते हुए भी विदेशी संस्कृति के बहुत-से आचरणों का वह मुक्तकण्ठ से विरोध नहीं कर पाता। पत्नी है गीता—भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित तथा अपनी प्रकृति में अत्यन्त ही सद्भावपूर्ण। पश्चिमी संस्कृति के आवश्यक तथा वाञ्छनीय प्रभावों के साथ वह अपने दृष्टिकोण में पूर्ण भारतीय है। मन से बहुत ही कोमल तथा सुकुमार—पत्नीत्व के भारतीय आदर्श के बहुत निकट! विदेशी संस्कृति के उन तत्त्वों के अतिरिक्त, जो उसके चरित्र में ऐतिहासिक तथा सामाजिक विकास-क्रम के फलस्वरूप सहज भाव से आ गए हैं, वह किसी भी अन्य बाह्य तत्त्व को अपने पति की उत्कट इच्छा के बावजूद स्वीकार नहीं कर पाती। इसके अतिरिक्त एक ओर हैं गीता के माता-पिता—रूढ़ि-मुक्त परन्तु परम्परा तथा मर्यादा का आदर करने वाले। दूसरी ओर है देवन का मित्र-वर्ग; जो सतत 'नाइट-क्लब' के वातावरण में रहता है, और उसी ढंग से आचरण करता है। फिर है एक बंगाली परिवार, देवन का पड़ोसी, जिसने पश्चिमी संस्कृति के तत्त्वों को अपने ऊपर से आरोपित किया है। इन्हीं चरित्रों के बीच का संस्कृति-संघर्ष 'काले फूल का पौदा' की प्रमुख संवेदना है। देवन और गीता यद्यपि चरित्रों के टाइप हैं, परन्तु इससे उनके वैशिष्ट्य में कोई कमी नहीं आती, क्योंकि उनके पीछे उपन्यासकार की अपनी प्राण-शक्ति है। उपन्यास के ये चरित्र मध्यवर्गीय नागरिक समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसके अधिकांश सदस्य भारतीय संस्कृति को बूढ़ी और मुर्दा समझकर उसका परित्याग तो कर चुके हैं, परन्तु इसके स्थान पर विदेशी संस्कृति को भी आत्मसात् नहीं कर सके। फलतः उनके व्यक्तित्व खोखले, सारहीन तथा आधार-रहित हो गए हैं।

जहाँ तक उपन्यास के कथानक का सम्बन्ध है, उसकी दूसरी बड़ी विशेषता है उसमें प्रदर्शित लेखक की निस्संग ईमानदारी। कथावस्तु के माध्यम से उपन्यासकार ने जिस जीवन-क्रम की ओर संकेत किया है, उसके सम्बन्ध में वह अनिश्चित तनिक भी नहीं है। सारी-की-सारी समस्या के प्रति उसका दृष्टिकोण विश्लेषणपूर्ण होने के साथ-ही-साथ दृढ़ तथा सुनिश्चित भी है। जिस आचरण को उसने मर्यादाहीन तथा हेय माना है, उसके प्रसंग में उसकी व्यञ्जना कहीं भी अस्पष्ट नहीं होने पाई है। साथ ही जिस जीवन-प्रणाली को उसने अपने समाज के लिए वाञ्छनीय तथा हितकर समझा है, उसके 'डिटेल्स' उपस्थित न करने पर भी (अन्ततः उपन्यास गृह्य-सूत्रों का भाष्य तो नहीं ही है!) उसकी रूपरेखा हमारे सामने एकदम स्पष्ट हो जाती है। उपन्यास के कथानक में निहित इस मौलिक ईमानदारी के अतिरिक्त जो तत्त्व हमारा ध्यान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहसा ही आकर्षित कर लेता है, वह है कथा-निर्वहन की नितान्त सरलता। आदि से अन्त तक उपन्यास के वातावरण में एक सादगी है, जो पाठक के रस-बोध में अत्यन्त प्रिय सिद्ध होती है। 'काले फूल का पौदा' के कथानक अथवा गठन में कहीं भी जटिलता का अंश नहीं है; यह एक प्रमुख कारण है, जिससे उपन्यास पाठक के मन को इतना छू पाता है।

पाठक के मन को गहराई तक छू पाने का एक दूसरा कारण है उपन्यास का विशिष्ट चरित्रांकन। सम्पूर्ण कथा-कृति में चरित्रांकन एक सुरुचिपूर्ण तथा सुकुमार ढंग से हुआ है। चाहे प्रधान पात्र हों चाहे पार्श्व चरित्र, वे सब-के-सब एक अजब-सी मर्यादा से बँधे हुए हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि चरित्रों का विकास सहज तथा स्वाभाविक न होकर एक निश्चित लक्ष्य से नियोजित है, वरन् यह कि उसका गठन पाठक के मन पर एक अत्यन्त ही भद्र प्रभाव छोड़ जाता है। उपन्यास के वातावरण में यह भद्रता तथा मिठास सबके ऊपर है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु ये तत्त्व कथानक पर ऊपर से आरोपित नहीं किये गए, वे कथानक में आप-से-आप विकसित हुए हैं। उपन्यास में सबसे कम चित्रित परन्तु अनुपात में सम्भवतः सबसे अधिक सशक्त-चरित्र आर्या दादा का है, जिसमें उक्त दोनों तत्त्व बड़े प्रभावपूर्ण तथा मार्मिक ढंग से मिश्रित हुए हैं। गीता का व्यक्तित्व तो मानो भागवत-सा पवित्र है, उसका अध्ययन मन को शान्ति तथा सन्तोष देता है। देवन का चरित्र भ्रमित होता हुआ भी कहीं स्तर-भ्रष्ट नहीं होता। सरोज, जो गीता की सहेली है, सम्भवतः व्यावहारिक अधिक है, परन्तु स्निग्धता उसके व्यक्तित्व में भी कम नहीं! चित्रा पश्चिमी संस्कृति की अवश शिकार है, समाज के प्रति उसके मन में प्रतिरोध की भावना है, किन्तु उसके हृदय का मूल मानवीय स्रोत बार-बार उभर पड़ता है। संस्कृति-संघर्ष का हारा हुआ युद्ध जीतने का वह अनेक बार यत्न करती है और कई बार तो विजय के एकदम निकट आ जाती है। ओम भी, जो पश्चिमी संस्कृति के उद्दाम तथा असंयमित तत्त्वों का प्रबल समर्थक है, गीता के सतत पवित्र व्यक्तित्व तथा कभी-कभी चित्रा के मन से उभरने वाली पवित्रता के प्रभाव के फलस्वरूप अधिक तीखा नहीं हो पाता। गीता की आया के व्यक्तित्व में तो मानो उसके स्वामिनी के दृष्टिकोण को ही पुष्ट किया गया है। देवन के पड़ोसी बंगाली-परिवार की पार्श्व-कथा भी उपन्यास की मूल संवेदना को तीव्र तथा प्रभावपूर्ण बनाती है। इस प्रकार कुल मिलाकर 'काले फूल का पौदा' के सभी चरित्र पाठक के मन पर अपनी विशिष्टता की गहरी छाप छोड़ जाते हैं। इसीलिए उपन्यास के वातावरण में तनाव आने पर भी वह कहीं तीखा नहीं होता। ऐसा जान पड़ता है मानो उपन्यास के सभी चरित्रों में गीता के व्यक्तित्व की सुकुमारता तथा मिठास किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रतिफलित हुई है, जिसके फलस्वरूप कथानक के आवेशपूर्ण स्थलों पर भी आचरण की मर्यादा कभी भंग नहीं होती।

उपन्यास के समस्त वातावरण को एक भद्रता तथा मिठास देने का बहुत-कुछ श्रेय उसकी भाषा को दिया जा सकता है। इस प्रसंग में अपनी पूर्व कृतियों से 'काले फूल का पौदा' का अन्तर बहुत स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रस्तुत कथा-कृति की भाषा प्रायः सर्वत्र ही समान रूप से समृद्ध है। उसका मार्दव चरित्रांकन की विशिष्टता में सहायक सिद्ध होता है। नितान्त शिल्पित न होने पर भी उसका ध्वन्यात्मक प्रभाव कथानक की कोमलता तथा भद्रता के साथ मेल खाता है और सबसे अधिक बढ़कर तो भाषा का अर्थ-गाम्भीर्य है। अनावश्यक कथोपकथन तथा वर्णन प्रायः नहीं के बराबर है और बीच-बीच में जो सूक्ति के समान स्वाभाविक रूप से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाक्य आ जाते हैं, उनमें भाषा की समृद्धि सहज ही द्रष्टव्य है। उपन्यास की नायिका के स्वतः चिन्तन का एक स्थल है—

"यह कितना बड़ा दायित्व है ?
कैसा आदर्श स्वप्न है ? मैं अब स्वप्न नहीं देखूँगी, धोखा होता है।
बस, चलती चलूँगी—जो यथार्थ है, आज वही मान्य है।

स्वप्नों का दायित्व, इसका वहन कौन करेगा ? कैसे होगा ? चारों ओर तो अन्तर्विरोध है। मैं अकेली; झूठ हूँ ! जिसे मैंने अपनी आत्मा में बाँधा, सँजोया। जिसके 'मैं' में मेरा अस्तित्व गुँथा, वह 'मैं' तो नहीं बदला। अजीब ही रहा ! न जाने क्या चाहता है ? और उस चाह में वह निरन्तर अकेला होता चल रहा है।"

उपन्यास में यह और इस प्रकार के अन्य स्थल 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' की भाषा का अनायास ही स्मरण दिला देते हैं। इस प्रकार की भाषा की सिद्धि तभी सम्भव हो पाती है, जब लेखक के विचार उसके मन में एकदम स्पष्ट हो चुके हों और इन विचारों का मूल स्रोत उसकी स्वानुभूति हो। तरल तथा प्रयासहीन भाषा उत्कृष्ट कला का माध्यम बनने के लिए कलाकार के पास स्वतः उपलब्ध हो भी जाती है। फिर भी उपन्यासकार की यह प्राञ्जल तथा संस्कार की हुई भाषा उसके लिए एक अतिरिक्त दायित्व बन गई है, क्योंकि भविष्य में भाषा के इसी स्तर का निर्वाह उससे अपेक्षित होगा और इस दायित्व-निर्वहन को एकाएक ही बहुत आसान नहीं कहा जा सकता।

औपन्यासिक विधान की दृष्टि से भी 'काले फूल का पौदा' एक सफल कथा-कृति सिद्ध होती है। 'टेकनीक' के नवीनतम आविष्कारों के बावजूद कहानी कहने का ढंग आमूल परिवर्तित नहीं हो सका है, भविष्य में कभी हो सकेगा, यह भी सन्दिग्ध है। प्रस्तुत उपन्यास कई छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त है। सभी प्रमुख पात्र कम-से-कम एक बार एक खण्ड में अपनी कथा कहते हैं। कथानक का यह विभाजन सर्वथा नवीन हो, ऐसी बात नहीं। इलाचन्द्र 'जोशी' की 'पर्दे की रानी', 'अज्ञेय' की 'नदी के द्वीप' तथा हिन्दी की कई अन्य कथा-कृतियों में इस टेकनीक को अपनाया गया है। उपन्यास में यह विधान अपेक्षाकृत परिश्रम-साध्य है। एक खण्ड को दूसरे खण्ड का पूरक होना पड़ता है अन्यथा आत्म-कथन में पात्र अपने साथ न्याय नहीं बरत सकते। परन्तु इस टेकनीक का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके द्वारा एक पात्र अन्य पात्रों के सम्बन्ध में भी उभरता है। इससे उसके चरित्र के सभी आवश्यक पहलू धीरे-धीरे पाठक के सामने आ जाते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि इस विधान में कथा-खण्डों का क्रम तथा संयोजन बहुत महत्त्वपूर्ण है, अतः उपन्यासकार को अतिरिक्त ध्यान देकर कथानक को गठित करना पड़ता है। फलतः अध्यायों में विभाजित कथानक में उतनी एकसूत्रता तथा स्वाभाविकता सुरक्षित नहीं रह पाती, जितनी इस प्रकार के कथा-संयोजन में रहती है।

डॉ० लाल के इस उपन्यास में कथा-खण्डों का विभाजन औपन्यासिक तत्त्वों को ध्यान में रखकर किया गया है। विभिन्न पात्रों का चरित्र-उद्घाटन आवश्यकतानुसार होता जाता है और प्रायः वर्णनों से नहीं वरन् स्वतः पात्र के कार्यों से उसके चरित्र के आयाम स्पष्ट होते चलते हैं। इस क्रम में घटनाओं की पुनरुक्ति को बचाया गया है, केवल वही घटनाएँ एक से अधिक बार वर्णित हैं। जिन्हें एक से अधिक पात्रों ने अपने-अपने ढंग से बताया है। दो पात्रों के पार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्परिक सम्बन्धों को चित्रित करने के लिए खण्डों का विधान अलग से हुआ है। घटनाओं को सांकेतिक रूप में व्यक्त करने के लिए दिवा-स्वप्नों अथवा स्वप्नों का माध्यम स्वीकार किया गया है। गीता की अपने शिशु के प्रति चिन्ता तथा उसके मन की आशंका बड़े कोमल भाव-चित्र द्वारा व्यञ्जित की गई है—

अनेक विकृत, अपरूप, अस्पष्ट स्वप्नों को वह देखती रही। सुबह चार बजे उसका बुखार कुछ-कुछ उतरा। नींद आ गई उसे। तब देखा—अथाह, बहुत दूर तक फैला हुआ एक सरोवर है शान्त-गम्भीर, मानो उस पर कभी कोई लहर ही नहीं उठती। पूर्णमासी की रात है। जैसे ही चाँद उस सरोवर के बीचों-बीच आता है, तब किसी किनारे से संगमरमर का बना हुआ एक विशाल भवन धीरे-धीरे तैरता हुआ आकर रुक जाता है। भवन के सूने फर्श पर एक शिशु खेल रहा है। खेलते-खेलते वह अबोध सरोवर में गिरने लगता है। फिर एकाएक अँधेरा हो जाता है।

आधुनिक उपन्यासों में 'ड्रीम-सीक्वेन्स' का विधान बहुत प्रचलित हो गया है। बहुत-से कथानकों में तो बाहर से जोड़ा प्रतीत होता है। परन्तु प्रस्तुत स्वप्न आलोच्य उपन्यास की गठन का एक आवश्यक भाग जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिस भाव-चित्र के द्वारा इस स्वप्न को व्यक्त किया गया है, वह कथानक की मूल प्रकृति से बहुत मेल खाता है। चरित्रांकन, कथानक तथा भाषा-शिल्प की सुकुमारता और सुरुचि इस स्वप्न-विधान में भी बहुत ही स्पष्ट है।

उपन्यास का शिल्प सर्वत्र निखरा होने पर भी कथानक का अन्त हमें सन्तोष नहीं दे पाता। यह ठीक है कि जीवन के समान ही उपन्यास के कथानक की गति कहीं भी रुक सकती है और हम उसमें इस प्रकार बाधा नहीं दे सकते। परन्तु औपन्यासिक कला का एक बहुत बड़ा भाग उसके प्रारम्भिक तथा अन्तिम अंशों के गठन में निहित रहता है। 'काले फूल का पौदा' का अन्त कथानक को अधूरा नहीं छोड़ता, पर उसका समापन उतना कलात्मक नहीं बन सका जितना कलात्मक उसका आरम्भ है। घटना-क्रम के नियोजन तथा विस्तार की दृष्टि से उपन्यास के अन्त में कोई कमी नहीं, परन्तु उसके अन्तिम दो अनुच्छेदों में कलात्मक पूर्णता नहीं आ सकी है। देवन और गीता के एक-मात्र पुत्र सागर की मृत्यु हो चुकी है। गीता अपनी माँ के घर है और देवन भी वहीं आया हुआ है। घर के ऊपर के कमरे में देवन और गीता का अत्यन्त करुण तथा संवेदनशील वार्तालाप होता है। देवन ने गीता को एक बार फिर से पाया है और इस मिलन का माध्यम रहा है उनका मृत शिशु। इसके उपरान्त—

गीता ने बहुत धीरे से कहा, "देवन! ओ देवन!! तुम मेरा यह कन्धा थामो—यह बायाँ कन्धा! और मुझे इस जीने से नीचे उतार दो!" देवन ने उसे कई क्षणों तक देखा। दोनों एक-दूसरे को देखने लगे, जैसे दृष्टि ही में वाणी हो, और वाणी जो अनुभूति को बाँध ले।

देवन उसे सीढ़ियों पर बहुत धीरे-धीरे उतारने लगा। गीता के पैर हर सीढ़ी पर काँप जाते थे लेकिन वह उतरती जा रही थी।

और यहीं उपन्यास का अन्त हो जाता है। उपन्यास का यह समापन कथानक को पूर्ण तो कर देता है, परन्तु पाठक के मन को गहराई तक नहीं छू पाता। देवन का गीता को जीने से उतारना न तो सांकेतिक ही है और न ही वह कथानक के विकास की दृष्टि से अर्थपूर्ण है। वस्तुतः उपन्यास अथवा कहानी का अन्त करना अपने-आप में ही एक कला है। विश्व-कथा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य में उपन्यासों के अन्त प्रायः अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं। टॉमस हार्डी का 'टैस', तॉल्सतॉय का 'ऐना केरेनिना', डिकेंस का 'टेल ऑफ टू सिटीज़', रोम्या रोलाँ का 'ज्याँक्रिस्तफ़', शरत् का 'शेष प्रश्न' अथवा 'श्रीकान्त' और हिन्दी में 'अज्ञेय' का 'शेखर' और 'नदी के द्वीप', जैनेन्द्र का 'त्याग-पत्र', भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', धर्मवीर-भारती का 'गुनाहों का देवता'—इन सभी उपन्यासों के अन्त पाठक के लिए अविस्मरणीय हैं। उपन्यास के इन समापनों में कलात्मक अकलात्मकता रहती है। जीवन की भाँति ही अपूर्ण तथा आकस्मिक होने के साथ-साथ वे कला की दृष्टि से बहुत पूर्ण हैं। इसीलिए उपन्यास का अन्त एक ओर तो सहज-स्वाभाविक होता है, परन्तु दूसरी ओर बहुशिक्षित तथा बहुचिन्तित भी होता है। इन दो विरोधी तत्त्वों का सफल संगुम्फन ही उपन्यास के अन्त को अत्यन्त मार्मिक तथा अविस्मरणीय बना देता है।

'काले फूल का पौदा' का शीर्षक अत्यन्त प्रतीकात्मक है और इस प्रतीक का निर्वाह उपन्यास में पूरी सफलता के साथ हुआ है। 'काले फूल का पौदा' तुलसी के बिरवे को कहा गया है। गीता के बनारस के घर के आँगन में यह पौदा घरुवे में लगा हुआ है और देवन के पास आकर लखनऊ के बिना आँगन वाले 'डि हेवन' में उसने उसे पति की अनिच्छा के बावजूद गमले में स्थापित किया है। गेरू से राम-नाम अंकित वाले घरुवे की तो बात सोचना ही वहाँ व्यर्थ है। गीता का जीवन-क्रम मानो इस घरुवे से गमले तक की यात्रा है। गमले की संस्कृति से वह अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ पाती, उस सारे वातावरण से वह असम्पृक्त रहती है। अन्त में वह अपने घरुवे के पास ही लौटती है और साथ में देवन को भी ले आती है। प्रतीक की दृष्टि से यही उपन्यास की मूल कथा है।

तुलसी के काले फूलों वाला पौदा इस कथा-कृति का प्रतीक-चिह्न है और उपन्यास का समस्त वातावरण भी मानो तुलसी की पवित्र तथा शान्त सुगन्धि से आप्लावित है। कथानक की सुकुमारता तथा भद्रता को और भी गहरा बनाने में तुलसी के बिरवे के प्रतीक ने पूरा-पूरा सहयोग दिया है। तुलसी के पौदे को कथानक से हटा लीजिए और उपन्यास की आधी मार्मिकता समाप्त हो जायगी। संस्कृति-संघर्ष गीता के लिए घरुवे और गमले के बीच है, परन्तु देवन के लिए वह तुलसी और स्वीट पी के बीच है। विजय, यदि इस आत्मोपलब्धि को हम विजय का ही नाम दें, तो अन्त में घरुवे में लगे हुए तुलसी के बिरवे की ही होती है। परन्तु इस विजय ने कहीं कटुता अथवा विरुद्धता नहीं छोड़ी है, क्योंकि वह शरीर से हटकर मन की मन पर विजय है।

नवीन प्रवृत्तियों से परिचालित उपन्यासों के क्षेत्र मे 'काले फूल का पौदा' का अपना विशिष्ट स्थान है। हिन्दी की शीर्षस्थ कथा-कृतियों में इसकी गणना हो सकती है। ऐसा कलात्मक अस्तित्व ही हमें हिन्दी-उपन्यास के भविष्य के सम्बन्ध में आश्वस्त बनाता है। हिन्दी-संसार डॉ० लाल से और भी विकसित तथा परिमार्जित कथा-कृतियों की आशा करेगा, यह उन्हें न भूल जाना चाहिए।[1]

---

१. **'काले फूल का पौदा'; लेखक—डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल; प्रकाशक—भारती भण्डार, इलाहाबाद।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिवप्रसाद सिंह

संवेदनात्मक तत्त्वों की एकसूत्रता

हिन्दी के जिन वृन्द नये कथाकारों के वर्तमान से हम आश्वस्त और भविष्य के प्रति आशान्वित हो सकते हैं, उनमें कमल जोशी का नाम भी शामिल है। पिछले दस वर्षों से कमल जोशी कहानियाँ लिखते आ रहे हैं और उन्होंने काफी कहानियाँ लिखी हैं। हालाँकि सृजन की उन्नत राशि आवश्यक रूप से कला की उच्चता द्योतित नहीं करती; किन्तु कमल जोशी की रचना में ऐसे तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिन्होंने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से उन्होंने अभ्यास और शक्ति का परिचय दिया है, जो एक तरुण कथाकार के लिए कम सिद्धि और महत्त्व की वस्तु नहीं।

वस्तुतः कमल जोशी पिछली पीढ़ी के तरुण कथाकार हैं। मैं 'पिछली पीढ़ी' शब्द का प्रयोग किसी अन्यथा मन्तव्य से नहीं कर रहा हूँ और न तो मेरे निकट 'पीढ़ी' पिछली या पुरानी होने के कारण कोई कम महत्त्व ही रखती है। इस विशेषण का प्रयोग मैं कमल जोशी के साहित्य के नैरन्तर्य-विकास को दृष्टि में रखते हुए कर रहा हूँ। कमल जोशी अपनी वयःस्थिति के कारण उस स्थान पर खड़े हैं जहाँ से वे पुरानी विरासत के साथ नये प्रभावों को अच्छी तरह आत्मसात् कर सकते थे; किन्तु उनकी कहानियों में वस्तु और शिल्प का जो सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, उसमें कथा-साहित्य के अत्यन्त साम्प्रतिक प्रवृत्तियों का अत्यन्त प्रभाव पड़ा है। उनकी कहानियों के ये दो संग्रह हमारे सामने हैं। इसके पहले 'चार-के-चार' नाम से उनका संग्रह छप चुका है। इन रचनाओं में वस्तु-चयन और शैली-शिल्प दोनों की उन्नत परिणति दिखाई पड़ती है किन्तु यह कौशल वही है जिसे प्रायः पिछले लोग अपनाया करते थे। ये सभी कहानियाँ प्रायः मध्यवर्गीय जीवन से सम्बद्ध हैं। कहीं-कहीं वे मजदूरों के बारे में भी लिखते हैं किन्तु अपेक्षया कम। मध्यवर्ग का जीवन पहले से कितना अधिक तीखा, तीव्र और उलझनों से आवृत्त हुआ है, इसे कमल जोशी विचारते अवश्य होंगे; किन्तु उनकी रचनाओं में इस जीवन का वीचि-विवर्तन या स्तरीय आघात तो दिखाई पड़ता है, गहरे उतरने की आकांक्षा या मानसिक संघातों में अपने को डालने का 'रिस्क' नहीं दिखाई पड़ता। सम्भव है छोटी कहानी का कनवैस इस विचार-भूमिका को सँभालने में बहुत सक्षम नहीं है; किन्तु उनके समवयस्क दूसरे कथाकारों ने नागरिक जीवन के जिस सुख-दुःख, अपेक्षाकृत ज्यादा तीखी परिस्थितियों, घुटन, कुण्ठा, विक्षोभ आदि को कहानी के माध्यम से उभारा है वह भी महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। मोपासाँ के बारे में उनके कहानी-संग्रह की भूमिका में वालेस ब्राकवे लिखता है: उसकी कहानियों में मनस्तत्त्व को स्थान नहीं था, कारण कि तब तक इस विचार-सरणि का आविर्भाव भी न हो सका था, ये कहानियाँ मुख्यतः एकदम सीधी-साधी, रचना-प्रक्रिया की पूर्णता से शोभित कभी-कभी मात्र ट्रिक पर आधारित दिखाई पड़ती हैं। कमल जोशी की कहानियों के लिए मोपाँसा के लिए लिखित उपर्युक्त पंक्तियों का उद्धरण उपयुक्त कहा जा सकता है; हालाँकि जिस वस्तु तत्त्व की मैं बात कर रहा हूँ उसकी दृष्टि से यह उद्धरण किसी अच्छाई की ओर संकेत नहीं करता। कमल जोशी के इन दो संकलनों में तेईस कहानियाँ संग्रहीत हैं, जिन्हें हम मुख्यतया चार श्रेणियों में रख सकते हैं। कुछ ऐसी कहानियाँ जो सामाजिक समस्याओं से प्रेरित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, बहुत सम्भव उनके मूल में आर्थिक प्रश्न है—जैसे अँधेरी गली, किसका बेटा, पैटमैन की बीवी', 'फूलों की माला' आदि। 'अँधेरी गली' का रमजान कर्ज के बोझ से दबा है, वह न चाहकर भी गम गलत करने के लिए शराब पीता है और अँधेरी गली में लड़खड़ाता हुआ चल देता है 'किसका बेटा' बंगाल के अकाल के समय एक गरीब के बेटे की कहानी है जिसे निपूता अमीर पालता है, और सच्चा बाप बच्चे के प्रति सहज प्रेम प्रदर्शित करने में जेल भेज दिया जाता है, 'फूलों की माला' में शरणार्थी लड़की आराध्य देव कृष्ण के लिए माला लेकर मन्दिर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वेश्या गली में जाती और अन्ततः भीख माँगकर पेट पालती है—इस प्रकार की कहानियों में कमल जोशी अपने पूर्वज या अग्रज कथाकारों से आगे नहीं बढ़ सके हैं, मेरा खयाल है कि ऐसी कहानियों में उनकी प्रतिभा को जो ठोस जमीन मिलनी चाहिए वह प्राप्त नहीं हो सकी है।

दूसरी श्रेणी में वे कहानियाँ आती हैं जो किसी अति सामान्य उपेक्षणीय वस्तु को केन्द्र बनाकर किसी मनुष्य की संवेदना को, दर्द को उभारने के लिए लिखी गई हैं। 'पत्थर की आँख' की 'चश्मा', 'खिड़की' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं जिनमें कमल जोशी को अत्यन्त सफलता मिली है। 'चश्मा' कहानी में वृद्ध मनोहरप्रसाद का वैयक्तिक दर्द, चश्मे के टूट जाने तथा घर वालों की उपेक्षा से उत्पन्न क्षोभ नाती के जन्म का समाचार पाकर कैसे विगलित होता है, इसका बड़ा ही सजीव चित्रण लेखक ने उपस्थित किया है, 'चश्मा' कहानी प्रथम श्रेणी की कृति है। 'खिड़की' मनुष्य के मानसिक रहस्य की खिड़की है जिसमें कभी-कभी उसका असली रूप झाँकने लगता है। इन कहानियों में कमल जोशी ने हिन्दी-कथा-साहित्य को वस्तु-चयन की नई दिशा की ओर प्रेरित किया है।

तीसरी श्रेणी में वे कहानियाँ आती हैं जिनमें लेखक किसी मानसिक गुत्थी की ओर संकेत करना चाहता है। 'प्रतिक्रिया' कहानी की सरोज अपने भावी पति बलराज से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती है और चमन नामक युवक को अपना जीवन-संगी निर्वाचित करती है। बलराज ने लड़की के पिता से रंगून में, जहाँ वह नौकरी करता था, शादी करने का प्रस्ताव किया था। वही बलराज एक बदसूरत काली लड़की से शादी कर लेता है तो सरोज इस समाचार को सुनने के बाद चमन से विवाह करना अस्वीकृत कर देती है। 'इज्जत की खातिर' 'पहला पाप' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। 'पहला पाप' के रामेश्वर बाबू ईमानदार रहने की लाख,कोशिश के बावजूद एक दिन गरीबी से तंग आकर घूस लेते हैं—इन कहानियों में कथाकार को हम सामान्य धरातल पर ही पाते हैं।

चौथी श्रेणी में मैं कुछ ऐसी चरित्र-प्रधान कहानियाँ रखूँगा जो अपनी शिल्प आदि की कमजोरियों के बावजूद हमारे मन में गहरी पीड़ा और सहज सम्वेदना उत्पन्न करने में सफल होती हैं। 'गूँगा यौवन' और 'बाहर भीतर' ऐसी ही सफल कहानियाँ हैं जिन्हें भूलना कठिन है। पंगु और अन्धे पति के लिए बाहर से अत्यन्त फैशन-प्रिय लगने वाली नीलिमा का त्याग मन को अत्यन्त मथ देता है। गूँगा यौवन की गूँगी लड़की अपनी मासूमियत और असहायता से हमारे मन में अविस्मरणीय दर्द जगा देती है।

इस प्रकार हमने देखा कि वस्तु की दृष्टि से कमल जोशी किसी अछूते प्लाट या मानसिक संघर्ष आदि की मौलिकता के लिए नहीं बल्कि इस जीवन से एकसूत्रीय संवेदनात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्वों के चयन के लिए बधाई के पात्र हैं।

शिल्प की दृष्टि से कमल जोशी की तारीफ होती है, क्योंकि वे सीधी-सादी भाषा में 'सुनिश्चित कथानक' को संतुलित ढंग से व्यक्त करते हैं। यहाँ भी कमल जोशी पिछली पीढ़ी के प्रतिनिधि कथाकारों के अनुगामी ठहरते हैं। प्रतीकों, मर्मछवियों, वातावरण के नये प्रयोगों और कथा-गठन के लिए व्यवहृत, स्मृति, खण्ड-विचार-शृङ्खला, स्वप्न, सांकेतिक ध्वनियों आदि का प्रयोग उनकी कहानियों में कम-से-कम पाया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि इन्हें शिल्प-सौन्दर्य का अनिवार्य अंग माना जाय; किन्तु यह कौशल तो है ही और नये कथाकार को यह श्रम-साधना के बाद प्राप्त हुआ है। कमल जोशी की भाषा का मैं प्रशंसक हूँ, उसकी स्पष्टता का कायल। सुस्पष्ट ढंग से भाषा विचारों की स्पष्टता और सफाई द्योतित करती है। निरलंकृत भाषा में किस्सागोई की शक्ति उन्हें प्राप्त है, किन्तु कहीं-कहीं जब वे शरत् या जैनेन्द्र की भाषा के मोह में पड़कर सूक्ष्म, भावसूचक दृश्यों को बाँधने के लिए उलझी भाषा की शरण लेते हैं तो बड़ी बुरी स्थिति उत्पन्न हो जाती है :[1]

"मन और प्राणों में अपमान तथा पश्चात्ताप का विष भर गया। प्रथम अभिज्ञता की निष्ठुरता से वह बहुत देर तक अप्रस्तुत हो बैठी रही" अचानक प्रेम करने वाली लड़की बाद में जब अपने प्रेमी को अविश्वसनीय पाती है तो उसकी अवस्था का चित्रण लेखक करना चाहता है; किन्तु ऊपर की पंक्ति कितनी अस्पष्ट हो गई है। ऐसे प्रयोग कई स्थानों पर मिलते हैं। विशेषतः 'गूँगा यौवन' की कहानियों में। शायद ये पहले की कहानियाँ हैं। अस्तु। कहीं-कहीं कमल जोशी को अलंकार आदि देने का मोह भी होता है। यह उचित ही है किन्तु वहाँ औचित्य का ध्यान भी रखना चाहिए। एक प्रसंग देखिए : विमला का पति विनोद पर-नारी में आसक्त है। वियुक्ता पत्नी उस औरत के सजे हुए कमरे और सेज की बात सोचती है और उससे अपने शयन-कक्ष की तुलना करते हुए सोचती है :[2]

यह कमरा कौन-सा खराब है× विद्युत् के हरे प्रकाश में चमक रहा है।× सफेद बिछौना 'मां की गोद' की तरह कोमल और 'रमणीय' है, यहाँ लेखक ने औचित्य का ध्यान नहीं दिया और अलंकार-मोह में माँ की गोद को रमणीय कह दिया। इस तरह के मौकों पर थोड़ा ठहरकर सोच लेने की जरूरत है।

कमल जोशी की कहानियों का अन्त प्रायः दो तरह से होता है। लेखक किसी 'ट्रिक' का सहारा लेकर एकदम अप्रत्याशित मोड़ उपस्थित करता है जिससे नाटकीयता का पूर्ण अन्त उपस्थित होता है। 'ट्रिक' अन्त के लिए एक कौशल तो है किन्तु यह दुधारी तलवार भी है, चूके नहीं कि गए। जहाँ यह ट्रिक कहानी के कलेवर से उत्पन्न होता है वहाँ तो उससे नई ताक़त पैदा होती है जैसा कि 'बाहर भीतर' में। किन्तु जहाँ यह ट्रिक बाहर से आरोपित किया जायगा वहाँ उसके भार से कहानी उल्का की तरह असंतुलित होकर जीवन-अम्बर से गिरती दिखाई पड़ेगी। जैसा 'तीन रातें' में। वियुक्ता औरत के घर में आकस्मिक घटना का सहारा लेकर एक चोर को घुसा दिया गया और वह यह जानते हुए कि यह एक एस० पी० का घर है, घुस गया, यह जानकर कि चोर की औरत बीमार है, एस० पी० की पत्नी ने पति की मोटर-

१. 'गूंगा यौवन', पृ० ७।
२. 'पत्थर की आँख', पृ० ६८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साइकिल दे दी—आदि। कमल जोशी की कुछ कहानियों में अचानक अन्त उपस्थित हो जाता है। इस तरह की (Abrupt ending) कहानी को खण्ड चित्र या टूटी तस्वीर, की हालत में बना देती है। मैं यह नहीं कहता कि वे किसी उपदेशक की तरह अन्त में एक स्टेटमेंट दें ही। माना कथाकार निष्पक्ष साक्षी (Impartial witness) मात्र हैं, न्यायाधीश नहीं। किन्तु जैसा थामस हार्म ने लिखा है कि कथाकार कहानी सुनाने की प्रयोजनीयता (Justifying is telling) तो साबित करनी ही होगी। ऐसा भी नहीं कि वे स्टेटमेंट नहीं देते जहाँ देते हैं वहाँ कहानी के शिल्प का ह्रास भी होता है। 'अँधेरी गली', 'छाया चित्र' आदि अन्त-वंचित कहानियाँ हैं जब कि 'भीड़' में वे अनावश्यक रूप से अन्त में कहते हैं: "सिर्फ दो ही व्यक्ति जीवित नहीं रह सकते और भी बहुत-से व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।" 'पत्थर की आँख' अत्यन्त उच्च-कोटि की कहानी है किन्तु लेखक ने उसके अन्त को इतना अभिधात्मक (Flat) बना दिया है कि सुन्दरता में कमी आ गई है: क्रूर मकान-मालिक कलाकार से पूछता है कि अगर वह बता सके कि उसकी (मकान मालिक की) कौन-सी आँख पत्थर की है तो वह उसे एक महीने की और मुहलत दे सकता है। कलाकार बता देता है, इस पर मकान-मालिक पूछता है कि आपने कैसे पहचाना—"जब आपने सिर्फ एक महीना कहा तब मैंने स्पष्टतः गौर किया कि आपकी बाईं आँख में न जाने कैसी एक कोमल करुणा की आभा खेल गई, फिर समझते देर न लगी कि वही आपकी पत्थर की आँख है। यह तो स्वाभाविक ही है कि आपकी पत्थर की आँख में ही कोमलता की आभा पहले झलकेगी" जाहिर है कि नीचे की पंक्ति अनावश्यक है और इसके आ जाने से सांकेतिकता (Suggestiveness) में कमी आ गई है।

गूँगा यौवन (जो प्रकाशक की गलती से 'फूलों की माला' के नाम से प्रकाशित हुई है) तथा 'पत्थर की आँख' दोनों ही हिन्दी-कहानी के लिए गर्व की वस्तु हैं। 'पत्थर की आँख' की छपाई, आवरण आदि तो अत्यन्त ही मनोरम है, उस टक्कर की रूप-सज्जा, सफाई-छपाई हिन्दी की कम पुस्तकों में दिखाई पड़ती है। इसके लिए प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं। मैं अन्त में लेखक को उसकी गौरवमयी साहित्य-साधना के लिए बधाई देता हूँ। कमल जोशी की ये कृतियाँ उनके उज्ज्वल भविष्य की ओर साधार संकेत करती हैं।[1]

---

१. यह समीक्षा श्री कमल जोशी की कहानी 'पत्थर की आँख' से सम्बन्धित 'कल्पना' में प्रकाशित वाद-विवाद के पूर्व लिखी जा चुकी है।
'पत्थर की आँख'; लेखक—कमल जोशी; प्रकाशक—रश्मि प्रकाशन, चितरंजन एवेन्यू कलकत्ता—७।
'गूँगा यौवन'; लेखक—वही; प्रकाशक—नवयुग प्रकाशन, दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० लक्ष्मीनारायणलाल

नये समाज का उदय

दो अंकों के इस नाटक में मनोहरसिंह नाम के एक जमींदार परिवार को आधार बनाकर श्री उदयशंकर भट्ट जी ने जमींदारी-उन्मूलन, मुख्यतः जमींदारी की समाप्ति के उपरान्त की मनोदशा-चित्रण की पीठिका से उसकी रूढ़ि या परम्परा के भग्नावशेष उसके प्रति जमींदार पात्र का व्यामोह और सबसे ऊपर अन्त में एक उदात्त आदर्श स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

प्रथम अंक में जमींदार मनोहरसिंह, उनका लड़का चंद्रवदनसिंह और उनकी लड़की कामना के चरित्र-बिन्दु और उनके मनोभावों के पारस्परिक संघर्षों से लेखक ने उस पुराने जमींदार-समाज का पारिवारिक चित्र उभारा है, जो वस्तुतः नष्ट हो चुका है, पर उसका सत्य और असत्य का प्रभाव मनोहरसिंह के व्यक्तित्व के ऊपरी मन से हटकर उसके उपचेतन या और नीचे जा पहुँचा है। अर्थात् प्रथम अंक में मनोहरसिंह के विगत वैभव का चित्र है, जिसका अंकन कहीं-कहीं बहुत ही यथार्थ, बहुत ही सुन्दर हुआ है, पर कहीं-कहीं यथार्थता और व्यावहारिकता से दूर भी जा पड़ा है। यहाँ इसके दो कारण हैं; प्रथम, कामना और रीता-जैसे दो स्त्री-चरित्रों का असाधारण रूप, जिनकी चरित्र-अन्विति मनोहरसिंह और उनसे उद्भूत इस अंक के भाव-जगत् से कभी नहीं हो पाती। मनोहरसिंह जमींदारी-समाप्ति के बाद का जमींदार-चरित्र है—स्पष्ट, शक्तिशाली और यथार्थ। पर कामना! स्वयं नाटककार के शब्दों में 'न्यूरोसिस तथा चिन्तनशील, आत्मरत और कुशल'। और 'रीता'—'फेनेटिक'। और दूसरा कारण—प्रस्तुत समस्या के प्रति नाटककार के मन में सर्वथा एक काल्पनिक आदर्श की भावना। इस नाटक में जिस नये समाज की भावना है, वह निस्संदेह वांछनीय और ग्राह्य है, पर उसकी अतिशयता और प्रबलता, नाटक के एकान्त प्रभाव में बेहद बाधक होती है। दूसरा अंक, सम्भवतः इसी कारण उतना प्रभावोत्पादक नहीं हो पाता, जितना कि प्रथम अंक की वस्तु-स्थिति और नाट्य-स्थिति से सम्भावित था।

नाटककार ने अपनी भूमिका में हमारा ध्यान कुछ नई चीजों की ओर आकर्षित करना चाहा है—"आज नाटककार को अपना 'कंटेण्ट' बदलने की आवश्यकता है।" ××× "आज नाटक के लिए दो बातों की आवश्यकता है—नये विचारों की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपस्थिति और रंगमंच का पुनर्निर्माण।"

'नया समाज' में नाटककार उक्त आग्रह से नये 'कंटेण्ट' की ओर गया है—और वह कंटेण्ट है क्या? नाटककार के शब्दों में "यह नाटक जमींदारी-प्रथा के उन्मूलन पर है।" ××× "जमींदारी-प्रथा के विगत वैभव का ही प्रदर्शन इसमें नहीं। उसके परिवार की समस्या, उसकी गति-विधि का भी चित्र इसमें है।"

यह 'कंटेण्ट' जिस रूप में भूमिका में लिखित है उस रूप में उतना सम्पूर्ण नाटक में नहीं है; वस्तुतः 'कण्टेण्ट' का यही बहाना नाटक को यथार्थ से दूर हटाकर इसे सर्वथा शहरी मध्यवर्ग की कुण्ठित सामाजिकता के धरातल की ओर खींचता-सा प्रतीत होता है, जिसके ऊपर नाटककार के नये समाज की केवल आदर्श भावना मुखरित है। नाटक का अन्त तभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाटक-जैसा न होकर रेडियो के 'फीचर'-जैसा है, जो किसी विशेष पर्व और विशेष चरित्र पर लिखा जाता है। तभी 'नये समाज' का आदर्श नाटक के अन्त में कोरस-गान में स्पष्ट किया जाता है।

उक्त तथ्य किसी साधारण नाटककार द्वारा सिद्ध हुआ होता तो वह सर्वथा अग्राह्य और त्याज्य होता। 'नया समाज' का नाटककार वर्तमान नाट्य-साहित्य का एक प्रतिनिधि और शक्तिशाली नाटककार है। इस प्रकाश में हम नाटककार से बहुत बड़ी आशा रखते हैं, क्योंकि उसकी मर्यादा और स्तर में हमारे हिन्दी-नाट्य-साहित्य का भविष्य छिपा है।

'नया समाज' रंगमंच की सरलता की दृष्टि से अपेक्षाकृत सफल है। नाटक में पात्र थोड़े हैं और छब्बीस घण्टे का कार्यक्रम है। वस्तु-निर्देश भी नया है। दोनों अंकों में कुल मिलाकर छः दृश्य हैं और छहों दृश्य प्रायः एक ही कमरे में आते हैं।

अभिनय की दृष्टि से एक विशेष बात इसके कथोपकथनों के सत्य से जुड़ी है। प्रायः कथोपकथनों का रूप कलात्मक है। लेकिन कुछ स्थानों पर कथोपकथन 'स्वगत-कथन' की शैली में प्रयुक्त हुए हैं; वहाँ इसका रूप शिथिल हो गया है।

कुछ दृश्यों का तो आरम्भ ही नाटककार ने स्वगत-कथनों के माध्यम से किया है, जैसे, प्रथम अंक में दूसरे दृश्य का आरम्भ 'कामना' के स्वगत-कथन से और दूसरे अंक में दूसरे तथा तीसरे दृश्य का आरम्भ क्रमशः 'रूपा' और 'कामना' के स्वगत-कथनों से हुआ है।

नाटक के प्रायः सभी पात्र नाटकीय ढंग से उभारे गए हैं, लेकिन उदात्त आदर्श का समान भाव इस तरह से चरित्र-विधान के चारों ओर मँडराता रहता है कि नाटक की प्रभविष्णुता में बाधा उपस्थित होती है। नाटक की चरम सीमा और उससे नाटक का एकान्त प्रभाव चरित्रगत सिद्ध करने का है, जहाँ

हमें समाज बदलना होगा, आगे बढ़ो बढ़ो।
ऊँच नीच है नहीं कहीं भी, मिलकर चढ़ो चढ़ो।
नया गगन है चाँद नया है
धरती नई-नई।
सूरज नया, नई आशा है
नयी उमंग वती।

[कोरस]

लेकिन 'नये समाज' का यह सत्य इस नाटक में 'रूपा', 'चंदू' और 'मनोहर' के बीच 'कामेडी आफ सार्स' का शैली और तंत्र से घराया गया है; यहीं इस नाटक की शक्ति क्षीण हो जाती है और हमारे मन पर विनोद का प्रभाव अधिक पड़ता है, और यह विनोद 'नये समाज' की हँसी उड़ाने-जैसा लगता है।[1]

१. नया समाज; लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट; प्रकाशक—मसिजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरिजाकुमार माथुर

निकष : नवीन दृष्टिकोण का प्रतीक

हिन्दी का नया साहित्य अब प्रयोगशाला का कच्चा अधबना माल ही नहीं रहा बल्कि दिन-प्रतिदिन वह अधिक व्यवस्थित और रूप-गठित होकर बाहर आ रहा है, 'निकष' इस बात का एक संयोजित प्रमाण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'निकष' में जो-कुछ निकला है वह सब-का-सब श्रेष्ठतम है और बाकी जो उसकी परिधि के बाहर है या लिखा जा रहा है वह निम्न स्तर का है, बल्कि यह कि प्रस्तुत संकलन को देखकर एकत्र रूप से अनुभव होता है कि पिछले पन्द्रह वर्षों की उपलब्धि किन नये रूपों में धीरे-धीरे ढल रही है। जिन लोगों की यह स्पष्ट धारणा थी कि नई शैली का कृतित्व एक संक्रांतिकालीन क्षणिक आवेग या फैशन-मात्र है, अस्थायी परिस्थिति है, या जो इस आशा में जी रहे हैं कि दस-पाँच साल की यह हवा अपने-आप बन्द हो जायगी तब पुनः युग उनके पास लौटकर आएगा उन्हें; 'निकष' और निकष-जैसी दूसरी चीजों को देखकर क्रमशः निराश होते जाना पड़ेगा। आज की बिखरी हुई उपलब्धियाँ जब इस प्रकार संग्रहीत रूप से सामने आयँगी तभी इनका असली महत्त्व ज्ञात होगा और उचित मूल्यांकन हो सकेगा। 'निकष' का स्वागत सबसे पहले इस दृष्टि से होना चाहिए।

प्रकाशन-वक्तव्य से लेकर सम्पादकीय तक में जिस बात को सबसे अधिक जोर देकर कहा गया है वह यह है कि 'निकष' उच्च साहित्यिक कृतियों का संकलन होगा। श्रेष्ठता, सजीवता, रसमयता, नया सौन्दर्य-बोध, यथार्थ दृष्टि उस कृतियों की कसौटी होगी; न कि किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक पक्षधरता। निकष-जैसा सार्थक और मौलिक नाम भी इसी कारण उसको दिया गया है और यद्यपि उसमें कुछ गैर मामूली कविताएँ भी सम्मिलित की गई हैं, पर मुख्य रूप से उसे गद्य-संकलन कहना ही उचित होगा। 'गद्यं कवीनां निकषं वदंति' वाली उक्ति के अनुसार (जहाँ से सम्भवतः संकलन का नाम लिया गया है) गद्य-कृतियों का ही अधिक प्रतिनिधित्व इसमें दिया गया है। हमें देखना है कि इसका निर्वाह संग्रह में कहाँ तक हुआ है तथा किस सीमा तक 'निकष' में श्रेष्ठता और पक्षधरता का अभाव प्राप्त होता है।

'निकष' में एक सम्पूर्ण लघु उपन्यास (सोया हुआ जल), दो उपन्यासों के अंश (गाथा, खाली कुर्सी की आत्मा), एक नाटक (मैं आइना हूँ), सात कहानियाँ (कोयला भई न राख, रसप्रिया, घाटी का दैत्य, सेब, सूने दिन सूनी रातें, फुलबसिया, गुल की बन्नो), तीन लघु कथाएँ (तीन रोने वाली औरतें, मोती और पुरानी सड़क, नई पगडंडी) चौदह कविताएँ और एक अनुवाद, तीन-व्यंग लेख, दो व्यक्तिगत लेख (पर्सनल एसे), एक डायरी और एक कला-समीक्षा संग्रहीत है। काफी सामग्री है। इनके अतिरिक्त साढ़े नौ पृष्ठ का सम्पादकीय भी है; जिसका विवेचन अलग से होना सिर्फ इसलिए ही अपेक्षित नहीं है कि वह स्वयं एक स्वतन्त्र निबन्ध है बल्कि इसलिए भी कि जो-कुछ इसमें जिस तरह कहा गया है वह कई विवादास्पद प्रश्न सामने उपस्थित कर देता है। सम्पादकीय वक्तव्य एक नीति-विषयक घोषणा होती है; एक 'ओवर-आल' मुहर है, जो संग्रहीत सामग्री पर लगाई जाती है। अर्थात् ऐसे संकलन का सम्पादकीय पढ़कर आप आशा कर सकते हैं कि जो लेख उसमें संग्रहीत किये गए हैं वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कदाचित् एक ही स्कूल के हैं। 'निकष' की अधिकांश रचनाएँ इस बात का प्रमाण नहीं देतीं। इसलिए हम पहले रचनाओं को ही परखेंगे।

सारा संकलन पढ़ जाने के बाद सबसे पहली बात जो मन में आती है वह यह है कि 'सोया हुआ जल', 'सड़क बाहर की-भीतर की', 'सूने दिन सूनी रातें', 'गुलकी बन्नो', 'सेब' तथा पन्त जी, अज्ञेय, श्रीराम वर्मा और वीरेन्द्रकुमार जैन की कविताएँ ही विशेष महत्त्व की हैं, साधारण से ऊपर हैं। शेष सामग्री सामान्य या सामान्य के कई स्तरों पर हैं।

पन्त जी की कविता 'सोनजुही' कसी हुई, प्रौढ़ और साफ-सुथरी होने के साथ ही उनके उत्तरकालीन दृष्टिकोण की भी परिचायक है, जिसमें धरती की जीवनी-शक्ति से प्रेरणा लेकर नवीन मानस-संस्कृति के विकसित होने की कल्पना है। नई छवियों का इसमें विशिष्ट प्रयोग है; जो पन्त जी के लिए सहज रहा है। शब्द-चित्रों का संक्षेप्य और उनकी सजीवता द्रष्टव्य है :

"एक टाँग पर उचक खड़ी हो
मुग्धा वय से अधिक बड़ी हो
पैर उठा, कृश पिंडुली पर धर
घुटना मोड़ चित्र बन सुन्दर
उठ अँगूठे के बल ऊपर
उड़ने को अब छूने अम्बर
सोनजुही की बेल हठीली
अटकी सधी अधर पर"

अज्ञेय की रचना 'साँप' एक शक्तिशाली रचना है और उसका व्यंग्य भी तीखा है। बड़े ही संक्षेप और सरलता से एक व्यापक बात कही गई है। कविता का ऋजु 'डिक्शन' ध्यान खींचने वाला है। इस कविता पर यह लांछन नहीं लगाया जा सकता कि वह डी० एच० लारेंस की 'स्नेक' नामक कविता से मिलती-जुलती है, या उससे उत्प्रेरित हुई है। यह सही है कि इन दोनों रचनाओं के शीर्षक एक-से हैं और यह भी सम्भव है कि उक्त विषय पर अज्ञेय का ध्यान जब गया हो तो डी० एच० लारेंस की रचना की अनुगूँज उनके मन में कहीं पड़ी हो। पर इस साम्य के अतिरिक्त कविता में और कोई साम्य नहीं है, दोनों की विचार-वस्तु बिलकुल अलग है। बल्कि 'स्नेक' से अधिक निकट की रचना डी० एच० लारेंस की लिजार्ड (Lizard) लगती है जिसका संक्षेप्य और 'एप्रोच' अज्ञेय के 'साँप' से मेल खाता है। विचार-वस्तु यहाँ भी विभिन्न है।

'साँप' इस संग्रह की विशिष्ट कविताओं में से एक है, यद्यपि उसे सबसे अलग करके महत्त्व देकर क्यों छापा गया है यह समझ में नहीं आता।

श्रीराम वर्मा लिखित 'चक्रव्यूह' एक सुगठित और श्रेष्ठ रचना है। पुराने प्रतीकों को नये ढंग से उभारा गया है और आज के व्यक्ति-जीवन तथा सामाजिक संघर्षों की समस्याओं को बहुत अच्छे संकेत तथा व्यंजना से प्रस्तुत किया गया है। इस कविता को पढ़कर चित्र-कला का 'वाश शिल्प' याद आ जाता है जिसमें कूँची के दो-चार 'स्ट्रोक' से ही पूरा चित्र स्पष्ट हो जाता है। बड़े विश्वास और भविष्य की आस्था के साथ कवि कहता है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मेरी आत्मा
अर्जुन से भी अधिक ऋजु है
सुभद्रा से भी अधिक धारणाशीला है
और अभिमन्यु से भी अधिक श्रुतिधर्मा है
क्योंकि मैं वर्तमान को अपना छोटा भाई
मानता हूँ
जिसे मैं जिधर चाहूँ मोड़ सकता हूँ
और उसे अपने प्यार के सहारे दिव्य और भव्य
बना सकता हूँ"

रचना में शब्दों की मितव्ययता ध्यान देने योग्य है। साथ ही उसकी भाषा, उपमान, क्रम-संयोजन (सीक्वेंस) भावना का कसाव, अन्विति और अभिव्यक्ति के संयम (Restraint) से जो वातावरण उत्पन्न होता है उसमें एक सहज, हल्की रूक्षता है, जो विषय के लिए अत्यन्त उपयुक्त बैठी है। वह उस कठोर यथार्थ का संकेत करती है जिससे संघर्ष चल रहा है। इस प्रकार कविता पौराणिक प्रतीको के आस-पास ही उलझकर नहीं रह जाती। केवल छंद के मामले में रचना पिछड़ गई है। उसमें लय का अभाव है, यद्यपि गति का नहीं है। लेकिन कविता का गुण लय है और मात्र-गति गद्य का। जब तक कविता में लय न हो उसे गद्य से पृथक् करना कठिन है। इसका समाधान यह कहकर किया जाता है कि कविता गद्य-गीत में लिखी गई है। पर एक तो गद्य-गीत कविता के लिए कहाँ तक उपयुक्त है यह प्रश्न विवादास्पद है, दूसरे गद्य-गीत का यह अर्थ कदापि नहीं है कि सीधा-सादा गद्य लिखकर उसे कविता की संज्ञा दे दी जाय। कविता में गद्य-गीत के तत्त्व को अंगीकार करने का तो यही उद्देश्य ज्ञात होता है कि छन्द भावना के पीछे चले न कि भावना छन्द के, अर्थात् छन्द के सम्बन्ध में यह स्वतन्त्रता कवि को हो कि भावाभिव्यक्ति के हित में उसकी गति या लय को आवश्यकता पड़ने पर तोड़ा भी जा सके, एक या दो ताल-कड़ियाँ कम की जा सकें या बढ़ा दी जायँ, लयात्मक सम्भाषण-शैली का आधार लिया जाय, अच्युत (Inevitable) शब्द के स्थान पर इसलिए कोई अन्य पर्याय जबरन न रखा जाय कि ऐसे मात्रा घटती या बढ़ती है, या मात्रा और छन्द पूरा करने के लिए निरर्थक शब्दों की व्यर्थ ही भरमार न करनी पड़े। सारांश में कवि-भावना के अनुरूप छन्द को तोड़ने-मरोड़ने की सुविधा हो।

इस अवस्था में भी छन्द की शर्त पहली है, छन्द हो यानी लय हो। छन्द का मूलभूत पैटर्न ही जब नहीं होगा तो गति की स्वतन्त्रता कहाँ से ली जा सकेगी। 'चक्रव्यूह' की पंक्तियाँ आदि से अन्त तक गद्य की पंक्तियाँ हैं। गद्य में इससे भिन्न रूप में उसे नहीं लिखा जा सकता। गद्य-गीत छन्द की सीमा में ही सफल हो सकता है, उससे बाहर रहकर नहीं।

वीरेन्द्रकुमार जैन की 'वह गई है फूल बीनने' संग्रह की एक और उत्कृष्ट कविता है। इसमें जिस रहस्यमय, चामत्कारिक, जादुई वातावरण का निर्माण किया गया है वह बड़ी सफलता से अंकित हुआ है। गाँव की प्रगीत-गाथाओं (ballads) में ऐसी भावना यत्र-तत्र मिलती है, विशेष रूप से मालवा और बुन्देलखण्ड के लोक-गीतों में। जैसे बहन और बीरन तालाब से कमल के फूल तोड़ने जाते हैं, बहन आगे बढ़कर जल में समा जाती है, एक कमल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फूल बनकर रह जाती है और भाई पछताता रह जाता है। वीरेन्द्रकुमार ने इस लोक-भावना के सूत्रों को लेकर नये ढंग से रचना में प्रस्तुत किया है। लोक-जीवन की आत्मा पंक्ति-पंक्ति में बोलती है। बिसातियों की आवाजें, रेशमी टुकड़े वाले की फेरी, सल्मे-सितारों वाला, मनिहार खिलौने वाला, काबुली मेवे वाला, इन सबकी आवाजें हमारे लोक-जीवन में बसी हुई हैं। क़िले वाले साईं का प्रकरण न केवल चित्रमय, शक्तिपूर्ण और प्रभावोत्पादक है बल्कि वह उस रहस्यमय सिचुएशन का आवश्यक अंग बनकर आता है। रचना में जिस रहस्य-गर्भित वातावरण की सृष्टि की गई है उससे कोलेरिज की कविताओं के सुपरनेचुरल तत्त्व का एकाएक ध्यान आ जाता है। वही दूरी का भान, जादुई वातावरण, चमत्कार-भरी स्थितियाँ, जो रोमानी कविता की विशेषताएँ होती हैं, इस रचना में हैं।

छन्द का अभाव यहाँ भी मौजूद है। किन्तु पंक्तियाँ गद्यात्मक नहीं हैं। शब्दों का चुनाव और क्रम-संयोजन ऐसा है जिसमें गति के साथ उतार-चढ़ाव भी है। उतार-चढ़ाव का यह तत्त्व छन्द के अभाव में कविता को निरा गद्य होने से बचा लेता है। इस दृष्टि से छन्द न होते हुए भी निम्नांकित पंक्ति अन्य पंक्तियों की अपेक्षा अधिक सफल है :

"संध्या के मंडप घर की दीवारों पर माँडने के लिए"

इस पंक्ति का यदि विश्लेषण किया जाय तो वह लगभग बराबर के चार 'फीट' में विभाजित हो सकती है—

संध्या के। मंडप घर की। दीवारों पर। माँडने के लिए।

जिसमें लगभग सभी गति-अंशों के अन्त में एक स्वर-ध्वनि वर्तमान है। 'दीवारों पर' वाले अंश को पढ़ते समय अगले शब्द 'मां' अक्षर को अनिवार्यतः साथ लेकर पढ़ना पड़ता है, जिसके उक्त अंश के अन्त में भी एक स्वर-ध्वनि आ जाती है। इस प्रकार पंक्ति में लय का एक 'पैटर्न' कायम हो जाता है और छन्द का अभाव नहीं खटकता।

विकसित लय-पट ही छन्द है, पर मात्र लय-पट से भी काम चल सकता है अथवा वह एक नये छन्द का निर्माण-बिन्दु बन सकता है। जहाँ यह भी न हो वह गद्य है। गद्य कहाँ मात्र-गद्य रहकर कविता के लिए अनुपयुक्त होता है और कहाँ से किस प्रकार वह छन्द का रूप धारण करने लगता है उस सूक्ष्म सीमा-क्षेत्र का संकेत करना ही इस विश्लेषण का लक्ष्य है। पिछली कविता 'चक्रव्यूह' के छन्दाभाव में उपर्युक्त लय तक का अभाव है, इसीलिए उसकी पंक्तियाँ इस कविता से अधिक गद्यात्मक हैं। आजकल गद्य की तरह से बहुत कविताएँ लिखी जाने लगी हैं, पर गद्य कहाँ लय पाने लगता है, लयात्मक पैटर्न बनाने लगता है इसका विशेष ज्ञान अधिकांश लेखकों को नहीं है। वाल्ट व्हिटमैन की नकल करना आसान है, वाल्ट व्हिटमैन बनना मुश्किल है।

संग्रह की यही चार कविताएँ विशिष्ट हैं। अन्य कविताओं में जगदीश गुप्त की कविता 'पौ फटी' और कुँवरनारायण की कविता 'आशय' का उल्लेख किया जा सकता है, यद्यपि कुँवर नारायण की कविता उतनी विकृत या चौंकाने वाली नहीं है जितने कि पहले तीन शब्द 'आमाशय, यौनाशय, गर्भाशय' से लोगों को ख्याल पैदा होता है। श्री बालकृष्णराव, विजयदेव नारायण साही, रवीन्द्र भ्रमर और कीर्ति चौधरी की कविताएँ भावनाकुलता और ताप की कमी के कारण मन में बहुत भीतर नहीं बैठती हैं। बालकृष्ण रावजी की कविता में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़मीन तो नई है पर बुद्धि और तर्क बोलता है, भावना नहीं। नये कवि मलयज की रचना 'हम स्वप्नदर्शी हैं' में पस्ती और आत्म-प्रतारणा (self-pity) ही अधिक है, इसलिए कविता का अन्तिम अंश पहले से मेल नहीं खाता। महादेवी की रचना मौलिक नहीं अनुवाद है इसलिए उस पर अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, मौलिक कृतियों के संकलन में अनुवाद को स्थान देना विचारणीय बात अवश्य है।

संकलन के गद्य अंश में सबसे पहले दृष्टि खींचने वाली चीज़ सर्वेश्वर दयाल का 'सोया हुआ जल' है। यह सर्वथा नया प्रयोग है जिसका आधार मध्यवर्गीय तृष्णा, अतृप्ति हताशा (फ्रस्ट्रेशन) का है। इसके खण्ड-चित्र एक पात्र विशेष की मानसिक प्रतिक्रिया और स्वप्न दर्शनों के द्वारा सूत्रबद्ध किये गए हैं। लेखक के अनुसार इसे सिनेरियो-शिल्प में लिखा गया है; पर आदि से अन्त तक सिनेरियो शिल्प का आभास भी कहीं नहीं मिलता। सिनेरियो स्क्रीन प्ले या चित्रालेख होता है और फिल्म-पट की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखा जाता है, परदे पर कोई दृश्य किस भाँति, किस एंगिल से कितना आना चाहिए इस दृष्टि से हर स्थान पर कैमरा-परिचालन के निर्देश उस आलेख में होते हैं। संवाद बोलने, आंगिक और भाविक अभिनय करने का निर्देशन भी रहता है। वस्तुतः सिनोरियो को अक्षरों में लिखी सम्पूर्ण फिल्म कहना चाहिए। इस रूप में 'सोया हुआ जल' नहीं लिखा गया है, बल्कि दृश्यगत स्थितियों को छोड़कर उसका शिल्प फीचर के अधिक निकट है। फीचर में जिस प्रकार छोटे अंकों को नैरेटर के माध्यम से जोड़ा जाता है लगभग उसी प्रकार की दृश्य-स्थितियाँ बूढ़े पहरेदार के कल्प-विकल्प के माध्यम से यहाँ सम्बद्ध की गई हैं। इसलिए 'सोया हुआ जल' को उपन्यास कहने के बजाय वार्तालाप-शैली में लिखित एक प्रतीकात्मक दृश्य-रूपक कहना अधिक उचित होगा।

लेखक की भाषा तथा स्थितियों का वर्णन बड़ा मार्मिक और आकर्षक है। मध्यवर्गीय जीवन की जिस हताशा, अतृप्ति और प्यास का चित्र सामने आता है उसीके अनुरूप दर्द और उदासी का वातावरण भी दिया गया है—

"रात; अंधेरे में सोया हुआ ताल का जल। नाचती हुई रोशनी के पीले हरे फूल। खटखट। एक काली परछाईं का ताल के जल पर से रेंग जाना।"

मध्यवर्गीय जीवन : वास्तविकताओं में तृष्णा और अतृप्तियाँ और स्वप्नों में इच्छा-पूर्तियाँ (wish fulfilment) लेखक के अनुसार यही उसकी परिभाषा है। वह दुनिया एक यात्रिशाला या होटल की तरह है, सम्भवत: इसीलिए होटल ही घटना का केन्द्रस्थल बनाया गया है। इस दुनिया में ब्रिज और ड्रिंक्स चलते हैं, लड़कियों की फ़िराक़ रहती है, प्रेयसी को लेकर प्रेमी घर से भाग जाते हैं, भाभियाँ अपने विवाह से पूर्व किये हुए रोमांस की अतृप्तियों को स्वप्न में पूरा करती हैं, छोटे भाई अवचेतन मन में भाभियों को पाने की अतृप्त कामना रखते हैं, शरीफज़ादे कमरों में फाँसी से लटकते पाये जाते हैं, सर्वहारा क्रान्ति में विश्वास रखने वाले आदर्श के नाम पर सफ़र-खर्च पाने के लिए खून तक करने का निश्चय करते दिखते हैं, क्योंकि 'वे नीच घृणित' और हाथ में बोतल लिये झूमते फक्कड़ शराबी उस दुनिया के सबसे बड़े फलसफ़ी होते हैं।

सारांश में 'सोया हुआ जल' में मध्यवर्ग का यही चित्र है। असन्तोष, अतृप्ति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृष्णा से भरा हुआ वह वर्ग है जिसकी मुख्य भूख रोमांस और सेक्स की भूख है। इस वर्ग की अतृप्तियों और असन्तोष में एकाध आर्थिक अभाव का जिक्र भी लेखक ने कर दिया है; जैसे बेकारों को स्वप्न में नियुक्ति-पत्र की प्राप्ति या भूखों को शानदार दावत की प्राप्ति पर उसका संकेत स्वप्न-दर्शन के रूप में ही आता है, उभरकर नहीं। आदि से अन्त तक इस वर्ग की मुख्य अतृप्ति सेक्स ही के रूप में अंकित हुई है। जिसके अन्तर्गत प्रेम की विफलता, वैवाहिक जीवन का विपर्यय, दैहिक भूख का दमन, इन्द्रियाकुलता, कुण्ठा, यौवन, वर्जना आदि आती हैं। लेखक का प्रस्तुत विश्लेषण इस संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण उदाहरण से स्पष्ट होता है :

"अस्त-व्यस्त वसनों और शिथिल मुद्राओं में, कसे अंगों वाली स्त्रियाँ, सुन्दर वस्त्रों में सजी हुई स्त्रियाँ, नंगी-अधनंगी स्त्रियाँ, आलिंगन-बद्ध, हँसती, गाती, प्यासे होंठ बढ़ाती स्त्रियाँ चारों ओर बिखरी हुई हैं और सिमिटकर एक बड़ी लम्बी कतार में यात्रि-शाला के भीतर प्रवेश कर रही हैं। कमरों के दरवाजे खोलकर गा रही हैं, भीतर पलंगों पर सो रही हैं, प्रेमालाप कर रही हैं। नाच रही हैं, गा रही हैं।

यह परियों का जमावाड़ा क्यों है ?

क्योंकि आदमी ने अपनी इच्छाओं पर नियन्त्रण लगा रखा है, इसकी इन्द्रियाँ तृप्त नहीं हैं। ये सभी भूखे हैं, प्यासे हैं, यह उनकी माँग है।"

इसी प्यास और तड़प के आधार पर 'सोया हुआ जल' की रचना हुई है। लेखक के अनुसार मध्यवर्ग की इन सारी समस्याओं का हल किसी भौतिकवादी परिवर्तन से नहीं बल्कि ऐसी क्रान्ति से होगा जिसका आधार करुणा पर, संवेदना पर और मानवता पर होगा, क्योंकि 'बाह्य परिस्थितियों के बदलने से काम नहीं चलेगा, आदमी को भीतर से बदलना होगा।'

प्रश्न यह नहीं है कि नये परिवर्तन का आधार करुणा, संवेदना और मानवता पर हो या नहीं। मानवीय आधार से किसी को कदापि इन्कार नहीं हो सकता। प्रश्न यह है कि क्या हमारे समस्त मध्यवर्ग का केवल यही रूप है जो यहाँ प्रस्तुत किया गया है, क्या उसकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक समस्याएँ कुछ नहीं हैं, क्या मात्र सेक्स और उससे उत्पन्न कुण्ठाएँ ही उसकी सारी खराबियों की जड़ है, जिसके कारण आदमी को भीतर से बदलने की आवश्यकता दिखाई देती है। फिर यह मध्यवर्ग कौन-सा है ? क्या एक विशेष प्रकार का उच्च वर्ग नहीं, जिसके सामने शायद 'सेक्स' ही मुख्य समस्या होती है ? यदि सेक्स ही उसकी समस्या का मूलाधार है तो फिर भीतर से बदलने का अर्थ केवल यह रह जाता है कि आदमी की इच्छाओं पर नियन्त्रण न रहे, उसकी इन्द्रियाँ तृप्त हो जायँ, वह खुलकर अपनी दैहिक प्यासों को बुझाता चले। फ्रायड के साइको एनेलेसिस का यही हल है और यदि हृदय परिवर्तन को ही लिया जाय तो शून्य में तो वह हो नहीं सकता, उसके लिए यथार्थ की पीठिका भी आवश्यक है। यह 'यथार्थ' सेक्स या सेक्सगत कुण्ठाएँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि वह 'भीतर' की चीजें हैं। तब बाह्य परिस्थितियों के परिवर्तन के सिवा उसका क्या आधार हो सकता है। आदमी के संस्कारों में उसकी बाह्य परिस्थितियाँ तथा उनसे उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ, रुचियाँ, आदतें आदि दोनों ही सम्मिलित होती हैं, इसलिए आदमी को बदलने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए दोनों का परिवर्तन आवश्यक होता है। जो दोनों का सामञ्जस्य और समन्वय करके चलता है वही परिवर्तन मानवीय और मानव-योग्य होता है। इस प्रकार विश्लेषण और निष्कर्ष दोनों ही दृष्टियों से 'सोया हुआ जल' में एक तरह का उलझाव नज़र आता है।

आदमी की समस्या सेक्स की ही नहीं है; सेक्स की किशोर-भावना से ऊपर उठकर समाज की है, संस्कृति की है, व्यवस्था की है, रचना की है, निर्माण की है, । वह आज अकेला नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय है। 'सोया हुआ जल' में हमें यह दृष्टिकोण नहीं मिलता, पर वह एक श्रेष्ठ कृति है, उसका शिल्प अत्यन्त सफल, उत्कृष्ट और नया है और वह लेखक की गहरी, अनुभूतिमयी और बारीकियों में जाने वाली दृष्टि का भी परिचायक है।

'निकष' की तीन अन्य कहानियाँ मानवीयता का इससे एक भिन्न स्तर प्रस्तुत करती हैं। ये कहानियाँ हैं: भारती की 'गुल की बन्नो', शान्ति मेहरोत्रा की 'सूने दिन सूनी रातें', और रघुवीर सहाय की 'सेब'। इन्सानी संवेदना, सहानुभूति, करुणा का ऐसा अन्तःप्रवाह इन कहानियों में है जो हमें उसके पात्रों और घटनाओं से एकात्म कर देता है और हमारे मन में वही मरोड़ें पैदा करता है जो इनके पात्रों ने तथा लेखक ने पात्रों को जन्म देते समय अनुभव की होंगी। ऐसा केवल इसलिए नहीं होता कि इन कहानियों के पात्र तथा घटना-स्थितियाँ सार्वजनीन 'टाइप्स' हैं, एक सिमटे हुए वर्ग-विशेष की नहीं हैं, जिसकी विशेष प्रकार की समस्याएँ और अभिजात प्यासें होती हैं; पर इससे कहीं बड़ा कारण यह है कि स्वयं लेखक ने उन समस्याओं और कटीले भावावेगों को बड़ी तिखाई से अनुभव करके व्यक्त किया है, जिससे साधारणीकरण सम्भव हो सका है। तीनों ही कहानियाँ इस बात का सफल उदाहरण हैं। उनमें लेखकों का एप्रोच शुद्ध मानवीयता का है, जैसा हाड़-माँस के बने आदमी का आदमी के प्रति होता है, यानी वह जो आदर्श, सिद्धान्त, मत-मतान्तर, पूर्व धारणाएँ, भेद, भिन्नता, अहंभाव, पक्षपात का चश्मा चढ़ाए नहीं रहता या स्थिति-विशेष में इन्सानी नस्ल के किसी व्यक्ति को पड़ा देखकर इन बातों को भूल जाता है। इन कहानियों में सँधे-बँधे (सैट) सिद्धान्त, सम्प्रदाय या आइडोलोजी की थोपा-थापी नहीं की गई है। उनकी घटनाओं को किसी दृष्टि विशेष से कोई हेतु या झुकाव देकर प्रस्तुत नहीं किया गया बल्कि इन्सान के रिश्ते से इन्सान को देखा गया है। यह इन कहानियों की बड़ी विशेषता है और इस नाते इन्हें सही मानी में 'स्वतन्त्र' कहा जा सकता है।

'गुल की बन्नो' (नाम की मौलिकता के लिए भारती को बधाई दिये बिना मन नहीं मानता) की विशेषता चरित्र-चित्रण है। शहर की गन्दी गली और गली के लावारिस बच्चे, गुलकी, घेघा बुआ, साबुन वाली सत्ती निरमल की माँ इन सबका चरित्र अपने-अपने दायरे से जुदा-जुदा अंकित हुआ है, जो एक साथ मिलकर हमारे नगरों की गलियों में बसने वाले निचले वर्गों के जीवन और उनकी रुचियों, समस्याओं का एक संश्लिष्ट चित्र सामने लाता है। 'ऐ मर कुलमुँहें' की गाली से कहानी का आरम्भ उस समस्त अभिशप्त जिन्दगी का प्रतीक-भाव बन जाता है जिस घूरों की दुनिया में आदमी और पशु, कुत्ते और साथ निकलते गली के बच्चे अस्तित्व के एक ही स्तर पर रहते हैं।

शान्ति मेहरोत्रा की कहानी में 'सिचुएशन' की विशेषता है। जीवन का मोह, ममता और गहरी संवेदना उसके लिए सुलभ है, वह इस कहानी में खूब व्यक्त हुई है। एकाकिनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुढ़िया, जिसका अपने को छोड़कर कोई सम्बल नहीं है, जो हर मानसिक तिनके का सहारा ढूँढती है, जिसका दूभर जीवन काटे नहीं कटता, फिर भी वह उसे मुट्ठी से पकड़े हुए है यह सब विश्लेषण बहुत सच्चा और मर्मभेदी बन पड़ा है। बड़ी सफलता और बारीकी से लेखिका ने अपने 'टाइप' के मन की हालत पकड़ ली है। घर की जिन छोटी-छोटी बातों, काम-काज और आदतों के बीच उन्होंने बुढ़िया का नक़शा खींचा है वह एक गृहिणी ही कर सकती थी। इसलिए उनकी कहानी में पारिवारिकता का अनूठा स्पर्श मिलता है।

रघुवीर सहाय की 'सेब' भी साधारण से काफी अलग कहानी है। उसका शिल्प 'स्केच' का है। मानवीय संवेदना से युक्त उसका वातावरण बड़ा कोमल तथा कारुण्य की हल्की अफ़सुर्दगी और एक प्रकार के अनिर्वच कोरेपन से अनुप्राणित है। कोरेपन का यह मासूम आवरण उसकी करुणा को और गहरा बनाता है। मानवीयता का एक नया ही एंगिल उसमें प्रस्तुत किया गया है :

"मैं अपनी करुणा से परेशान था और उसे मेरी करुणा की आवश्यकता नहीं मालूम हो रही थी।"

"वह हँसा तो नहीं पर ऐसे मुस्कराया जैसे कह रहा हो कि अपनी करुणा का श्रेय लेना चाहते हो तो हमारी व्यथा को क्यों अतिरंजित कर रहे हो।"

"मैं संवेदन ही दे सकता था ... इसलिए मेरे मुँह से निकला 'घबराओ नहीं, ठीक हो जायगी लड़की'। अब सोचता हूँ कि बजाय इसके अगर मैं पूछता 'आज कौन-सा दिन है' तो कोई फर्क न पड़ता।"

क्या चुटीला व्यंग्य है।

इन कहानियों के बाद डॉ० रघुवंश की कहानी 'घाटी का दैत्य' एक सुगठित मनोविश्लेषण से पूर्ण रचना है। विषय तथा सेटिंग नया है, पर मानवता का तीखापन कुछ कम है।

निबन्ध और व्यक्ति-लेखों में सबसे मौलिक और आकर्षक अनन्तकुमार पाषाण का व्यक्ति-लेख 'सड़क बाहर की, भीतर की' है। फ्री-असोसिएशन के टेकनीक से वह लिखा गया है और उसका व्यंग श्रेष्ठ है। वाद-रहित स्वतन्त्र चिन्तन का प्रमाण उसमें है। श्रीलाल शुक्ल का 'स्वर्ण ग्रीम और वर्षा' भी चुटकियाँ-भरा सफल व्यंग्य है। कुट्टिचातन (सम्भवतः : अज्ञेय) का मार्ग-दर्शन मजेदार चीज़ है यद्यपि वह गुदगुदाता है, हँसाता नहीं। विद्यानिवास मिश्र का निबन्ध 'हल्दी, दूब और दधि अक्षत' हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं को अत्यन्त सुन्दर और रोमानी ढंग से प्रस्तुत करता है।

संकलन की शेष सामग्री में केशवप्रसाद मिश्र की कहानी 'कोयला भई न राख', फणीश्वरनाथ रेणु की 'रसप्रिया', डॉ० रांगेय राघव के उपन्यास का अंश 'गाथा', लक्ष्मीकान्त वर्मा लिखित 'खाली कुर्सी की आत्मा', केशवचन्द्र वर्मा का हास्य-लेख 'फलित ज्योतिष और वाहन-योग', भगवतशरण उपाध्याय का 'मूल्यांकन', अजितकुमार के 'डायरी के कुछ पृष्ठ', (जिसकी खास चीज़ सिर्फ यह है कि कविता में संगीत के नये तत्व और अक्षरों की स्वतन्त्र स्थिति की गम्भीर बात करके अन्त में एक समूचे पद्यांश को गद्य की पंक्तियों की तरह लिख दिया गया है), डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल का नाटक 'मैं आइना हूँ', प्रभाकर माचवे तथा शम्भूनाथ सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दो व्यंग्य कविताएँ तथा विपिन अग्रवाल, गंगाप्रसाद पांडेय और बैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा की तीन लघु कथाएँ आती हैं। ये सभी लेखक प्रतिष्ठित और प्रतिभा-सम्पन्न हैं और प्रस्तुत सामग्री से अधिक श्रेष्ठ चीज़ें भी लिखते रहे हैं।

अन्त में हम सम्पादकीय वक्तव्य का विश्लेषण करेंगे। सम्पादकीय की इन स्थापनाओं से मतभेद नहीं हो सकता कि श्रेष्ठता ही साहित्य का मापदण्ड होना चाहिए, मानवीयता तथा नैतिकता ही नये साहित्य का परम मूल्य है और यह कि साहित्य का सौन्दर्य मर्यादा, अनुपात, सन्तुलन, व्यवस्था में निहित है। इन मूल्यों को साहित्य में प्रतिष्ठित करने के लिए ही आज का साहित्यकार यथार्थ से जूझ रहा है और यह भी ठीक है कि साहित्यकार का पाठकों के प्रति गम्भीर दायित्व है, असीम सामर्थ्य और सम्भावनाओं से युक्त 'जन' को उसे अपना श्रेष्ठतम देना है, "झूठे, मिथ्या और कल्पित, आत्मप्रक्षेपित कुहालोक में न भटककर वास्तविक संघर्षों से आँख मिलाना है।" पाठक को या 'जन' को, जो यन्त्र या पशु बनाना चाहते हैं ऐसे प्रतिगामी विचारादर्शों से अलग हटकर मुक्त सृजन करना है।

यहाँ तक यह तर्क और विश्लेषण ठीक है, सर्वमान्य है। पर इन स्थापनाओं से जो निष्कर्ष निकाले गए हैं वहाँ कुछ कल्पना और अतिरंजना का अंश आ गया है। कहा गया है कि अब तक का अधिकांश साहित्य पाठक या 'जन' को बहकाने वाला था, क्योंकि उस अधिकांश के पीछे प्रचारात्मक, उपयोगितावादी, रोमांचक, सेक्सी या पुराणपंथी दृष्टिकोण काम करता था। अब जब इससे दूसरे प्रकार का नया साहित्य सामने आ रहा है तो वे प्रवृत्तियाँ, जो मानव को पशु या यन्त्र बनाना चाहती थीं, जो पाठक को केवल "बचकानी अनुभूतियाँ, पिछले स्तर और सस्ती अभिरुचि के योग्य ही समझती थीं" वे इस नये कृतित्व पर दुरूहता का आरोप करती हैं। सम्पादकीय में यहाँ तर्क यह दिया गया है कि चूँकि आज अनुभूतियाँ अधिक मार्मिक और असाधारण हैं इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी जटिलतर है। इसी कारण श्रेष्ठता, उच्चता के साथ उनमें एक अवश्यम्भावी दुरूहता आ जाती है।

हम नहीं समझते कि दुरूहता ही श्रेष्ठता की कसौटी है और जो श्रेष्ठ साहित्य होता है वह दुरूह होता है। हम यह भी देखते हैं कि इस दुरूहता की आड़ में आज बहुत-सा वाहियात कृतित्व भी सामने आ रहा है जिसमें खामखाह कोई नया दर्शन देने के लिए उछल-कूद, तोड़-मरोड़ की जाती है। हम यह भी नहीं मानते कि असाधारण, मार्मिक और गहरी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति आवश्यक रूप से जटिल होती है। बल्कि इसके विपरीत युगों के महान् साहित्य में जितनी गहरी, मार्मिक और श्रेष्ठ अनुभूतियाँ हमें मिलती हैं वे उतनी ही सहजता और सरलता से व्यक्त की गई हैं। श्रेष्ठ साहित्य का तो लक्षण ही यह है कि वह अत्यन्त जटिल अनुभवों को अत्यन्त सहज और सर्वग्राह्य रूप से व्यक्त करता है, जटिलताओं को पचाकर उसमें से सार्वजनीन सत्य का असल डोरा निकाल लाता है। अपने अन्तिम विश्लेषण में हर बड़े-से-बड़ा सत्य इतना सरल, सहल और आँखों के इतने निकट होता है कि लोग उसे भूले रहते हैं, उसका खयाल ही नहीं करते। वही जब श्रेष्ठ साहित्य के द्वारा उद्भासित होता है तब सहसा लोगों का ध्यान उसकी ओर जाता है और सदा से निकट होने के कारण वह सबको स्वतः ग्राह्य होता है। इसलिए यह कहना कठिन है कि दुरूहता श्रेष्ठता या गहनता ही का लक्षण है, मानसिक उलझाव (Confusion) या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुहासे का नहीं। नये साहित्य की दुरूहता और संगतियों के आलोचक बहुत-से नये-पुराने विचारवान्, स्वतन्त्र चिन्तक भी रहे हैं, जिनके बारे में यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि वे मानव को यन्त्र या पशु बनाना चाहते हैं। फिर यह पाठक कौन हैं? क्या साहित्य में साधारणतः रुचि रखने वाला आम शिक्षित पाठक, विशेषतः दीक्षित पाठकों का एक सीमित वर्ग या स्वयं लेखक ही, जो आज आपस का पाठक है? और यह भी प्रश्न महत्त्वपूर्ण है कि आज कौन पाठक को यन्त्र या पशु बनाना चाहता है। हमें तो ऐसी किसी प्रवृत्ति का भय नहीं दिखता, जो आज जीवित हो या जिसका कोई अस्तित्व ही हो। हमारे साहित्य में जो प्रचारात्मक, अतिवादी, हिंसात्मक प्रवृत्ति थोड़े दिन के लिए आई थी वह कभी की समाप्त हो चुकी है अपनी मौत मर चुकी है और उस प्रवृत्ति के जिन्दा होने के न लक्षण है, न कदापि कोई सम्भावना है। प्रयत्न करने पर भी वह यहाँ न टिक सकी, क्योंकि एक तो उसके पीछे निहित लक्ष्य और स्वार्थों की बहुत जल्दी पोल खुल गई, दूसरे इस देश की आत्मा ने पंक्तिबद्धता, रेजीमेण्टेशन और नफरत के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया, उस वक्त भी स्वीकार नहीं किया था। इसलिए अब उस प्रवृत्ति को अपनी सारी स्थापनाओं का वेध-लक्ष्य बनाना न केवल एक निषेधात्मक (Negative) दृष्टिकोण अपनाना है बल्कि उसे डर का एक मिथ्या भूत खड़ा करना है। हमें सचेत अवश्य रहना है किन्तु एक विकट चीज का बार-बार इतने विस्तार के साथ जिक्र करने से लोगों को व्यर्थ ही यह भ्रम पैदा हो सकता है कि सम्भवतः नये साहित्य की कमजोरियों को छिपाने के लिए एक हेतु दिया जा रहा है, दुर्बलताओं को रेशनेलाइज़ किया जा रहा है। ऐसी ही बातों के कारण लोगों को 'व्यक्तिवादिता' आदि का भ्रम होने लगता है। आज वाद और सम्प्रदाय से सब ऊब चुके हैं और उनसे ऊपर उठकर, केवल मनुष्य रहकर मुक्त और स्वतन्त्र मन से सन्तुलित और समन्वित साहित्य सृष्टि करना चाहते हैं। यह समय की माँग है। ऐसी सूरत में एक निश्चयात्मक (Positive) दृष्टिकोण ही रखना उचित है और यह कहना पर्याप्त है कि नया साहित्य साम्प्रदायिकता, पक्षधरता, पंक्तिबद्धता, रेजीमेंटेशन, नफरत का विरोधी और असीम प्रतिभा और सम्भावना-सम्पन्न 'मनुष्य' मनुष्यत्व तथा मानव-व्यक्तित्व की प्रगति का साथी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिचय

सन्तुलन

लेखक—प्रभाकर माचवे, प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, पृ० १६२, मूल्य २) रु० ।

हिन्दी में आलोचना के नाम पर आज विपुल साहित्य प्रकाश में आ रहा है। किन्तु वास्तव में आलोचना की कोटि में कितना साहित्य आता है, यह विचारणीय है। प्रस्तुत निबन्ध-पुस्तक इस दृष्टि से एक अभाव की पूर्ति करती है। यह तीन भागों में विभक्त की गई है: (१) कला और साहित्य, (२) आधुनिक कविता, और (३) आधुनिक गद्य।

पुस्तक के सर्वोत्कृष्ट निबन्ध हैं— 'कला समीक्षा की कुछ समस्याएँ', 'मर्मी कवियों की विरह-व्यंजना' तथा 'हिन्दी गद्य की कुछ आवश्यकताएँ'। 'कला-समीक्षा की कुछ समस्याएँ' में कला के प्रयोजनों तथा समीक्षा के मानदण्डों पर लेखक ने गम्भीरता से विचार किया है। आज का कलाकार कल्पना-प्रधान होकर मानसिक जगत् में स्वतन्त्र विचरण करने पर भी एक विशेष मर्यादा तक ही उस स्वातन्त्र्य का उपभोग कर सकता है। साथ ही समीक्षक को भी प्राचीन आलोचकों की भाँति वैयाकरण न होकर समाज-शास्त्र तथा मानस-शास्त्र इन दो महत्त्वपूर्ण शास्त्रों से दृष्टि प्राप्त करनी ही चाहिए। इसके अतिरिक्त कला में शैली एवं शिल्प-विधान अधिक मुख्य हैं अथवा वस्तु तत्त्व—इस पर भी विदेशी विद्वानों के मतों को लेखक ने प्रचुरता से उद्धृत किया है। आलोचना के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर भी विस्तार से विचार किया गया है। लेखक को आधुनिक कला-प्रयोगों के प्रति समीक्षक के सहिष्णु होने में आस्था अधिक है। आलोचना रचनात्मक हो, इस बात पर लेखक ने बल दिया है। यद्यपि लेख महान् लेखकों, आलोचकों, मनोवैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों के विचार-संग्रह के कारण बहुत बोझिल हो गया है, फिर भी इसमें विषय का प्रवर्त्तन सुन्दर हुआ है तथा सभी आधुनिक समीक्षा-समस्याओं की ओर संकेत करता है। 'मर्मी कवियों की विरह-व्यंजना' में अँग्रेजी, हिन्दी, मराठी, उर्दू तथा फ़ारसी की रहस्यवादी काव्य-धाराओं की झाँकियाँ देखने को मिलती हैं। सम्यक् रूप से इन सबकी सामान्य प्रवृत्तियों की अन्त में विवेचना भी की गई है। यह लेख बहुत रोचक, उपयोगी और सुन्दर बन पड़ा है। 'हिन्दी गद्य की कुछ आवश्यकताएँ' में हिन्दी के कोष-साहित्य, यात्रा-साहित्य, बाल-साहित्य इत्यादि १८ साहित्यिक विभागों में अभी तक हुए कार्य का संक्षिप्त विवरण तथा उनकी विदेशों में हुए कार्य से तुलना दी गई है। इसके अतिरिक्त उचित दिशाओं की ओर संकेत भी किये गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त 'आधुनिक साहित्य और मनोविकृति', 'मार्क्सवाद और सौन्दर्य-शास्त्र, 'औचित्य क्या ?', 'आलोचना रचनात्मक हो', 'नई हिन्दी कविता में छन्द-प्रयोग', 'नाटक और आधुनिक समस्याएँ', 'उपन्यास में मनोविज्ञान' शीर्षक लेखक पठनीय हैं और साहित्य की वर्तमान समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। शेष निबन्ध साहित्य के विद्यार्थी के लिए उपयोगी हैं। ऐसे लेख या तो विवरणात्मक हैं अथवा सूचनात्मक; जैसे 'आधुनिक साहित्य और चित्र-कला', 'संस्कृत एकांकी के प्रकार', 'भारतेन्दु के नाटकों में सामाजिक परिकल्पना', इत्यादि।

सभी निबन्ध लेखक के विस्तृत अध्ययन का परिचय देते हैं। यद्यपि विदेशी विचारों एवं उद्धरणों का प्राचुर्य है जिससे शैली में बोझिलता अवश्य आ गई है, किन्तु साथ ही अपनी मान्यताओं को भी रखकर लेखक ने दोनों के बीच सन्तुलन स्थापित कर लिया है।

कुछ लेख छोटे, अपूर्ण तथा मात्र सूचनात्मक हैं, जैसे 'छायावाद का भविष्य' इत्यादि। ऐसे लेखों में पत्रकारिता अधिक उभरकर आई है।

कुल मिलाकर पुस्तक संग्रहणीय तथा अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सभी लेख आधुनिकतम साहित्यिक समस्याओं से हिन्दी के पाठक को अवगत कराते हैं। माचवे जी से हिन्दी-संसार भली भाँति परिचित है और यह कृति उनकी मर्यादा के अनुकूल ही गम्भीर और प्रौढ़ है।

प्रूफ की अशुद्धियाँ हैं। छपाई संतोषजनक है। पुस्तक का मूल्य ४) रु० पृष्ठ-संख्या की दृष्टि से अधिक होते हुए भी सामग्री की दृष्टि से क्षम्य है।

—श्याम मोहन

बंगला की आधुनिक प्रेम-कहानियाँ

'सम्पादिका—मृदुला देवी, प्रकाशक—अखण्ड भारत प्रकाशन, कलकत्ता।

इस पुस्तक में बंगला के प्रमुख लेखकों की एक-एक कहानी का अनुवाद दिया गया है—ताराशंकर बन्द्योपाध्याय, प्रबोध सान्याल, वनफूल, मनोज बसु, प्रेमेन्द्र मित्र, अचिन्त्य कुमार सेनगुप्त, विभूतिभूषण मुखोपाध्याय, सुबोध घोष, आशापूर्णा देवी, नरेन्द्र-नाथ मित्र, गजेन्द्रकुमार मित्र, सुमथ-नाथ घोष, वाणी नाथ और देवेशचन्द्र दास। इन नामों में बंगला के करीब-करीब सभी प्रमुख कहानी-लेखकों के नाम आ गए हैं, पर कई लेखकों का, जैसे नारायण गंगोपाध्याय का, न होना खटकता है। फिर सम्पादिका महोदया ने इन्हें प्रेम-कहानियों का नाम क्यों दिया, क्योंकि प्रेम के साथ और भी उपादान तो रहते ही हैं। कई कहानियों में तो प्रेम का कतई कोई सम्बन्ध नहीं है, जैसे प्रबोध सान्याल की कहानी। कदाचित् व्यापारिक दृष्टि से यह नामकरण हुआ है, यह अनुचित है। फिर यह मृदुलादेवी जी कौन हैं ? बंगला-साहित्य में तो इनका नाम कोई नहीं जानता, हिन्दी की भी वह कोई सुपरिचित लेखिका नहीं।

इनका अनुवाद भी सन्तोषजनक नहीं हुआ है। ऐसी सुन्दर कला कृतियों के अनुवाद में और भी अधिक सावधानी बरती जानी चाहिए। फिर भी इन कहानियों से बंगला-कहानी-साहित्य की उच्चता का ज्ञान पाठकों को हो जायगा। ऐसे संग्रह और प्रकाशित होने चाहिएँ, और हिन्दी के कहानी-लेखकों का भी एक संग्रह बंगला में प्रकाशित हो। इस काम को कलकत्ता के प्रकाशक ही कर सकते हैं।

—मन्मथनाथ गुप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अभियान', 'बदलता युग' और 'अन्तराल'

(१) अभियान—प्रकाशक—श्री श्यामस्वरूप जैन, ३१, गोलकुण्डा, इन्दौर (मध्य भारत)।

(२) बदलता युग—प्रकाशक—श्री दीनानाथ बुक डिपो, खजूरी बाजार, इन्दौर।

(३) अन्तराल—प्रकाशक–युवक साहित्यकार संघ, धार (मध्य भारत)।

ये तीनों श्री महेन्द्र भटनागर की कविताओं के संग्रह हैं। 'अभियान' और 'बदलता युग' के स्वर प्रायः एक ही हैं। दोनों में मार्क्सवादी विचार-धारा को भावोत्तेजक परिवेश देने का जो प्रयत्न किया गया है उससे काव्य के स्वाभाविक गुण, रागात्मकता का प्रभाव क्षीण पड़ गया है। किन्तु 'अन्तराल' में कवि अपनी सहजता और स्वाभाविकता के कारण अभिप्रेत को संवेदित कर सकने में सफल हो सका है।

'अभियान' में कुल छत्तीस कविताएँ हैं। नौ प्रशस्तियों (१ प्रेमचन्द, २ तुलसीदास, ५ गांधीजी तथा १ बलिया पर) को छोड़कर शेष अन्य कविताओं में कवि ने सामाजिक व्यवस्था, वर्ग-विद्वेष, शोषण तथा पराधीनता के प्रति क्रान्तिकारी 'अभियान' के लिए आह्वान किया है। इन सबका मन पर व्यापक प्रभाव नहीं पड़ता। सम्भवतः इसीलिए कि लेखक ने यथार्थ के प्रति रागात्मक अनुभूति न जगाकर आवेशपूर्ण भाषण को छन्दोबद्ध कर दिया है। 'मशाल', 'बंधन मुक्त', मृत्युदीप', 'अन्तर ज्वाला', 'प्रलय-संगीत' आदि अधिकांश कविताएँ इसी कोटि की हैं। रूप-विधान की दृष्टि से 'खेतिहर', 'खेतों में', और 'अभियान' में कुछ नवीनता नाटकीय तत्त्व भरने के कारण मिलती है। छन्द में गति-भंग का दोष अधिकांश कविताओं में है। एक बात जो आकर्षित करने वाली है वह है कवि की अपनी आस्था के प्रति ईमानदारी। जिस भी विषय-वस्तु को लेखक ने ग्रहण किया है उसमें ओज और उसके शक्तिपूर्ण विश्वास का बल दिखलाई पड़ जाता है।

दूसरे संग्रह 'बदलता युग' में भी वही आवेश है, किन्तु कुछ परिमार्जित रूप में। इसमें कवि की अनुभूति का क्षितिज अधिक व्यापक हो गया है। कुल बयालीस कविताओं में अनेक कविताएँ; यथा 'बंगाल का अकाल, 'नौसैनिक विद्रोह', 'साम्प्रदायिक दंगे', 'आजाद मस्तक को उठा लेता', 'दमित नारी', 'साम्प्रदायिक विष', 'हम एक हैं', आदि ऐसी हैं जिनका महत्त्व इसीलिए है कि कवि का मानस अपने युग में गुजरने वाली, सामाजिक परिस्थितियों से स्पन्दित होता रहा है; ऐसा नहीं कि उसने जन-जीवन से अपनी आँखें बदली थीं; किन्तु इनमें कुछ ही ऐसी हैं जो सन्तुलित पाठक के मन को छू सकें। जहाँ कहीं भी कवि ने मानवीय तत्त्वों को स्पर्श किया है उसकी वाणी मर्मस्पर्शी हो उठी है।

इन दोनों काव्य-संग्रहों की अपेक्षा श्री महेन्द्र भटनागर का कवि 'अन्तराल' में कहीं अधिक प्रसन्न और विकसित रूप में सामने आता है। लगता है जैसे एक लम्बे अन्तराल के बाद कवि के मस्तिष्क से विचार और वादों की घटाएँ फट गई हों और उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व अपने वास्तविक रूप में उदित हो उठा हो। इसमें न तो पूर्वग्रही विचारों के प्रति आग्रह ही है, न सीमित विषयों का बन्धन ही। आशा-निराशा, प्रणय, प्रभृति आदि क्षेत्रों में कवि ने प्रवेश किया है और स्वानुभूत स्पर्शों को मार्मिकता के साथ व्यक्त करने का प्रयास भी। जहाँ एक ओर प्रणय के बीच कवि आशा-निराशा, आनन्द और अश्रु के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच मुखरित हुआ है, वहीं दूसरी ओर प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित किया है। 'तुम्हारी माँग का कुंकुम', 'याद', 'उन्मेष', तथा 'ढलती रात', 'प्रभात की हवा', 'घटाएँ', 'जल वृष्टि' आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। इन सभी में रागात्मकता और आत्म-निवेदन की प्रमुखता है। विद्वान् भूमिका-लेखक श्री विनयमोहन शर्मा के इस कथन से "अन्तराल का कवि जब आत्म भाव से आहत होता है तब वह छायावादी शैली को अपनाता है, और जब वह अपने से बाहर झाँकने लगता है तब उसमें स्वच्छन्दता आ जाती है। जहाँ तक सम्भव हुआ है उसने अपने को छायावादी कुहासे से सर्वथा बचा लिया है।" अधिक असहमत नहीं हुआ जा सकता। रुचि-स्वातन्त्र्य कवि-व्यक्तित्व की कसौटी है। इस दृष्टि से भटनागर जी अपने को पल्लवित कर सकें तो उत्तम हो। प्रस्तुत काव्य-संग्रह को देखकर हम भटनागर जी से भविष्य में काफी आशावान हैं।

—हरिमोहन

पुनरुद्धार

लेखिका—श्रीमती कंचनलता सब्बरवाल; प्रकाशक, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली; मूल्य ३); पृष्ठ संख्या : १६८।

ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुशानों को परास्त करके भारशिवों ने हिन्दू-राज्य की स्थापना की थी। इस सम्बन्ध में काशी-प्रसाद जायसवाल के अनुसन्धानों के आधार पर कुछ सूत्र-संग्रह करके लेखिका ने 'पुनरुद्धार' की रचना की है। इस उपन्यास का ऐतिहासिक आधार बहुत क्षीण है। लेखिका ने स्वयं कहा है।

"नवनाग और वीरसेन के अतिरिक्त सब ही पात्र काल्पनिक हैं। घटनाओं में से भारशिवों का मध्य प्रदेश की पहाड़ियों से घिरे इलाके में लगभग पचास वर्ष तक अज्ञात-वास करने और लगभग १४० ई० के आस-पास उत्तराखण्ड में आकर कुशानों को परास्त करके अपना साम्राज्य स्थापित करने तथा अश्वमेध यज्ञ करने के अतिरिक्त सब ही काल्पनिक हैं।"

इन थोड़े-से ऐतिहासिक संकेतों के आधार पर लेखिका ने कल्पना द्वारा उपन्यास गढ़ा है। मुख्य कथा में चन्द्रभाल और विशालाक्षी के बिछोह को लेकर लेखिका ने उपन्यास में मार्मिकता उत्पन्न की है। विशालाक्षी की मृत्यु के पश्चात् चन्द्रभाल को लेकर ही भावनाओं के आधार पर कथा आगे बढ़ती है। यहाँ लेखिका नये ढंग का भावनात्मक वातावरण प्रस्तुत करती है। अन्य छोटी-छोटी घटनाएँ भी जोड़ी गई हैं, जो उपन्यास की रोचकता को बढ़ाती हैं।

शिव और राष्ट्र के प्रति अन्ध-विश्वास तथा कर्त्तव्यनिष्ठा ही उपन्यास के पात्रों की प्रेरक शक्ति है। हिन्दू धर्म और हिन्दू राष्ट्र की स्थापना की भावना ही सारे उपन्यास में छाई हुई है।

उपन्यास में उस काल की सामाजिक परिस्थिति के चित्रांकन का प्रयत्न नहीं है। जो चित्र उपस्थित किये गए हैं वे भी कल्पनाधृत हैं। लेखिका ने कुशानों से मिलकर बौद्ध-धर्मावलम्बियों के राष्ट्रद्रोही होने की जो कल्पना की है वह अनैतिहासिक है। इसके लिए प्रसिद्ध बौद्धभिक्षु बुद्धघोष के गुरु महास्थविर पर हत्या और जालसाजी के जो आरोप लगाये गए हैं वे निर्मूल ही नहीं अनुचित भी हैं। पश्चिम भारत में बौद्ध-धर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्रासावस्था को प्राप्त हो चला था; परन्तु उसके कारण भिन्न थे। ऐसे आरोप सुधर पाठक को खटकते हैं, क्योंकि इनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।

इस प्रकार उपन्यास कहने भर को ऐतिहासिक है। पात्र और घटनाएँ तो कल्पित हैं ही; इसमें व्यक्त भाव-विचार और वातावरण को भी अनैतिहासिक ही कहना चाहिए।

—शिवनाथ

अवधी और उसका साहित्य

लेखक—डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित एम० ए०, पी-एच० डी०। प्रकाशक—सरस्वती सहकार, दिल्ली की ओर से राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या १४०, मूल्य २) रुपये।

श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' के सम्पादन में सरस्वती सहकार, दिल्ली ने प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय भाषाओं का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित करने का जो आयोजन किया है वह नितान्त स्पृहणीय है। हिन्दी में यह प्रथम प्रयास है। इस प्रकाशन के द्वारा एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो रही है। इस ग्रन्थ-माला में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी माला का एक प्रसून है।

इस ग्रन्थ के लेखक हैं डॉ० त्रिलोकी-नारायण दीक्षित एम० ए०, पी०-एच० डी० जिन्होंने सन्त-साहित्य का प्रचुर अध्ययन किया है। प्रस्तुत पुस्तक में नौ अध्याय हैं, जिनमें अवधी भाषा, काव्य, छन्द, मुहावरे और लोकोक्तियों का वर्णन किया गया है। अवधी भाषा के अन्तर्गत विद्वान् लेखक ने इस भाषा की उत्पत्ति, क्षेत्र और विस्तार, विभिन्न बोलियों तथा उनके विभिन्न रूपों का उल्लेख किया गया है। इस भाषा की तीन बोलियों—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी का नाम-निर्देश तो किया गया है परन्तु इनके नमूने नहीं दिये गए हैं। यदि इन तीनों के नमूने दे दिये जाते तो इनके भेद को समझने में पाठकों को बड़ी आसानी होती। अवधी का संक्षिप्त व्याकरण, जो नवें अध्याय का विषय है, यहीं दे दिया गया होता तो अच्छा होता। 'अवधी काव्य' इस पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसमें लेखक ने वीरगाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक अवधी कविता की उत्पत्ति और विकास की कथा का बड़े सुन्दर तथा संक्षिप्त रूप से वर्णन किया है। अवधी के सन्त कवियों का विवरण प्रस्तुत करते हुए लेखक ने धरनीदास को भी—जिनका जन्म बिहार के छपरा जिले में हुआ था—अवधी का कवि माना है। परन्तु यह मत चिन्त्य है। धरनीदास जी भोजपुरी भाषा के कवि थे। उनकी कृतियों में कुछ अवधी 'क्रिया पदों के प्रयोग' मिलने से ही उन्हें भोजपुरी से घसीटकर अवधी में लाना कहाँ तक उचित है इसे दोषज्ञ पाठक भली-भाँति समझ सकते हैं।

डॉ० दीक्षित ने आधुनिक कवियों—जिनमें पं० बलभद्र प्रसाद दीक्षित 'पढ़ीस', पं० वंशीधर शुक्ल और पं० चन्द्रभूषण त्रिवेदी 'रमई काका'—मुख्य हैं—का कुछ विस्तार के साथ वर्णन करके इनके साथ बड़ा न्याय किया है। लोक-कवियों की इस त्रयी ने आधुनिक काल में अवधी के प्रति लोक-रुचि को जाग्रत करने में बड़ा काम किया है। 'रमई काका' की कविताओं के उदाहरण सुन्दर दिये गए हैं परन्तु उनकी प्रतिनिधि स्वरूप, लोकप्रिय कविता 'धोखा होइगा' को न पाकर कुछ निराशा होती है। 'अवधी लोक-गीत साहित्य' का वर्णन समुचित रीति से नहीं हुआ है। इसे कुछ अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पल्लवित करने की आवश्यकता थी। आशा है अगले संस्करण में इन बातों का ध्यान रखा जायगा। इस पुस्तक को प्रस्तुत करने के लिए लेखक बधाई का पात्र है। आशा है इस ग्रन्थ का समादर हिन्दी-जगत् करेगा।

—कृष्णदेव उपाध्याय

मीठी कसक

लेखक—उमाशंकर शुक्ल, एम० ए०, प्रकाशक—जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता, मूल्य १॥), पृष्ठ-संख्या १६६।

'मीठी कसक' में लेखक की इक्कीस कहानियाँ संग्रहीत हैं। यह लेखक का प्रथम प्रकाशन है। इसलिए उसकी कुशलता कहीं कम, कहीं बेशी मात्रा में प्रकट हुई है।

कहानीकार ने अधिकतर समस्याओं को मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही ढूँढ़ा है और मानसिक स्तर पर ही उनको सुलझाने का प्रयत्न भी किया है। पात्रों के मन में उठे हुए भावों को, विचारों के द्वन्द्व को प्रभावपूर्ण शैली में व्यक्त किया है। कुछ कहानियों में (मानवता, आजादी, इन्सानियत की लाश में) वह समस्याओं को सामाजिक स्तर पर भी देखता है।

कहानीकार का सबसे उज्ज्वल पक्ष वहाँ व्यक्त हुआ है जहाँ वह जीवन में देखी हुई घटनाओं और सामने आने वाले व्यक्तियों की बातें हमारे सामने सहृदयता पूर्वक रखता है। ऐसे स्थलों पर कहानी अथवा उसका एक भाग स्केच का रूप ले लेता है। लेखक रोचक ढंग से व्यक्ति की बारीकियों को बताता चलता है। गाँव का मेला, समस्या, मेरे बाप की माँ, मंजु ऐसे ही रेखाचित्र हैं। इन्हें लेखक की सजग दृष्टि ने खोजकर कहानी में सँजोया है। इन कहानियों के पात्र सजीव हो उठे हैं।

कहानियों के कथानक विभिन्न सामाजिक स्तरों से लिये गए हैं; परन्तु उनमें गाम्भीर्य और और विस्तार नहीं। अनेक स्थलों पर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से असन्तोष प्रकट हुआ है। एक वर्ष, मानव, भेंट का आधार वहीं विक्षिप्ति है। पर सामाजिक सम्बन्धों की भूमिका छोटे-से क्षेत्र में सीमित हैं। चौदह कहानियाँ प्रेम कथाएँ अथवा उनका एक रूप है। पर लेखक में समस्या के यथार्थ के स्तर पर जूझने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। यह भावना 'बुजदिल' और 'भेंट' में स्पष्ट रूप से उभरी है। कहानीकार कहीं भी समस्याओं के निवारण अथवा उनके वास्तविक कारण को खोजने के लिए उत्सुक नहीं है।

इनमें पात्रों को समस्याओं से दूर कोरी शून्यता में ले जाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। ऐसी कोरी कल्पना-कहानियों की कमजोरी है। बार-बार एक ही कारण द्वारा उत्पन्न विषाद से पाठक ऊब जाता है।

हम आशा करते हैं कि लेखक और निकट से जीवन को देखकर उसके दर्द को, उसकी समस्याओं को समझने का प्रयत्न करेगा। तब वह "अपना दर्द कम करने के लिए" ही नहीं, दूसरों का दर्द दूर करने के लिए भी लिखना सीखेगा। कल्पना और भावना के संयत प्रयोग में ही साहित्य की सम्भावनाएँ निहित हैं।

—शिवनाथ

हिन्दी के आलोचक

हिन्दी-समीक्षा का व्यावहारिक पक्ष निरन्तर जिस द्रुत गति से बढ़ रहा है उसे देखकर लगता है कि अमर बेल की तरह साहित्य-पादप को आवृत करके कहीं उसकी रक्तवाहिनी शिराओं को निस्पन्द न बना दे! समीक्षा के शास्त्रीय पक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर तो अभी अनधिकारियों की कलम नहीं उठी है किन्तु पिष्टपेषण का व्यापार वहाँ भी शुरू हो गया है। किसी भी कला-कृति की परख या मूल्याङ्कन का जन्मसिद्ध अधिकार मानकर आलोचना लिखने वालों की आज हिन्दी में कमी नहीं। आज किसी रचना के सम्बन्ध में चार सतरें लिखकर आलोचक कहलाने का आकांक्षी रहता है। फलतः हिन्दी में शताधिक आलोचकों का रेवड़ तैयार हो गया है। कदाचित् इस बात का अनुभव करके श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने 'हिन्दी के आलोचक' नाम से कतिपय विशिष्ट अधिकारी आलोचकों का परिचय कराने के लिए सवा चार सौ पृष्ठों के इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ में जो ग्रथित नहीं हुए वे आलोचक नहीं—ऐसा तो सम्पादिका का भी अभिमत नहीं, किन्तु जो 'बिंध गया सो मोती, रह गया सो पत्थर' की बात स्वतः सिद्ध है।

'हिन्दी के आलोचक' पुस्तक में द्विवेदी युग से लेकर आधुनिक काल तक के आलोचकों को स्थान मिला है। इन आलोचकों की अभिरुचि, शैली आदि का परिचय कराने के लिए विभिन्न विद्वानों के स्फुट लेखों का संकलन करके सम्पादिका ने यह पुस्तक तैयार की है। बत्तीस लेखों के अन्तराल में लगभग पचास विविध कोटि के आलोचकों को समेटा गया है। मुख्य आलोचक—जिन पर स्वतन्त्र लेख हैं, उन्नीस हैं। मनोविश्लेषक आलोचकों पर दो लेख हैं, जिनमें तीन लेखकों पर प्रकाश डाला गया है। प्रगतिशील आलोचकों में से छः का चयन किया गया है, जिनमें 'दिनकर' और भगवतशरण उपाध्याय भी हैं। फुटकर आलोचकों में जिन चौदह रत्नों को चुना है उनका परिचय नितान्त स्कैची और एकाङ्गी है। हिन्दी के इतिहास-लेखक आलोचकों पर भी एक लेख है किन्तु उनके आलोचक रूप की विवृति लेखक नहीं कर सका है। 'शास्त्रीय आलोचकों' पर एक बड़ा प्रबन्धात्मक कोटि का लेख है जिसमें लेखक ने पर्याप्त सूचनाएँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'हिन्दी में शोध-कार्य' लेख में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अनुसन्धानपरक प्रबन्धों का नाम परिगणन कराया है। प्रबन्धों की विवेचना का अभाव खटकता है। 'तुलनात्मक समालोचक' लेख भी अधूरा-सा तथा अपने क्षेत्र का अवगाहन कराने में सर्वथा असमर्थ है। 'हिन्दी के भाषा-वैज्ञानिक आलोचक' लेख में कतिपय भाषा-वैज्ञानिकों का परिचय है। भाषा-विज्ञान और आलोचना का बादरायण सम्बन्ध स्थापित करके ही इस लेख को पुस्तक के कलेवर में रखने का साहस सम्भव है।

'हिन्दी के आलोचक' को पढ़कर हिन्दी के बड़े-छोटे जिन पचास समालोचकों का परिचय मिलता है वह उनके सर्वाङ्गपूर्ण कृतित्व का आभास न देने पर भी शैली-संकेत की दृष्टि से पर्याप्त है। संकलन तैयार करते समय भारतेन्दु युग के आलोचकों को दृष्टि में रखकर एक लेख प्रारम्भ में होता तो आधुनिक युग के आलोचकों का खाका पूरा हो जाता। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की आलोचना-पद्धति का उल्लेख हिन्दी-आलोचना में होना अनिवार्य है। विशिष्ट आलोचकों के चयन के सम्बन्ध में सम्पादिका ने अपने निवेदन में जो लिखा है उसे हृदयंगम करके भी हम उनका ध्यान हिन्दी के उन लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं जिनका नामोल्लेख इस संकलन में नहीं हुआ। श्री डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', पं० कृष्णशंकर शुक्ल, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० रामरतन भटनागर और पं० सीताराम चतुर्वेदी ऐसे व्यक्ति हैं जिनका किसी प्रकार भी हिन्दी के आलोचक-वर्ग से बहिष्कार नहीं किया जा सकता। पं० कृष्णशंकर शुक्ल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो आचार्य शुक्ल जी की परम्परा के बड़े सुलझे हुए समर्थ आलोचक हैं जिनका कलम थामकर बैठ जाना हिन्दी-साहित्य का दुर्भाग्य है। अन्य चारों विद्वान् लेखकों ने भी समीक्षा के शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों के पुष्ट करने में अपना अमित योग दिया है। ऐसे उपयोगी संकलन में इस कोटि के आलोचकों को स्थान न मिलना प्रमाद ही कहा जायगा। यह ठीक है कि आलोचकों के चयन में सम्पादिका का अपना विवेक ही प्रमाण रहा है, फिर भी उनका दायित्व तो साहित्य के प्रति है।

सम्पादिका को इस संकलन की त्रुटियों का ज्ञान है और उन्होंने अपने निवेदन में चयन-सम्बन्धी बात का संकेत करते हुए सुझाव भी चाहे हैं। विश्वास है कि पुस्तक को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिए हमारे उपर्युक्त संकेत सुझाव का काम देंगे।

—विजयेन्द्र स्नातक

पुस्तकालय
२४५८०
गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकमल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar